प्रकाशक :
परमहंस स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती,
परमार्थ निकेतन,
स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)।

द्वितीयावृत्ति—१००० प्रतियाँ

सम्वत्—२०२८

मूल्य—५-५० पै०

संशोधक, सम्पादक एवं मुद्रक—
देवेन्द्र विज्ञानी,
विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (उ०प्र०)।

# गोविन्द-षोडशी

[ विचार तथा धारण करने योग्य षोडश-मन्त्र ]



१—यह प्रश्न और इसकी पूर्ति का साधन तो सभी करते हैं कि 'मेरा क्या है ?' किन्तु ऐसे लोग बहुत ही कम होंगे जो इस प्रश्न को हल करना चाहते हों कि 'मैं कौन हूँ ?'

२—यदि 'मैं' से नाना प्रकार के विशेषण व उपाधियाँ हटा दी जायं. तो 'तू' वही है जो सर्व है।

३—जो व्यक्ति अपना मूल्य आप घटा देता है, उसका अधिक मूल्य कोई नहीं दे सकता। अपना वास्तविक मूल्य 'ब्रह्मत्व' है।

४—आत्मा से बढ़कर दूसरा कोई 'सत्य' नहीं और आत्म-साक्षात्कार से बढ़कर दूसरा कोई 'आनन्द' नहीं।

५—मोक्ष, आत्मा, ईश्वर किसी भी साधन से साध्य नहीं, क्योंकि वह स्वयं आप ही है।

६—जो 'आनन्द' किसी विषय या साधन के पराधीन है, वह वास्तविक आनन्द नहीं है।

७ भावों से ही मनुष्यों की शक्तियों का विकास अथवा विनाश होता है।

८—ईश्वर व जगत् को अपना आत्मा समझना ही बोध या मोक्ष है।

९—ब्रह्मादि सारे देवता ऐसे पुरुष की वन्दना करते हैं जिसका ज्ञान व अभ्यास एक हो।

१०—मनुष्य ठीक उसी परिमाण में महान् बन सकता है, जिस परिमाण में वह मानवमात्र के कल्याण के लिये श्रम (साधन) करता है।

११—पत्थर की जो चट्टान निर्बल व्यक्तियों के मार्ग का रोड़ा बनती है, वही शक्तिशाली (बुद्धिमान्) के लिये सफलता की सीढ़ी बन जाती है।

१२—भाग्य के भरोसे रहना आलस्य व असफलता को निमन्त्रण देना है।

१३—हे मनुष्य! जैसा तू औरों से अपने लिये चाहता है, वैसा ही तू औरों के साथ कर।

१४—संसार इतना सम्पन्न (पूर्ण) नहीं है जो हमारी अभिलाषाओं को पूर्ण कर सके, क्योंकि इसकी स्थिति हमारे संकल्प में है। स्वप्न-सृष्टि क्या कभी स्वप्नद्रष्टा की कमी पूरी कर सकती है?

१५—जो व्यक्ति पदार्थों, विषयों, इच्छाओं का दास है, वह उनका स्वामी कभी बन नहीं सकता।

१६—प्रारब्ध अज्ञानियों के आंसू पोंछने का एक पुराना रूमाल है।



# विषय-सूची





# प्राक्कथन



शरीर स्वभाव से ही दुःखों की चौपाल है। जब भूल से उसको अपना आपा मान लिया जाता है, तब उस शरीर के जितने भी दुःख एवं आवश्यकतायें हैं, भौतिक होने से उसकी जितनी भी टूट-फूट होती हैं,—वे सब अपनी ही समझ ली जाती हैं। ये टूट-फूट कभी पूरी-पूरी हट नहीं सकतीं, इसी से हमारे दुःख कभी भी,—अनादि काल से आज तक, हट नहीं सके। शरीर, इन्द्रियों और मन की इस दुःखाभाव की मांग में हम अपनी 'हाँ में हाँ' मिला देते हैं,—इनकी मांग को अपनी मांग समझ लेते हैं।

जैसे भौतिक मकानों की टूट-फूट न होना असम्भव बात है, इसी प्रकार इनमें दुःखाभाव का हो जाना भी एक अनहोनी बात ही है। इन शरीरों का कोई-न-कोई कल-पुर्जा तो बिगड़ता ही रहेगा। हम अपनी मूर्खता से इसी अनहोनी बात के लिये आँख बन्द करके उद्योग किया करते हैं और असफल होते जाते हैं। दुःखों का अभाव कर ही नहीं पाते, क्योंकि दुःखाभाव का तो यह मार्ग ही नहीं है। तब से अभी तक भी सुख न मिलने का कारण तो यह होता है कि जो वस्तु जहां है ही नहीं, उसको वहीं खोजा जाता है तथा जहां वह है, वहां उसके विषय में पूछताछ तक नहीं की जाती।

बेचारे गरीब विषयों के पास सुख है ही कहां कि वे दे सकें ? जिसके पास जो नहीं है, उससे मांगना तो मांगने वाले की ही मूर्खता है। इसी मूर्खता का दण्ड दुःख के रूप में हम सब को भोगना पड़ता है। विषयों की गठरी में तो सुख के मुलम्मे में दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। जब उनसे सुख मांगा जाता है, तब वे बेचारे अपनी गठरी से निकाल कर, दुःखों को ही सुख बता कर, दे देते हैं और अपनी बेसमझी के कारण हमे सुख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ जाते हैं।

इस प्रकार हम दुःखाभाव भी नहीं कर पाते और सुख भी हमे नसीब नहीं होते। तब क्या नित्य-सुख नाम की कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं ? इसका उत्तर अध्यात्म-शास्त्र यह देते हैं कि सुख तो आत्मा का ही दूसरा नाम है। कस्तूरी-मृग जैसे अपनी ही कस्तूरी को तलाश करता फिरता है, वही मज़ाक हमने अपने ही इस सुख के साथ कर रक्खा है। फिर बतलाइए कि वह हमे विषयों में से क्यों कर मिल सकता है ?

सुख जब विषयों की ओढ़नी ओढ़कर आता है, तब भी वह दुःख मिश्रित सुख ही होता है। विषयों के द्वारा आने वाले इस सुख का नाम 'विषय-सुख' हो जाता है। जब यह सुख बिना आवरण के, बिना किसी माध्यम या बहाने के, बे रोक टोक होकर, नदी की बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता है, नींद की तरह आक्रमण करता आता है,—तब इसी को 'केवल सुख' किंवा 'आत्मानन्द' कहते हैं।

'केवल सुख' कैसे प्राप्त किया जाय ? निरावरण, निर्व्याज, अखण्ड और निरापद आनन्द को कैसे पायें ? इसका उत्तर देना,—इसकी प्रक्रिया बताना ही 'राजयोग' का मुख्य काम है। उसी राजयोग पर श्री स्वामी गोविन्दानन्द सरस्वती ने 'न भूतो न भविष्यति' (न हुआ, न होगा) जैसा यह 'विवेक-दर्शन' नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है।

यद्यपि संस्कृत-ग्रन्थों में इस तत्त्व का विशद वर्णन है, परन्तु क्लिष्ट होने के कारण सर्वसाधारण का उसमें प्रवेश नहीं हो पाता। आत्मा के सुखरूप तक पहुँच सकने की प्रक्रिया को समझाते हुए राजयोग का इतना मार्मिक, सरल, स्पष्ट और अनुभवपूर्ण वर्णन किया है कि पाठकों को इस वर्णन में अनोखी, सरल और नवीन-नवीन युक्तियों से अपनी ही दिन-चर्या लिखी हुई मालूम होने लगती है। उसे यह अपनी ही जन्म-गाथा का उल्लेख अथवा अपने ही विचारों का संकलन प्रतीत होता है।

राजयोग कितना स्वाभाविक है, यह इसको भली प्रकार देखने से समझ में आ जायगा। गीता में जो राजयोग को 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' करने में आसान से भी आसान बताया है, वह भी इसको देखकर मान लेना पड़ेगा। इसके पढ़ते-पढ़ते ही मन्त्र और औषध से बद्धवीर्य सांप की तरह पाठकों का मन बड़ी अद्भुत अवस्था में जा पहुँचता है। वह कभी खड़ा हो जाता है तो कभी स्तब्ध हो जाता है।

ज्ञान में कितनी मस्ती होती है? 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'—ज्ञान होने पर कर्मों का पूर्ण विराम कैसे हो जाता है? सो इसको पढ़ने से ही अनुभव में आ जायगा। राजयोग के प्रभाव से किस प्रकार ज्ञानी का दृष्टि-विपर्यय हो जाता है? फिर वह संसार को कैसे दूसरे पहलू से देखने लग पड़ता है? ज्ञान किस तरह उसे भूत बन कर चिपट जाता है? उसे किस अद्भुत ढंग से असंग रहना आ जाता है? वह कैसे अन्त शीतल हो जाता है? वह कैसे जागता हुआ भी होश की नींद सो लेता है? वह कैसे अखण्ड ज्ञान-दीपक जलाकर सर्वभाव से उसी की सेवा में मग्न हो जाता है? वह इच्छारूपी कूड़े से ढके हुए सच्चिदानन्द को कैसी कैसी प्रभातियाँ गाकर जगा लेता है? अनुभव हो जाने पर साधक को कैसा सात्विक गर्व आता है?—यह सब कुछ इस पुस्तक में देखने को मिलेगा।

इस 'विवेक-दर्शन' नामक अपूर्व ग्रन्थ को श्री स्वामी जी ने भक्तों के विशेष आग्रह से, उन पर द्रवित होकर, लिखने का कष्ट किया है। उनके इस विशेष कष्ट के लिये आध्यात्मिक संसार उनका आभारी है। ऐसे ही महान् पुरुषों से समय-समय पर सर्वसाधारण को प्रेरणा मिलती रहती है और मिलती रहेगी।

—एक सन्त

# द्वितीयावृति के विषय में



यह 'विवेक-दर्शन' नामक पुस्तक छपने से प्रथम सन् १९६२ में वेदान्त की 'अद्वैत-दर्शन' पुस्तक छपी थी जो वेदान्त के जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। लोगों ने उसे बहुत ही पसन्द किया, यहाँ तक कि एक साल के भीतर ही सभी पुस्तकें समाप्त हो गईं। लोगों की माँगें बढ़ती गईं और एक साल तक पुस्तक की मांग के नित्यप्रति लगभग १०-१५ पत्र आते रहे। बहुत से सत्सङ्गी आग्रह करते रहे कि इस पुस्तक की दूसरी आवृति शीघ्र छपाई जाए। इसके अतिरिक्त प्रथम मुद्रित 'अद्वैत-दर्शन' का आधा भाग अमुद्रित ही पड़ा था। उसी 'अद्वैत-दर्शन' के मुद्रित तथा अमुद्रित दोनों भागों को और अधिक संशोधित एवं परिमार्जित करके यह 'विवेक-दर्शन' पुस्तक छपी है जो आपके हाथों में है।

इस पुम्तक में जिन-जिन विषयों पर भी विचार किया गया है, स्वतन्त्रतापूर्वक, युक्ति, अनुभव एवं शास्त्रोक्त ढग से ही किया गया है। इसमे पुरानी रूढ़िवादी अन्ध परम्परा को प्रधानता नहीं दी गई अर्थात् जिसका भावार्थ (तात्पर्य)

युक्ति, अनुभव की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता उसको अधिक महत्व नहीं दिया गया। प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय में युक्ति, अनुभव एवं सत्य को ही प्रधानता दी गई है।

मनुष्य की बुद्धि आवृत होकर कूप-मण्डूक क्यों बन जाती है? इसलिये कि जो कुछ वह जानता एवं मानता है, उस पर साम्प्रदायिक पक्षपात, दुराग्रह तथा अन्ध-परम्परा के कारण रूढ़िवाद के संस्कार जम गये हैं। अतः कोई यथार्थ, सत्य, युक्तियुक्त अनुभूत बात भी उसकी भावना एवं मान्यता के विरुद्ध हो तो वह उसे सुनने, पढ़ने, मानने के लिये तैयार नहीं होता। यदि मनुष्य उदारतापूर्वक अपनी मान्यताओं से भिन्न दूसरी बातों को भी सुनने और समझने लग जाय तो उसकी बुद्धि पहिले की अपेक्षा अत्यधिक जागृत होकर विकसित हो सकती है। इस पुस्तक में इस प्रकार के विचार प्रस्तुत किये गये हैं जिन से बुद्धि विकसित हो और ऐसी पुरानी अन्ध-परम्पराओं एवं मान्यताओं से छुटकारा मिले जो सत्य के अनुभव में बाधक एवं घातक हैं ताकि उसमें सत्य का प्रकाश हो।

उदाहरणार्थ श्री हनुमान जी को चाहे कितना भी विद्वान्, विवेकी, योगी, ज्ञानी, अनन्य-भक्त, महाशक्तिशाली आदि विभूतियों से विभूषित किया जाय, पर रूढ़िवादी अन्धविश्वासियों को तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक कि उन के पीछे लम्बी पूँछ न लगा दी जाय और मुख बन्दर जैसा न

बना दिया जाय। बहुत से सज्जन श्री हनुमान जी पर लंका जलाने का आरोप लगाते हैं कि यदि वे ऐसे शुभ लक्षणों से सम्पन्न थे तो लंका क्यों फूँकी जिसमें हजारों-लाखों नर-नारी, बच्चे, पशु-पक्षी भस्मीभूत हो गये ? क्या यह देवताओं के लक्षण है ?

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हनुमान जी विवेक के रूप हैं जो कल्याण के सभी साधनों का शिरोमणि प्रधान साधन है। अज्ञानी अभिमानी का अन्तकरण ही लंका है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, ईर्ष्या. राग-द्वेष, अशान्ति, इच्छायें आदि ही उस में निवास करने वाले असुर हैं। जिस मुमुक्षु-जिज्ञासु के अन्तःकरण में सम्यक् विवेक का उदय होता है, उसी के अन्त.करण में ज्ञान की अग्नि लग जाती है। अन्तःकरण के जितने भी दुःखदाई, विक्षेपयुक्त, बन्धनकारी दोष, दुर्गुण, आधि-व्याधि, उपाधि हैं, सभी जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं। तब अन्तःकरण निर्दोष, शुद्ध, पवित्र, शान्त, परम सात्विक हो जाता है और उसी में अहं-आत्मरूप से पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। इस पुस्तक के 'वास्तविक सिद्धान्त' शीर्षकान्तर्गत विवर्तवाद की परिभाषा के कुछ अंश यहां प्रस्तुत किये जाते हैं जो विवेक भगवान् अर्थात् श्री हनुमान जी का ही आध्यात्मिक स्वरूप है—

१—'विवृत वर्तते इति विवर्तः'—अर्थात् जो निरावरण, स्वतन्त्र, प्रत्यक्ष, अपनी महिमा में स्थित हो।

२—'विविध प्रकारेण वर्तते इति विवर्तः'—अर्थात् जो नाना प्रकार के नाम-रूपों में अधिष्ठान् रूप से स्थित हो।

३—'विशेषेण रूपेण वर्तते इति विवर्तः'—अर्थात् जो विशेष रूप से प्रत्यक्ष विराजमान्, विद्यमान्, स्थित हो।

तात्पर्य यह है कि जो ईश्वर, ईश्वर से माया (अव्याकृत प्रकृति), माया से महत्तत्त्व महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चभूत और पञ्चभूतों से नाना प्रकार की नाम-रूपात्मक सृष्टि, मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी आदि शरीरधारी प्राणियों तथा पहाड़, नदियो, समुद्र, वृक्ष, फल-फूल, अन्न, वनस्पतियों, स्थावर आदि विराट, स्थूल, समष्टि नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में विद्यमान एवं स्थित है। अपने वास्तविक नित्य स्वरूप में स्थित रहते हुए भी जो व्यष्टि विश्व-तैजस-प्राज्ञ तथा समष्टि विराट हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा अर्थात् व्यष्टि और समष्टि स्थूल-सूक्ष्म-कारण रूप में विशेष रूप से भासमान् हो।

सुवर्ण अपनी सत्ता मे स्थित रहते हुए भी नाना प्रकार के आभूषणों के रूप में प्रतीत होता है। मृत्यका अपनी वास्तविक सत्ता मे स्थित रहते हुए भी नाना प्रकार के पात्रों के रूप में व्यवहृत होती है। रुई अपनी सत्ता में स्थित रहते हुए भी नाना प्रकार के वस्त्रों के रूप में व्यवहृत होती है। इसी प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित रहते हुए भी सगुण-साकार जगत्

के विशेष रूप में प्रत्यक्ष प्रकट, विराजमान्, विद्यमान् है और ज्यों-का-त्यों अपने स्वरूप एवं महिमा में भी स्थित है। यही देश, काल, वस्तु एवं व्यक्ति के सहित इस समष्टि स्थूल-सूक्ष्म-कारण नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में भी प्रत्यक्ष हो रहा है। जिस अन्तःकरण में इस प्रकार का विवेक सूर्यवत् उदय हो जाता है, फिर उसमें अज्ञान, अविद्या, भ्रान्ति, शोक, मोह, चिन्ता, भय, बन्धन, राग, द्वेष, विक्षेप, अशान्ति, दुःख, मृत्यु आदि भला कैसे ठहर सकते हैं ? अर्थात् नहीं रह सकते।

वेद भगवान् का भी यही सिद्धान्त है – 'एकत्वमनुपश्यतः तत्र को मोहः कः शोकः', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ईशावास्यमिद ँ सर्वं', 'पुरुषेवेदं सर्वं यदभूतं यच्चभाव्यं', 'ओम् इत्ये-तदक्षरमिदं सर्वं।'

निश्चयात्मक विवेक द्वारा स्वयं प्रकाश, स्वसंवेद्य, स्वतः-सिद्ध अपने वास्तविक स्वरूप तथा महिमा में स्थिति या आत्मरूप का अनुभव ही लंकापुरी में हनुमान जी के प्रवेश एवं लङ्का-दहन का आध्यात्मिक रहस्य है।

—स्वामी गोविन्दानन्द

परमार्थ-निकेतन,
मार्गशीर्ष पूर्णिमा वि०सं० २०२८
दिनाङ्क २-१२-१९७१

'ज्ञान' ही सर्व का स्व+रूप=आत्मा या सत्ता है

卐 सत्ता ही सर्व एवं सर्व ही एक है 卐



ALL−KNOWLEDGE=O

O+KNOWLEDGE=ALL



O+ONE=ALL & ALL−ONE=O

WHY ?

ALL IS ONE & ONE IS ALL.

WHAT IS ONE ?,--'I'

WHAT IS 'I',−KNOWLEDGE.



卐 श्रीगुरुपरमात्मनेनम 卐

# मंगल

## ज्ञान ही सर्व का स्व+रूप=आत्मा अर्थात् ईश्वर है

तरतिशोकमात्मवित् न कर्मणा न प्रजया,
न धनेन त्यागेनैकेनऽमृतत्त्वमानुशुः ॥

मङ्गलमय-आनन्दमय-सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमेश्वर सर्वात्मा को नमस्कार हो, असंख्य बार नमस्कार हो। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, प्रकृति आदि ईश्वरी शक्तियों के, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि दैवी शक्तियो के, व्यास वशिष्ठ, समस्त ऋषि-मुनि-अवतार आदि मानवी शक्तियो के, एवं समस्त प्राणी-मात्र के आत्मा, ज्ञान, आनन्द व अस्तित्त्व हैं। आपके किसी एक अंशमात्र में सङ्कल्प (इच्छा शक्ति) है जिसे माया भी कह सकते है, किन्तु वह अग्नि में दाहकता व वायु में स्पंदन (क्रिया) वत् आपका ही स्वरूप है। उस सङ्कल्प के किसी एक अंशमात्र में असंख्य सूर्य, उनके आकर्षण एवं प्रकाश में असंख्य ब्रह्मांड (विश्व) है। प्रत्येक ब्रह्मांड मे असंख्य व अनन्त सृष्टि इसो प्रकार से स्थित है, जैसे किसी के शरीर में रोम।

आपकी विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, ऐश्वर्य, विभूति, शक्ति, आनन्द, आह्लाद, प्रेम, शान्ति एवं महिमा आदि अपार, अनन्त और असीम है। आप ही ईश्वर, देवता, मानव आदि शक्तियों एवं समस्त शरीरधारी प्राणियों के इष्टदेव, उपास्यदेव, आराध्य-

देव, कल्याणदेव, आनन्ददेव, चेतनदेव, ज्ञानदेव, प्राणदेव एवं आत्मदेव है।

आप ही सबके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण या अधिष्ठान हैं। आपकी सत्ता से ही सबकी सत्ता है। आप ही दृष्टा-दर्शन-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया, उपासना-उपास्य-उपासक, जीव-ईश्वर-प्रकृति, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा आदि त्रिपिटुयाँ हैं एवं ज्ञान-अज्ञान, बंध-मोक्ष, शान्ति-अशान्ति, जन्म-मृत्यु, रात्रि-दिन, निराकार-साकार, कारण-कार्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द रूप हैं और इन त्रिपुटियों व द्वन्द्वों से अतीत भी हैं।

इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त शक्तियों एवं प्राणियों से ज्ञान व क्रियाशक्ति के द्वारा जो भी चेष्टा हो रही है, वह सब आपकी ही महिमा का चमत्कार है। आप ही सबके माता-पिता, बन्धु-बान्धव, मित्र, गुरु, धन, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान, मान, प्रतिष्ठा है।

अतः लेखक, लेखनी एवं प्रतिपाद्य विषय भी आप ही हैं। आपकी ही प्रेरणा से सब कुछ हो रहा है, तो फिर सफलता-असफलता, हानि-लाभ आदि का सारा उत्तरदायित्व भी आप पर ही है, क्योंकि स्वप्नवत् कर्ता-भोक्ता-भोग्य आप स्वयं ही हैं।

बोलो मंगलमय, आनन्दमय, शान्तिमय चैतन्यदेव की जय !



# विवेक-दर्शन



## विवेक-दर्शन

विवेक+दर्शन=विवेक दर्शन । विवेक=विचार, दर्शन=साक्षात्कार ।

किसी का भी यथार्थ ज्ञान होने को ही विवेक-दर्शन कहते है। व्यावहारिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार की सफलता व सिद्धि का जो यथार्थ साधन है, उस साधन के ज्ञान को ही विचार-दर्शन कहा जाता है।

हर प्रकार की सफलता व सिद्धि के जो यथार्थ साधन है, उन सब साधनो मे यह साधन बुनियादी, मौलिक और सर्वप्रथम साधन है। इसके दर्शन हुए बिना किसी भी प्रकार की सफलता व सिद्धि हो ही नही सकती। जिस प्रकार मनुष्य के तीन शरीर होते हैं, उसी प्रकार सफलता व सिद्धि के भी तीन शरीर होते है—(१) कारण शरीर (विवेक), (२) सूक्ष्म शरीर (योजनाएँ) और (३) स्थूल शरीर (साधन व कर्म)। इन्ही तीनो शरीरो के संयोग से सफलता अथवा सिद्धि प्रगट अर्थात् प्राप्त होती है।

उपरोक्त परिभाषा के ही आधार पर इस विवेक-दर्शन नाम की पुस्तक मे अनुभूत, प्रयोगात्मक, मार्मिक, व्यवहारोपयोगी, कल्याणप्रद, सारगर्भित विचार किया गया है। यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि वेद, शास्त्र, स्मृतियाँ. पुराण, कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक, जैन-दर्शन, पाश्चात्य दर्शन इत्यादि धार्मिक ग्रन्थ, विज्ञान, डाक्टरी आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र, यूनानी हिकमती किताबें, इञ्जीनियरी, कामर्स, आर्ट, वैधानिक (लॉ) इत्यादि भौतिक अथवा आध्यात्मिक विषयो के ग्रन्थ, पुस्तकें, अनेक भाषाएँ, विद्याएँ आदि सभी कार्यान्वित होकर सफलता और सिद्धि की द्योतक अथवा साधन तभी बनती है जब कि विचार के द्वारा इन सभी विद्याओ का वास्तविक तात्पर्य या रहस्य या यथार्थ ज्ञान मस्तिष्क मे प्रकट हो जाय। विचार के द्वारा ही प्रत्येक शब्द का भावार्थ व्यक्त होता है। विचार से ही जड, अनात्म, नाशवान् सघात से अविनाशी आत्मा का प्राकट्य होता है। विचार से ही नर्क स्वर्ग के रूप मे, ससार परमात्मा के रूप मे, अशान्ति शान्ति के रूप मे, दु.ख सुख के रूप मे और बन्धन मोक्ष के रूप मे बदल जाता है। मनुष्य के सामने आई हुई कठिन से कठिन प्रतिकूल परिस्थितियां एवं कठिन से कठिन समस्याएँ भी सुलझकर मगल, अनुकूल एवं सुखदाई हो जाती हैं। उदाहरणार्थ एक प्रसग उद्धृत करते हैं।

एक स्वयप्रकाश नाम का राजा था जो वडा ही धार्मिक, विद्वान्, सदाचारी, प्रजापालक, शूरवीर और सत्संगी था। वह नित्यप्रति दरबार मे एक बहुत बडे विद्वान पंडित के द्वारा सत्-शास्त्रो का प्रवचन करवाया करता था। योगी और ज्ञानी संतो के निवास हेतु एक आश्रम भी बनवाया था जहाँ निवास, भोजन, भजन, साधन, स्वाध्याय, सेवा आदि की समुचित व्यवस्था थी। एक बार दैवयोग से एक बडे उच्चकोटि के ब्रह्म-

निष्ठ संत आश्रम में पधारे। उनका नित्यप्रति उपदेश भी होता था। इस प्रकार राजा को उन महात्मा पर पूर्ण विश्वास हो गया कि इनके उपदेश से अवश्यमेव मेरा कल्याण हो जायेगा। महात्मा जिस समय चलने लगे तो राजा ने हाथ जोडकर प्रार्थना की कि भगवन् ! आप जैसे सन्तों का दर्शन दुर्लभ है। कृपा करके आप थोडे से शब्दों मे ऐसे ज्ञान का उपदेश देकर जाइए कि जो महान् से महान् आपत्ति के समय भी शान्ति एवं सान्त्वना दे सके।

संत ने कहा—'हमारी एक बात एक लाख रुपये मे बिकती है, तुम्हें जितनी बातें खरीदनी हों—खरीद लो।'

राजा ने कहा—'महाराज! आप की तो एक ही बात कल्याण कर सकती है, बहुत-सी बातों की तो आवश्यकता ही नही पड़ती। इसलिए यह लीजिए एक लाख रुपया और एक बात मुझे दे दीजिए।'

महात्मा ने एक कागज और कलम मँगाकर कागज पर एक वाक्य लिखकर उसको यन्त्र की तरह राजा के दाहिने हाथ मे बाँध दिया और कहा कि जब तुम्हारे ऊपर कोई भी बड़ी से बड़ी विपत्ति आ जाय और निवृत्ति का कोई मार्ग न दिखाई पड़े तो इस कागज को खोलकर पढ़ लेना।

इधर सन्त ने जो रुपया राजा से लिया था, उसे गरीबों, रोगियो, अनाथों, विधवाओं इत्यादि को बांट दिया और जैसे खाली हाथ आए थे वैसे ही चल दिए। कुछ समय पश्चात् राजा के ऊपर किसी दूसरे देश के राजा ने बहुत बड़ी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। घमासान युद्ध किया, फिर भी यह राजा हार गया। राजधानी पर दुश्मन का अधिकार हो गया और इसे जेल मे डाल दिया गया।

भला सोचिए, जिस राजा का सर्वस्व हरण हो जाय और

उसे कैदी बनाकर जेल मे डाल दिया जाय तो उसकी मानसिक स्थिति क्या होगी ? कैदी राजा बहुत घबराया, दुःखी हुआ। उसके दु ख एवं चिन्ता का पारावार न रहा। ऐसी भयंकर परिस्थिति मे उसे उस महात्मा की बात याद आ गई। उसने सोचा कि ऐसे ही समय के लिए मैंने एक लाख रुपये देकर एक बात खरीदी थी, अब उसी को काम मे लाने का मौका है। यह सोचकर तत्क्षण उसने अपने दाहिने हाथ पर से महात्मा द्वारा बांधा गया वह कागज खोलकर पढा तो उसमे लिखा था –'जब वह नही रहा तो यह भी नही रहेगा।' यह महा वाक्य पढते ही राजा की जितनी परेशानी, शोक एवं चिन्ता थी, सब की तत्क्षण उसी प्रकार से निवृत्ति हो गई जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार निवृत्त हो जाता है। राजा का मन शान्त हो गया, उदासी शान्ति के रूप मे बदल गई। राजा का सोया हुआ विवेक जागृत हो गया। अब उसके लिए महल और जेल बराबर हो गये, शत्रु एवं मित्र बराबर दीखने लगे।

थोडे दिनो के पश्चात् दुश्मन राजा उसे जेल मे देखने आया। जब दुश्मन राजा ने जाकर उसको देखा तो वह बडी प्रसन्न मुद्रा मे शान्त, स्थिर, निर्भय जैसे अपने महल मे रहता था, मानो कुछ खोया ही न हो, बन्दी ही न हुआ हो,— इस प्रकार मस्त, प्रसन्न बैठा हुआ था। वह विजयी राजा से बडे प्रेम से मिला मानों कोई हार्दिक मित्र हो। कैदी राजा का यह स्थिति देखकर विजयमद में चूर दूसरे राजा ने आश्चर्यचकित होकर प्रश्न किया—'आप तो ऐसे दिखाई पड रहे है जैसे कोई अपने राजभवन मे सिहासन पर बैठा हो, कुछ खोया ही न हो !'

प्रत्युत्तर मे स्वात्माभिमान पूर्ण स्वाभाविक वाणी निकली—'मित्रवर ! मैं जिस राज-सिहासन को प्राप्त कर चुका

हूँ, वहाँ किसी शत्रु, कष्ट एवं मृत्यु तक का भी प्रवेश नहीं है। कोई भी आक्रान्ता उस राज्य पर आक्रमण नही कर सकता चाहे वह कितना ही बलशाली क्यों न हो,—यहाँ तक कि इन्द्र भी उस साम्राज्य को अंगुली नहीं लगा सकता। इस सिहासन पर बैठकर सारा द्वन्द्वात्मक चराचर जगत् स्वप्नवत् अथवा अपना स्वरूप ही प्रतीत होता है। यहाँ किसी भी प्रकार की कमी का प्रश्न ही नहीं। आनन्द, केवल एक मात्र आनन्द, शान्ति ही शान्ति, नित्य स्वतन्त्रता का ही साम्राज्य छाया हुआ है।'

ऐसी अमृत वाणी को सुनकर विजय के अभिमान मे चूर उस राजा को अपने आक्रान्ता स्वभाव पर बड़ी ग्लानि हुई और वह पश्चात्ताप की लपटों में झुलसने लगा। उसकी आत्मा स्वयं अपने को धिक्कार उठी कि मैने अच्छा नही किया जो ऐसे विलक्षण सन्त को जेल मे डाल कर कष्ट दिया। तत्क्षण उसने क्षमा मांगकर एक विशाल जलूस, गाजे-बाजे एवं राज-सम्मान के साथ उस बन्दी राजा को ले जाकर उसके सिहासन पर बैठा दिया। सारी सम्पत्ति वापस करने के साथ-साथ अपना हृदय भी समर्पित कर उसे अपना गुरु मान लिया।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में प्रत्येक वस्तु ज्यों की त्यो दृष्टि में आती है, बिल्कुल इसी प्रकार से विवेक की छत्रछाया में वस्तु-स्थिति ज्यो की त्यो प्रतीत होती है। सत्यता को आवृत करने वाले, मानवता को नष्ट करने वाले, एकता और विश्व-प्रेम के घोर शत्रु, नाना प्रकार के स्वार्थ एवं पक्षपात यदि मनुष्य मे आ भी जाये तो विवेक के द्वारा इन भयंकर दोषों की निवृत्ति होकर सच्ची मानवता जागृत हो जाती है। इस पर भी एक उदाहरण है।

विवेक-प्रकाश नामक एक राजा हो चुका है जो बड़ा ही

धर्मात्मा, विद्वान्, चरित्रवान्, जनता का प्रिय और बड़ा ही सत्संगी था। बड़े-बड़े विद्वान्, वेद-शास्त्रो के ज्ञाता उसके दरबार मे रहते थे। नित्यंप्रति सत्-शास्त्रों का प्रवचन होता था। नगर से बाहर महात्मा एवं विद्वानो के सेवा-विश्राम के लिए संत-निवास आश्रम भी बनवा रखा था और नित्यप्रति संत-निवास में जाकर वह सतो का सत्सग भी करता था। एक बार बडे ही उच्चकोटि के जीवनमुक्त सन्त आए हुए थे। कुछ दिन वे वहाँ ठहरे। राजा नित्यंप्रति उनका वचनामृत पान करता था और उनमे अत्यधिक श्रद्धा हो गई थी। जिस समय महात्मा जाने लगे तो राजा ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि भगवन्! मेरे कल्याण के लिए कोई अन्तिम उपदेश देकर जाइए जो हर समय मेरी रक्षा कर सके। सन्त ने कहा कि मेरी बात नोट करो और साधारण-सा एक प्रचलित दोहा उसको लिखा दिया। साथ ही आदेश दिया कि जहाँ-जहाँ तुम्हारा सोना, उठना, बैठना, जागना आदि कार्यक्रम एव दिनचर्या का स्थान हो, उन सभी जगहो पर इस दोहे को बडे-बडे अक्षरो मे लिखवाकर टँगवा दीजिए :—

'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काम बिगाड़े आपना, जग मे होय हँसाय॥'

राजा ने आज्ञा-पालन करते हुए इस दोहे को बहुत से बोर्डो पर मोटे अक्षरो मे लिखवाकर स्थान-स्थान पर टँगवा दिया। एक बार दैवयोग से राजा के निजी सेवक ने रात्रि को पलंग बिछाकर एव सजाकर तैयार किया। फिर अचानक उसकी दृष्टि घड़ी पर पड़ी तो देखा कि अभी राजा के शयनागार मे पहुँचने मे लगभग एक घंटे का विलम्ब था। उसने सोचा कि तब तक पाँच-दस मिनट के लिए राजा के पलंग पर लेटकर देखूँ तो सही कि कैसा आनन्द मिलता है? वह दीपक बुझाकर लेट गया तो लेटते

ही नीद आ गई। अन्धेरा तो था ही, थोड़ी देर बाद रानी भी उसी पलंग पर आकर लेट गई और उसे भी नीद आ गई। एक घंटे के पश्चात् राजा शयनागार मे आया तो बड़ा ही आश्चर्य-जनक दृश्य देखा जिसकी कोई सम्भावना ही न थी। राजा जब शयनागार मे जाता था तो नित्य सेवक एवं रानी राजा की प्रतीक्षा करते हुए मिला करते थे, किन्तु आज वे दोनो एक ही पलंग पर पड़े हुए सो रहे थे।

यह दृश्य देखते ही राजा क्रोध से तिलमिला उठा, म्यान से तलवार खीच ली और दोनों को खत्म कर देने का निश्चय करके जैसे ही प्रहार करने के लिए तलवार ऊपर उठाई कि तत्क्षण उसकी दृष्टि उस दोहे पर जा पडी जो महात्मा लिखा गए थे। दोहा पढते ही राजा का हाथ रुक गया और वह विचार करने लगा कि इन दोनो के चरित्र को मैं भली प्रकार से बहुत दिनों से जानता हूँ कि नितान्त सच्चे, सदाचारी, चरित्रवान् है। किन्तु इसके विपरीत आज ऐसा दृश्य क्यो देखने मे आ रहा है ? क्या इसका कारण कुछ और नही हो सकता ? अवश्य हो सकता है ! उसकी खोज करनी चाहिए। इतना सोचकर राजा ने सर्व-प्रथम नौकर को जगाया। नौकर फौरन उठकर हाथ जोड़कर काँपता हुआ, डरता गिड़गिड़ाता हुआ दबी जबान से क्षमा माँगते हुए नीचे खड़ा हो गया। राजा ने आश्वासन देते हुए पूछा—'घबड़ाओ मत, डरो मत, जो भी बात हो ठीक-ठीक बतला दो।'

सेवक ने कहा—'उस समय आप के आने से एक घंटा पूर्व, जब आप का पलंग बिस्तरा आदि से सुसज्जित कर चुका तब अचानक आज मेरे मन मे ऐसा संकल्प उठा कि अभी महाराजा साहब के आने मे बहुत विलम्ब है,—पाँच-सात मिनट इस

बिस्तर पर लेटकर तो देखूँ कि कैसा आनन्द मिलता है ? ऐसा सोचकर मैं इस बिस्तर पर लेट गया। उसके बाद मुझे कुछ भी पता नही। अभी आपने आकर मुझे जगा दिया है, तभी मुझे पता चला कि आप आ गए है।'

यह बातचीत हो ही रही थी कि इतने मे रानी भी जाग पडी। जागते ही रानी ने राजा से संशययुक्त प्रश्न किया कि इस पलंग पर कौन सोया हुआ था ? हाथ जोड़कर सेवक ने कहा—'माता जी, यह आप का पुत्र, दास गलती से दो-चार मिनट के लिए पड़ गया था और तुरन्त नीद आ गई थी।' राजा ने दोनों को आश्वासन देते हुए कहा कि तुम दोनो निर्दोष हो, किसी का भी कोई अपराध नही है। भय एव संकोच मत करो। तब राजा ने सोचा कि आज यदि सन्त का उपदेश यहाँ न होता और मेरी दृष्टि उस पर न पड़ती तो इन दो निर्दोष, निष्पाप, विशुद्ध, पवित्र व्यक्तियो की निर्मम हत्या हो जाती।

विचार ने राजा को कितने भयंकर पागलपन से बचा दिया ! यही विवेक की महिमा है।

यद्यपि बुद्धि के द्वारा प्रगट होने वाला विवेक, विचार, ज्ञान सभी के पास है, किन्तु सुप्त है। स्वाध्याय, सत्संग, एकाग्रता एवं ध्यान के द्वारा विवेक को जाग्रत करने की आवश्यकता है। जिस मनुष्य का विवेक जाग्रत हो जाता है, कठिन से कठिन एवं भयंकर परिस्थितियो से भी निकलकर वह उसे सुख और शान्ति के शिखर पर खड़ा कर देता है। यह विचार की ही महिमा है कि मानव अजर, अमर, अविनाशी, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असंग, निर्लिप्त, निर्विकार, निष्प्रपंच आत्मा का अहं रूप से अनुभव कर लेता है। जीवन मे जितनी भी परेशानियाँ होती है, वे सब शोक, मोह, भय आदि सहित समाप्त हो जाती है। प्रेम, आनन्द और

शान्ति का स्रोत उमड़-पड़ता है। जाग्रत अवस्था मे मनुष्य के समक्ष आई अनुकूल से अनुकूल सुखदाई एवं महान् से महान् दुखदाई परिस्थितियाँ भी जाग्रत के दृश्य-विचार के द्वारा स्वप्नवत् प्रतीत होने लगती है।

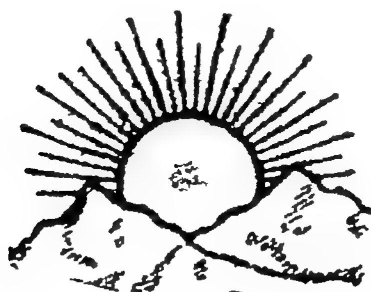
विजयी नैपोलियन बोना पार्ट को हराकर सर्वस्व छीन लेने के पश्चात् उसे सैन्ट हेलना नामक छोटे से द्वीप मे कैद कर दिया गया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह अपने डाक्टर के साथ घूमने के लिए बाहर निकला और खेतो मे पहुँचा। उधर से एक औरत सिर पर घास का गट्ठर लिए हुए रास्ते मे आती हुई दिखलाई पडी। दूर से ही नैपोलियन के डाक्टर ने चिल्लाकर कहा—'अरे औरत! रास्ते से एक तरफ हट जा। देखती नहीं है, रास्ते पर आगे से नैपोलियन आ रहे है।' इतने मे नैपोलियन स्वयं डाक्टर का हाथ पकड़कर अपनी ओर खीचते हुए रास्ते से अलग हट गए और कहने लगे—'अब उस ड्रामे का सीन समाप्त हो चुका है कि जिसमे लोग नैपोलियन का नाम सुनकर डर जाते थे। अब पराधीनता का दूसरा दृश्य प्रारम्भ हो गया है, किन्तु यह दोनों दृश्य (सीन) स्वप्नवत् है।'

नैपोलियन ने ठीक ही कहा था। स्वप्न का चक्रवर्ती राजपद एवं भिखारीपन दोनों बराबर इसलिए है कि जागने पर दोनो ही समाप्त हो जाते है। केवल इन दोनों का देखने वाला द्रष्टा ही शेष रह जाता है।

नैपोलियन यह बाते कहते-कहते हँसता भी जा रहा था। नैपोलियन की यह स्थिति देखकर डाक्टर को वड़ा आश्चर्य हुआ। क्या था और क्या हो गया? क्या यह स्वप्न मे वाते कर रहा है या सर्वस्व छिन जाने से पागल हो गया है? इसकी जाग्रत अवस्था की स्थिति तो कुछ और ही थी। तव नैपोलियन ने डाक्टर

से कहा कि इस समय तुम निद्रा मे स्वप्न देख रहे हो। यदि जाग्रत अवस्था में होते तो यह संसार यथावत् ही दिखाई पड़ता। स्वप्न अवस्था मे पड़ा हुआ पुरुष जाग्रत अवस्था के दृश्य को तब तक नही देख सकता जब तक कि वह स्वयं जाग न जाय।

नैपोलियन जाग चुका था और डाक्टर अभी स्वप्न ही देख रहा था। नैपोलियन के अन्दर छिपी हुई गम्भीरता, प्रसन्नता एवं शान्ति विवेक के जाग्रत होने से बाहर प्रगट हो गई थी जिसका अनुभव वह करने लगा था। वास्तव मे प्रतिकूल परिस्थितियाँ, संसार की ठोकरे एवं परेशानियाँ ही मनुष्य के जागने का कारण बना करती हैं, किन्तु सावधान होकर उठ बैठने के बजाय मानव करवटे बदलता रहता है, इसलिए उसे बार-बार निद्रा घेर लेती है। परिणामस्वरूप सारा जीवन स्वप्नावस्था मे ही समाप्त हो जाता है और मानव जीवन के मुख्य उद्देश्य निर्भयता, स्वतंत्रता, पूर्ण शान्ति, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति, पूर्ण सफलता एवं अमरत्व से वचित रह जाता है। ये सभी उद्देश्य विवेक से ही पूरे होते हैं।



# अद्वैत मीमांसा

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।

जितने भी भारतीय शास्त्र हैं, उन समस्त दर्शनों में वेदान्त दर्शन ही सर्वोपरि है। महर्षि व्यास वेदान्त-दर्शन मात्र के प्रणेता है, वेदान्त सिद्धान्त के नही । वेदान्त-सिद्धान्त तो वेदों एवं शास्त्रों का परम-चरम ज्ञान (सिद्धांत) है जिसका लक्ष्यार्थ पूर्ण ब्रह्म है। वेदान्त चिरन्तन सिद्धान्त है। व्यास जी के पूर्व भी गुरु-शिष्यों की परम्परा के द्वारा मुमुक्षुओं को इसका उपदेश दिया जाता रहा था।

वेदान्त एक अटल एवं सत्य सिद्धांत है। व्यास जी का अद्वैत, शंकराचार्य जी का केवलाद्वैत, रामानुजाचार्य जी का विशिष्टाद्वैत, वल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैत आदि आचार्यों के मत है,–सिद्धान्त नहीं है। अर्थात् ये सब वेदान्त-सिद्धान्त को समझाने की प्रक्रियाये हैं। यदि शंकर का 'केवल', रामानुज का 'विशिष्ट' और वल्लभ का 'शुद्ध' निकाल दिया जाय तो व्यास का अद्वैत मात्र ही शेष रहेगा जो कि वेदान्त का सिद्धान्त है ।

इसी प्रकार अजातवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, विवर्तवाद अध्यास-वाद, आभासवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद आदि जितने भी आचार्यो के वाद (मत) है, वे सब प्रक्रियायें है, सिद्धान्त नही है। अर्थात् सिद्धान्त (सत्) को समझाने के लिये जो विभिन्न परिभाषाये है—उन्ही को प्रक्रिया कहते हैं। अतः

वेदान्त का लक्ष्य एक सत्तावाद मे है, न कि द्वैत मे। अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि वेदान्त का सिद्धांत ही सत्य है तो फिर द्वैत की प्रतीति क्यो और किसको हो रही है ?

उत्तर—द्वैत की प्रतीति वृत्ति के द्वारा चेतन को हो रही है। चेतन ज्ञानस्वरूप, ज्ञान वृत्तिस्वरूप और वृत्ति ही दृश्यमान् जगत् रूप है। अर्थात् जगत् वृत्तिरूप, वृत्ति ज्ञानरूप, ज्ञान चेतन स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि किसी भी दृश्यमान् पदार्थ (जगत्) मे से चैतन्य को निकाल दीजिये तो वस्तु की सत्ता ही समाप्त हो जायगी, जिस प्रकार नाना प्रकार के वस्त्रों मे से रुई, नाना प्रकार के भूषणों मे से स्वर्ण एवं नाना प्रकार के पात्रो मे से मृत्तिका को निकाल देने से वस्त्रों, भूषणों एवं बर्तनों की सत्ता ही नही रहती, क्योंकि चैतन्यदेव ही समस्त नाम-रूपात्मक स्थूल, सूक्ष्म, कारण जगत् का स्वप्न-सृष्टिवत् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। इसलिये— 'तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'—जिसने सर्वत्र एकता का अनुभव कर लिया है, फिर उसको शोक और मोह क्योकर हो सकता है ?

विचार आरम्भ करने के प्रथम 'अद्वैत-दर्शन' के सम्बन्ध मे कुछ कहना अत्यावश्यक है । अतः प्रस्तुत विषय मे कुछ कहना असंबद्ध न होगा।

हमारा समस्त वैदिक वाङ्मय एकात्मवाद का प्रतीक है जिसको एक ब्रह्मवाद भी कह सकते हैं। उसी का दूसरा नाम 'अद्वैत-दर्शन' भी है।

अद्वैत-वाद वेदान्त का वह सिद्धान्त है जिसमे आत्मा और परमात्मा को एक सिद्ध किया जाता है और ब्रह्म के अतिरिक्त सब वस्तुओं या तत्त्वो की सत्ता अवास्तविक या कल्पित मानी जाती है।

वेदान्त के ग्रन्थों में 'अद्वैत-दर्शन' शब्द का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया गया है—'द्विधा इतं द्वीतं, तदेव द्वैतं—अहन्तेदन्तादिसंवित्समन्वितं ज्ञानं द्वैतं, तद्‌भिन्नं ज्ञानं—'अद्वैतम्'।'

'दर्शन'—'दृश्यते अनेन वस्तु तत्त्वं—इति दर्शनम्'—जिससे वस्तु तत्त्व अर्थात् आत्मा (ब्रह्म) के साक्षात्कार का ज्ञान हो, उसका नाम 'दर्शन' है।

## अद्वैत-विचार

सबसे प्रथम अद्वैत पद का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

'अद्वैत-दर्शन' में प्रथम पद अद्वैत है जिसका अर्थ है—एक ब्रह्म या आत्मा। अकार पद निषेधवाचक है। प्राकृत व्याकरण का सूत्र है—'अ, मा, नो, न'—ये चार शब्द निषेधवाचक है। अद्वैत शब्द में 'अ' निषेध का द्योतक है। अर्थात् अद्वैत का अभिप्राय 'इदन्ता' से उपलक्षित है—समस्त संसार की ब्रह्म से अतिरिक्त कोई स्वतंत्र सत्ता नही है।

'द्वैत' से दो वस्तुओं का ग्रहण होता है—एक ब्रह्म और दूसरा जगत्। जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत कहते हैं, परन्तु 'अद्वैत-दर्शन' मे एकात्मवाद का समावेश है। जैसे जल मे प्रतिबिम्ब रूप से इतने विशाल सूर्य को एक थाली जैसे गोल लघुरूप मे प्रत्यक्ष देखा जाता है, यही विशालता मे लघुता की प्रतीति है, ऐसे ही पूर्ण अद्वैत, विशुद्ध, चिन्मात्र ब्रह्म मे जीवत्व की भ्रान्ति होती है।

कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नही हो सकती। ब्रह्मरूप अधिष्ठान मे मिथ्या कल्पित जगत् स्वर्ण मे भूषण के समान अध्यस्त है। अतः एक ब्रह्मत्त्व ही सत्य है और उसके अतिरिक्त

समस्त जगत् मिथ्या है। इस बात को दृष्टान्त से आगे बताया जाएगा।

उपरोक्त विषय पर ही प्रकारान्तर से विचार किया जाता है—

अ+द्वैत=अद्वैत अर्थात् द्वैत से रहित, केवल एक चैतन्य सत्ता। उस चैतन्य को 'अहं' या आत्मरूप से अनुभव करना अथवा नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक जगत् के नानात्व मे एकत्व का अनुभव करना अथवा समस्त जगत् मे बर्फ मे जलवत् एक चेतन को ही पूर्ण या सर्वत्र ओत-प्रोत देखना ही 'अद्वैत-दर्शन' है।

## एक सत्तावाद

एकत्व एक ऐसा प्राकृतिक अटल नियम है कि जिसके बिना जगत् की स्थिति ही नही रह सकती। अर्थात् पुरुष-प्रकृति (जड़-चैतन्य) के संयोग से ही तीन गुणो सहित सूक्ष्म पंच तत्त्व— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि स्थूल पंच तत्त्वो की उत्पत्ति होती है और इन्ही तत्त्वो के सयोग से ही जगत् की स्थिति है।

१+सत्ता=एक सत्ता अर्थात् केवल एक की ही सत्ता और वही सत्ता 'सत्', 'चित्', 'आनन्द' स्वरूप है। अथवा वही एक चित्सत्ता जगत् के रूप में व्याप्त मूल तत्त्व एवं सर्वरूप है। जिस प्रकार ससार भर की सारी भाषाओ मे जितनी भी संख्याएँ हैं, वे सब १ से प्रारम्भ होकर पुन. एक मे ही समाप्त हो जाती है, इसी प्रकार एक चेतन सत्ता से ही सारे विश्व का प्रादुर्भाव होकर फिर उसी मे विलीनीकरण होता रहता है। अभिप्राय यह है कि—१-२-३-४-५-६-७-८-९-१० संख्याओ में से २ से लेकर ९ तक अथवा १ व १० के मध्य की सब सख्याएँ उस एक में ही गर्भित हैं और अन्तिम संख्या १० भी तो केवल एक ही है,

शून्य का तो अपना कोई अस्तित्व ही नही है। तात्पर्य यह है— 'आद्यान्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' अर्थात् जो वस्तु आदि-अन्त में न हो और केवल वर्तमान में ही प्रतीत हो, उसकी कोई भी सत्ता नही है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार १ और ९ के मध्य की सारी संख्याएँ एक के ही परिणाम स्वरूप है। जैसे—१+१=२, १+१+१=३, १+१+१+१=४, १+१+१+१+१=५ इत्यादि। २ से लेकर ९ तक की संख्याओं के अन्तर्गत सारे संसार का समावेश हो जाता है। यथा—एक से तात्पर्य है पूर्ण ब्रह्म। दो से तात्पर्य है पुरुष-प्रकृति (जड़-चेतन) आदि मूल तत्व एवं रात्रि-दिन, जन्म-मृत्यु, कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म, समष्टि-व्यष्टि इत्यादि नाना प्रकार के द्वन्द।

तीन का तात्पर्य है—तीन गुण सत्-रज-तम, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि तीन अवस्थाएँ, स्थूल-सूक्ष्म-कारण आदि तीन शरीर, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया इत्यादि नाना प्रकार की त्रिपुटियाँ।

चार का तात्पर्य है—मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आदि चार अन्तःकरण, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति एवं तुरीय आदि चार अवस्थाएँ, जेरज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज आदि चार प्रकार की सृष्टि, आत्मज्ञान-जगत्ज्ञान-व्यवहार (कर्म या नाना प्रकार का साधन) ज्ञान-प्रकृतिज्ञान इत्यादि चार प्रकार के वेदन अर्थात् ज्ञान।

पांच का तात्पर्य आकाश आदि पांच तत्व, शब्द-स्पर्श आदि पांच विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण आदि है।

छः का तात्पर्य है—वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरद्-शिशिर-हेमन्त षड्

ऋतु, कटु-तिक्त-कषाय-अम्ल-लवण-मधुर षडरस एवं मूलाधार-स्वधिष्ठान-मणिपुर-अनाहद-विशुद्ध-आज्ञा—ये षड् चक्र।

सात से सप्तद्वीप, सप्तधातु, सप्तरंग, सात दिन, सात भूमिका आदि अभिप्रेत है।

आठ से आठ प्रकार की प्रकृति, आठ प्रकार के वसु, आठ प्रहर, आठ सिद्धियाँ आदि ग्राह्य है।

नव से नवग्रह, नव निद्धियाँ, नव प्रकार की दुर्गा आदि है। नवदुर्गा से अभिप्राय नौ प्रकार की शक्तिओं से है जो प्रत्येक दु:ख से मुक्त करती है अर्थात् इन्ही शक्तियो के द्वारा सारे विश्व का नियन्त्रण या शासन होता है। नौ प्रकार की शक्तियाँ ज्ञान, क्रिया, उत्पादक, विनाशक पोशक, शोषक, दाहक, छेदक, प्रकाशक है। इन्हीं शक्तियों के द्वारा समस्त विश्व के प्राणिमात्र के दु:खो या दुर्गतियों की प्राप्ति या निवृत्ति होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि दो से नौ तक की संख्या के अन्तर्गत ही सारी सृष्टि का समावेश हो जाता है और दो से नौ तक की संख्या एक में ही समा जाती है। इसी प्रकार से एक चेतन सत्ता मे ही दो से लेकर नौ तक की सारी सृष्टि गर्भित है अथवा तद्रूप है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सारे चराचर जगत् की एकता स्वाभाविक या प्राकृतिक ही है क्योंकि सारे नाम-रूपात्मक जगत् का मूलतत्व या कारण एक चेतन सत्ता ही है। इसी सिद्धांत के अनुसार सारे विश्व की एकता दिखलाई जाती है, अत: इस जगत् के अन्तर्गत जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कोई भी राष्ट्र, समाज, पार्टी, संस्था, सम्प्रदाय, धर्म, कर्म, मोक्ष व नाना प्रकार के सुख और उनके साधन इस एकत्व बिना स्थित ही नहीं रह सकते, यहां तक कि हमारे जीवन का क्षणमात्र भी एकता

रहित नही है। प्राणिमात्र का जन्म ही एकता से होता है। माता-पिता के संयोग द्वारा रज-वीर्य के एक होने से जब रक्त, मांस, मज्जा, नाड़ी, अस्थि, वीर्य, मेद इत्यादि सप्त धातु, नेत्र, श्रवण, नासिका, त्वचा, रसना इत्यादि पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, पायु इत्यादि पांच कर्मेन्द्रियां, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय, प्राण, चेतना और आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथिवी इत्यादि पंच तत्त्व—इन सब का संयोग होता है तब सबका जन्म अर्थात् सबके शरीरो की उत्पत्ति होती है।

हम लोगो का पालन-पोषण जिन खाद्य पदार्थों से होता है, वे सब भी एकता के ही परिणाम है। प्रथम बालक के पीने के लिये जो दूध बनता है, वह भी नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ, जल, माता का शरीर और उसकी पाचन शक्ति तथा अन्य प्रकार के साधन-स्थान इत्यादि का जब संयोग होता है, तभी बनता है। नाना प्रकार के अन्न, फल, शाक इत्यादि के बीज, पृथिवी, जल, खाद, हल, बैल, गर्मी, मनुष्य इत्यादि का जब संयोग होता है, तब नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते है। आटा, दाल, चावल, सब्जी, नमक, मसाला, मीठा, दूध, घृत, लकड़ी, अग्नि, पानी, बर्तन, चूल्हा, बनाने वाला—इन सब वस्तुओं का जब संयोग होता है, तब खाने के लिये नाना प्रकार के भोजन तय्यार होते है। रुई, ऊन, रेशम, सिल्क, कई प्रकार के रंग, नाना प्रकार के लोहे व लकड़ी के यन्त्र, अग्नि, पानी, बनाने वाले, सीने वाले इत्यादिकों का जब संयोग होता है, तब पहिनने के लिए नाना प्रकार के वस्त्र बनते है। इसी प्रकार से लोहा, लकड़ी, चूना, ईंट, पत्थर, सिमेन्ट, बजरी, रेत, मिट्टी, रंग, राज, बढई, लोहार, इञ्जीनियर, मजदूर, अग्नि, पानी, पृथिवी, बनाने वाले इत्यादि जब सब एकत्रित होते

हैं; तब हम लोगो के निवास के लिए नाना प्रकार के भवन निर्माण किए जाते है ।

इसी प्रकार से कागज़, स्याही, रंग, धागा, कपड़ा, गत्ता, छपाई के यत्र, नाना प्रकार की विद्याएँ और उनके ज्ञाता, लेखक, छापने वाले आदि साधन जब एकत्रित होते है, तब नाना प्रकार की ज्ञान की पुस्तके बनाई जाती है। जब बहुत-से मनुष्य, नाना प्रकार के शस्त्र, बाजे, बहुत-सी अन्य आवश्यक सामग्री का एकत्रीकरण होता है, तब प्रत्येक राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना तैयार होती है । इसी प्रकार से बहुत-से मनुष्यो के समूह को समाज, पार्टी, सस्था, सम्प्रदाय इत्यादि कहा जाता है । बहुत-से घरो के समूह को 'ग्राम', ग्रामो के समूह को 'तहसील', तहसीलो के समूह को 'जिला', जिलों के समूह को 'कमिश्नरी', बहुत-सी कमिश्नरियो को 'प्रान्त', बहुत-से प्रान्तो को 'राष्ट्र', कई राष्ट्रो के समूह को 'महाद्वीप' और सारे महाद्वीपों को 'विश्व' या 'ब्रह्मांड' कहा जाता है। तथैव समस्त ब्रह्मांडो की एकता को 'पूर्णब्रह्म' या परमेश्वर, गॉड, खुदा इत्यादि नामो से कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार से वृक्षो के समूह को जंगल-बाग तथा बहुत से घरो के समूह को नगर-शहर कहते हैं और जैसे वृक्षो व घरो के अतिरिक्त जंगल व नगर का कोई अस्तित्व नही होता, इसी प्रकार से पूर्णब्रह्म परमात्मा का अस्तित्व इन सारे ब्रह्माडो के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। इन्ही सारे ब्रह्मांडों के अन्तर्गत यह सारा विश्व भी है जिसमे हम लोग निवास कर रहे है ।

जिस प्रकार हम लोगो का शरीर बहुत-सी वस्तुओ के संगठन का एक परिणाम है अर्थात् बहुत-से नामों का एक नाम, बहुत से रूपो का एक रूप और स्थूल नाम, रूप से एक शरीर

बना है,—इन विभिन्न नामों और रूपों के अतिरिक्त इस शरीर की कोई भी सत्ता नहीं है। ठीक इसी प्रकार समस्त संसार के नामों व रूपों को मिलाकर एक नाम-रूप के अन्तर्गत विराट् रूप परमात्मा कहा जाता है। इसलिए इस जगत् के किसी भी नाम-रूप के अतिरिक्त 'ईश्वर' की कोई सत्ता नही है। अर्थात् कोई भी कार्य कारण से भिन्न कभी नहीं हो सकता, जैसे —एञ्जिन लोहे से पृथक् कभी नही होता, अपितु लोहा ही रहता है।

इसी प्रकार से किसी भी नाम-रूप से परमात्मा भिन्न नही हो सकता। यदि भिन्न माना जायगा तो वन्ध्या-पुत्र से अधिक उसका कोई भी महत्त्व न होगा। अर्थात् ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा भी तो एक नाम ही है और उसका कोई-न-कोई माना हुआ स्वरूप भी तो रूप के ही अन्तर्गत है। इसी प्रकार से रेल, तार, टेलीफोन, वायरलैस, जहाज, वायुयान, रेडियो, सिनेमा एवं नाना प्रकार के एञ्जिन व यन्त्र आदि का निर्माण भी बहुत-सी वस्तुओं का एकीकरण होने से ही होता है।

हमारी जीवन-यात्रा के निर्वाह एवं सुख-साधन की जो-जो भी सामग्री देखने अथवा अनुभव मे आ रही है, वे सारी-की-सारी बहुत-सी वस्तुओं की 'एकता' (संयोग) के ही परिणाम-स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारे सुख के जितने भी साधन है, वे सब एकता का ही परिणाम है,—परन्तु कैसी एकता सुख का साधन हो सकती है? युक्ति और विचार-पूर्वक एकता ही सुख का साधन हो सकती है, अज्ञान-पूर्वक एकता तो दुःख का ही कारण होगी। किसी बड़े पात्र मे आटा, दाल, चावल, शाक, घी, दूध, नमक, मसाला, लकड़ी, अग्नि, पानी इत्यादि सब मिलाकर रख दिये जाएँ तो क्या भोजन तैयार हो जाएगा? नहीं, कदापि नहीं,—सारी सामग्री व्यर्थ हो जाएगी। इसलिए ज्ञानपूर्वक एकता ही सुख का साधन है।

ज्ञानपूर्वक एकता दो प्रकार की होती है– एक 'क्षणिक' और दूसरी 'स्थायी'। आनन्द भी दो ही प्रकार का होता है— एक 'नित्य' दूसरा ''अनित्य'। अतः क्षणिक 'एकता' (संयोग) से अनित्य आनन्द और स्थायी 'एकता' से नित्य आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए स्वाभाविक एवं स्थायी एकता के द्वारा नित्य आनन्द प्राप्त अर्थात् अनुभव करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। अस्तु !

स्थायी एकता व नित्य आनन्द का आस्वादन हम लोग किस प्रकार कर सकते है ? थोडे शब्दो मे तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-अहता-ममता आदि समस्त परिच्छिन्नताओ को पूर्णता के रूप मे बदल दे अर्थात् व्यष्टि भावों को समष्टि विश्व के साथ जोड़ दें यानी संबन्धित कर दे। सारांश यह है कि जीवत्व को ब्रह्मत्व के रूप मे बदल दे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस कृत्रिम एकता एव क्षणिक आनन्द को त्याग दें और जब तक यह शरीर विद्यमान् है, त्यागना सम्भव भी नही है। यह कृत्रिम एकता व अनित्य आनन्द क्षणिक व अनित्य तभी तक है जब तक कि हम इन वस्तुओ को केवल अपने व्यक्तिगत उपभोग का ही साधन बनाते अथवा मानते है। यदि हम ऋषियो या वैज्ञानिको की भांति नाना प्रकार के उपयोगी शास्त्रो एवं वस्तुओ का, सुख-सामग्रियो का, समस्त संसार के मनुष्यो या प्राणिमात्र की सुख-शान्ति के लिए निर्माण करें तो यही एकता व सुख नित्य या स्थायी हो जाएगा, क्योकि बनाने वालो के पश्चात् भी उनके स्वरूपभूत करोड़ो व्यक्ति उस वस्तु के उपभोग से सदा लाभ या आनन्द उठाते ही रहेगे।

जिस प्रकार वायुयान का आविष्कारक महानुभाव मृत्यु को प्राप्त होने पर भी जब तक यह विश्व रहेगा तब तक के लिये

अपनी एकता व आनन्द के समष्टि-भोक्ता के रूप में अमर हो गया। यदि कोई व्यक्ति आमों का बाग लगाता है तो क्या वह यह सोचता है कि मैं तो थोड़े ही दिनों का महमान हूँ, इसके फल कौन खाएगा ? नहीं-नहीं,—वह तो यही विचार कर बाग लगाता है कि औरों ने भी लगाये थे जिसके फल मैंने खाये। अब मैं लगा रहा हूँ तो इसके फलों का भी मैं अन्य लाखों शरीरों के द्वारा उपभोग करता ही रहूँगा। इस निश्चय (अनुभव) का नाम ही ब्रह्मज्ञान या आत्म-परायणता है जिसके लिए वेद व शास्त्र पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। पर खेद है कि हम लोग इन बातों को केवल कहने-सुनने में ही समाप्त कर देते है।

अपने व्यक्तिगत परिच्छिन्न देहाभिमान को समष्टि शरीरों के साथ मिलाकर एक कर देना ही 'स्थायी एकता' है जिसका फल नित्य सुख है। सारे बल्बो में एक ही करैन्ट या प्रकाश के समान, आत्मा तो बिना किसी साधन के स्वयं ही अनादि काल से सदा सारे शरीरों का एक है ही, तो फिर इस बात की चिन्ता ही नही होनी चाहिये कि मै मर जाऊँगा तो इन वस्तुओ का उपभोग कौन करेगा ? जबकि सबका चेतन ज्ञान स्वरूप आत्मा अजर, अमर, नित्य और सारे शरीरों मे एक ही है, तो फिर असंख्य ब्रह्माण्डो में सारे शरीरो के द्वारा एक ही काल में सब आनन्दों का 'भोक्ता' भी वही हुआ। इसी प्रकार से सब का कर्त्ता भी एक ही हुआ। अतः वैदिक एवं दार्शनिक ऋषिओं ने इस आत्मा को 'महाकर्त्ता', 'महाभोक्ता' कहा है।

कहने का सारांश यह है कि यह कृत्रिम एकता व उसका फल 'अनित्य सुख' ही सारे का सारा 'अकृत्रिम' व 'नित्य' है। जब इन सबका 'कारण' सत् है तो उसका 'कार्य' जगत् भी अवश्यमेव सत् होना चाहिए, क्योंकि कारण का जो 'स्वरूप'

तथा 'गुण' हुआ करता है, वही स्वरूप व गुण उसके कार्य मे भी अवश्यमेव ओतप्रोत या विद्यमान् रहा करता है। चीनी से जो मिठाई बनती है, उस मिठाई में जो माधुर्य है, वही चीनी है। इसी प्रकार जितना भी नाम-रूपात्मक चराचर जगत् है, इसमें जिस वस्तु का भाव (अस्तित्व) है, वही 'सत्' है, जिस वस्तु की 'प्रतीति' (भान) होती है—वही सबका चेतन (ज्ञानरूप आत्मा) 'चित्' है और समस्त संसार के प्रत्येक पदार्थ मे जो एक-दूसरे को अनुकूलता (सुख) की अनुभूति है, वही 'आनन्द' है।

अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जब प्रत्येक पदार्थ मे आनन्द-स्वरूप आत्मा व्याप्त है तो फिर इस शरीर मे अथवा अन्य पदार्थो मे दुःख की अनुभूति क्यो होती है ?

इसका उत्तर केवल इतना ही हो सकता है कि परिच्छिन्न अन्तःकरण के द्वारा हम लोग व्यापक आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। जिस प्रकार एक साधारण थर्मामीटर द्वारा एक काल में केवल एक ही शरीर की अधिक-से-अधिक एक सौ छः, सात या आठ डिग्री तक की उष्णता (हीट) की परीक्षा कर सकते हैं, पिघले लोहे की उष्णता की परीक्षा करने के लिए किसी बड़ी पावर के थर्मामीटर की आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु सारी उष्णताओं के कारण स्वरूप 'सूर्य' की समस्त उष्णता को किसी भी थर्मामीटर से नापना सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार एक साधारण व्यक्ति अपने अन्तःकरण के द्वारा एक काल मे एक ही शरीर में 'सुख' का अनुभव कर सकता है। इससे अधिक समाहित, अपने परिच्छिन्न अहन्ता-ममता-स्वार्थ से रहित अन्तः-करण के द्वारा योगी एक काल में अनेको शरीरो में आनन्द का अनुभव कर सकता है। परन्तु फिर भी अन्तःकरण के द्वारा 'पूर्ण आनन्द' का अनुभव किसी भी प्रकार से कदापि नही कर

सकता, जब तक कि परिच्छिन्न उपाधि से रहित होकर 'पूर्ण' में पूर्णरूप न हो जाए। पूर्णता की अवस्था में कहना-सुनना कुछ भी नही रहता। इसी बात को अब प्रकारान्तर से कहेंगे।

यदि प्रत्येक परिस्थिति मे, प्रत्येक वस्तु मे 'आनन्द' का अनुभव करना हो तो केवल एक व्यक्तिगत अन्तःकरण के द्वारा नही, वरन् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु इत्यादि सभी के दृष्टि-कोण से सुख या दुख को देखिए। तब ज्ञात होगा कि जिस परिस्थिति या वस्तु में हम लोग दुःख देख रहे है, वही देश, काल या वस्तु दूसरे किसी प्राणी के लिए सुखप्रद है और वही सुख किसी अन्य प्राणी के लिए दुःखरूप है। दृष्टान्त सुनिये।

एक गन्दी नाली या विष्ठा मे रेंगते हुए कृमियो पर किसी कर्मवादी धर्मात्मा मनुष्य की दृष्टि पड़ी। देखते ही उस दयालु मनुष्य को बड़ी दया आई और वह सोचने लगा कि इन बेचारो ने पूर्वजन्म मे बहुत ही घोर पाप किए थे, तभी तो ऐसे घोर रौरव नरक, महान दुःख का अनुभव कर रहे है। इन महान् दुःखी जीवो को इस नरक से निकालकर स्वर्ग मे पहुँचा देना चाहिये। ऐसा सोचकर उस कृपालु मनुष्य ने उन कृमियों को उठाकर एक ऐसे मखमली पलंग पर रख दिया जो नाना प्रकार के पुष्पो तथा सुगन्धित द्रव्यो से सजा हुआ था और जिस पर बहुत से सुन्दर मधुर फल, मेवे, मिष्ठान्न रक्खे थे। पर वे कृमि कष्ट के मारे तड़पने लगे तथा उस पुरुष को सैकड़ो गालियाँ देते हुए कहने लगे—'अरे नीच! नारकीय! तेरा सत्यानाश हो! तूने हमें महान् आनन्द से छुड़ाकर घोर नरक में डाल दिया है!'

अब आप स्वयं विचार करेंगे तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि एक ही परिस्थिति या वस्तु एक के लिए स्वर्ग है तथा दूसरे के लिए नरक है। मनुष्य का जो नरक है, वही दूसरे प्राणी के लिए

स्वर्ग है। इस के विपरीत अन्य प्राणियों का जो स्वर्ग है, वही मनुष्यों के लिए घोर नरक है। तात्पर्य यह निकला कि दोनों का नरक सच्चा तथा दोनों का स्वर्ग भी सच्चा, क्योंकि दोनों का अनुभव अपनी-अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार ठीक है, केवल उपाधि का अन्तर है। जिस प्रकार प्रकाश के ऊपर लाल रंग का शीशा (चिमनी) लगा देने से प्रकाश भी 'लाल' दीखने लगेगा, हरे रंग का शीशा लगा देने से वही प्रकाश हरा दिखाई देगा, परन्तु स्वयं प्रकाश का रंग न लाल है, न हरा। वह तो ज्यो-का-त्यों है। इसी प्रकार से आनन्द रूप आत्मा सर्वत्र, सब मे एक जैसा है, परन्तु हम लोग सुख-दुःख रूपी रंगीन शीशे अथवा भावनायुक्त अन्तःकरण रूपी चिमनी प्रकाशरूप आत्मा के समक्ष लगा देते है। इसी कारण से विभिन्न वस्तुओ में, विभिन्न प्राणियो के द्वारा, विभिन्न प्रकार के सुख-दुःखो का अनुभव होता है। अतः यदि मनुष्य उस गन्दी नाली या विष्ठा मे स्वर्ग का निरीक्षण करना चाहता है तो उन कृमियो के दृष्टि-कोण से काम लेना होगा, अपने से नही। इस पर एक और दृष्टान्त देते है।

एक बार बादशाह ने प्रेमी मजनू को अपने पास बुलाकर कहा—'ऐ मजनू! तू बडा ही मूर्ख है जो इतनी कुरूपा, काली-कलूटी इस लैली के लिए इतना मर रहा है। इतनी सुन्दर-से-सुन्दर लडकियाँ तेरे सामने खड़ी है, इनमे से तू जिसे चाहे, चुन ले। उसी के साथ तेरा विवाह कर दिया जाएगा।'

मजनू ने उत्तर दिया—'ऐ बादशाह सलामत! यदि लैली की सुन्दरता को देखना चाहता है तो मेरी आँखों से देख कि वह कुरूपा है या सुरूपा?'

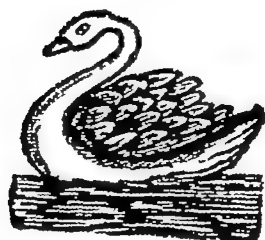
यदि दुःख की किसी भी परिस्थिति को सुख में बदलना

चाहते हो तो स्वार्थमयी एकदेशीय भावना को सर्वहितमयी व्यापक भावना के रूप में बदल देना होगा। क्या आप लोगो ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि किसी नगर के बाहर, जहाँ पर सारे नगर का कूड़ा-कर्कट, गन्दगी, मरे कुत्ते तथा अन्य मरे पशु फेंके जाते है, वही से यदि किसी मनुष्य को रास्ता पार करना हो तो वह नाक पर वस्त्र रखकर बहुत ही कष्टपूर्वक निकलता है। एक मिनिट भी वहाँ ठहर नही सकता। परन्तु उसी स्थान पर चील, कौए, गिद्ध, कुत्ते या गीदड नित्य ही होली मनाते रहते है, प्रसन्नता के मारे फूले नही समाते। तब क्या उस देश-काल या उन प्राणियो मे सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप व्यापक परमात्मा विराजमान् नहीं है ? यदि कहो—'है',—तो फिर वहाँ नरक कैसा ? क्या एक ही देश और काल मे दो विरोधी वस्तुएँ कभी रह सकती है ? कदापि नही, जिस प्रकार एक ही देश-काल मे अन्धकार तथा प्रकाश युगपद नही रह सकते।

स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, कर्त्ता-भोक्ता आदि उस सच्चिदानन्द मे भला कहां समा सकते है ? वह तो देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित है, पूर्ण है। ये सब बाते मन की कोरी कल्पनाएँ या अभिनय मात्र है। लोग केवल मुँह से 'ईश्वर-ईश्वर, परमात्मा-परमात्मा' कहते तो है, परन्तु उसे जानते नही है।

तात्पर्य यह है कि 'यो वै भूमा तत्सुख, नाल्पे सुखमस्ति' अर्थात् एकदेशीय दृष्टि से पूर्ण आनन्द का अनुभव नही कर सकते, पूर्ण से ही पूर्ण का अनुभव होता है। पूर्ण अनुभव होता नही, बल्कि स्वयं अनुभवरूप ही है। इस प्रकार के निश्चय का नाम ही 'अनुभव' है। इसके अतिरिक्त एक ही देश, काल, वस्तु या व्यक्ति तथा एक ही घटना मे सुख और दु ख दोनो ही विद्य-मान् हैं। जो दु ख है, वह भी सुख का द्योतक है।

सर्वात्मभाव का एक जिज्ञासु प्राणिमात्र में निजात्मभाव का अनुभव करना चाहता था। वह एक दिन संयोगवश किसी भयानक वन में जा पहुँचा। सामने से आते हुए भयानक सिंह पर दृष्टि पड़ते ही भय के मारे उसका शरीर शिथिल हो गया, पसीने से सारा शरीर भीग गया, शरीर कांपने लगा। केवल प्राण नही छूटे. बाकी सारी दुर्गति अपने आप ही हो गई। तब वह एक ऐसी दशा मे पहुँच गया जहाँ सारा संसार, शरीर तथा इनके भाव मानो सब लुप्त हो गए हों। ऐसी निर्विकार अवस्था में वह ध्यान करने लगा कि 'सर्व रूप मेरा ही है' अर्थात् वह सिंह और मानव-शरीर दोनों ही आत्मरूप से मेरे निवास-स्थान हैं। ऐसी स्थिति मे उसे दो बातों का अनुभव हुआ। एक तो दुःख के साथ साथ सुख का, दूसरे सर्वात्मभाव की दृढता का। जब सिंह मार्ग छोड़कर वहाँ से किसी दूसरी ओर चला गया, तब उसके आनन्द का कोई अन्त नही रहा,—क्योंकि प्रथम तो उसी सिंह के मिलने से मरने का दुःख था और अब उसी के चले जाने से निर्भयता का आनन्द हो रहा था। इसके अतिरिक्त एक महान् अलभ्य लाभ की प्राप्ति 'सर्वात्मभाव की दृढता' और हुई। इससे स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार दुःख मे भी आनन्द गर्भित है।



# प्राणिमात्र का उद्देश्य

मनुष्यमात्र जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किस कमी को पूरा करने मे लगा रहता है ?

चाहे वह बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, धनवान् हो या निर्धन, राजा हो या रंक, विद्वान् हो या मूर्ख, ज्ञानी हो या अज्ञानी, पापी हो या पुण्यात्मा, रोगी हो या निरोगी, हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध, आस्तिक हो या नास्तिक, चाहे वह किसी भी जाति, देश, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम या समाज का मानने वाला क्यों न हो अथवा विश्वप्रेमी, समाज-प्रेमी, राष्ट्रप्रेमी, मानवमात्र या प्राणिमात्र का प्रेमी एवं हितैषी हो, राजनैतिक या धार्मिक हो, यहाँ तक कि पशु-पक्षी इत्यादि कोई भी शरीरधारीमात्र ही क्यो न हो,—ये सभी नाना प्रकार के साधनों द्वारा क्या चाहते है ?

चाहे वह साधन उचित हो या अनुचित, व्यावहारिक हो या पारमार्थिक अर्थात् नाना प्रकार की विद्या, ज्ञान, विज्ञान, नौकरी, व्यापार, कृषि, शासन, मान, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, धन, बडे-बडे मकान, उत्तम से उत्तम खाद्य पदार्थ, उत्तम से उत्तम वस्त्र, उत्तम से उत्तम सङ्गीत, नाट्य, उत्तम से उत्तम सुगन्धित द्रव्य, संसार के समस्त भोग्य पदार्थो के द्वारा हम लोग क्या चाहते है ?

ज्ञान, योग, भक्ति, सत्सङ्ग, तप, जप, स्वाध्याय, तीर्थ-यात्रा, सेवा, पूजा, त्याग, मोक्ष, समाधि, ईश्वर-प्राप्ति, स्वर्ग, वैकुण्ठ

इत्यादि नाना स्थानो एवं पदार्थो के द्वारा किस लक्ष्य की खोज मे लगे हुए है ? कौन-सी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये सारा जीवन समाप्त कर देते हैं ?

आइये, इस गूढ प्रश्न पर कुछ थोड़ा-सा विचार करें कि वह कौन-सी कमी या लक्ष्य है जिस को हम पूरा करना चाहते है और जो सारे विश्व का सम्राट् बन जाने पर भी हम मे ज्यों की त्यो बनी रहती है ? बहुत ही गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर पता लगता है कि हम सब के सब परोक्ष या अपरोक्ष रूप मे, ज्ञात या अज्ञात रूप मे केवल 'आनन्द' की ही खोज में लगे हैं। हम किस प्रकार का आनन्द चाहते है ?—स्थायी और अधिक से अधिक अर्थात् नित्य एवं पूर्ण—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।'

यदि किसी से भी प्रश्न किया जाय—'नाना प्रकार के शुभा-शुभ कर्म करने से आपका क्या तात्पर्य है ?' उत्तर मे वह भले ही कह देवे—'जी, देश की सेवा, लोगो के सुधार, मानव-मात्र की भलाई, धर्म-प्रचार, संगठन, शान्ति-स्थापना, नाना प्रकार की विद्या व ज्ञान-प्राप्ति, धन एकत्रित करने, मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति एवं ऋद्धि-सिद्धि अथवा ईश्वर, मोक्ष, शान्ति समाधि इत्यादि प्राप्त करने के लिये साधन व कर्म कर रहे है।' ठीक है,—परन्तु इन सब उद्देश्यों के पर्दे मे ऐसी कौन-सी वस्तु छिपी है जिसको अज्ञात रूप मे चाहते हो ? इसका उत्तर फिर वही आ सकता है कि 'नित्य सुख के लिये।' ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है कि लोगो ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये या देश की स्वतंत्रता के लिये अथवा किसी परोपकार के लिये अपने प्राण तक भी बलिदान किये हैं, कर रहे हैं या करते रहेंगे । इसमें भी

यही सिद्धान्त गर्भित है कि अपनी या लोगों की सुख-शान्ति के लिये ही ये सब कार्य किये जाते हैं।

एक बार अमेरिका के प्रेसीडैण्ट इब्राहम लिङ्कन अपने कार्यालय को जा रहे थे। उन्होंने रास्ते में देखा कि एक सूअर किसी कीचड़ या दलदल में फँसा हुआ चिल्ला रहा है और जितना ही निकलने का यत्न करता है, उतना ही और अधिक फँसता जाता है। इब्राहम ने देखा तो वे उसे इस दशा में छोड़ कर आगे नही जा सके। 'कार' वही खड़ी की और उन्ही वस्त्रों में जाकर सूअर को बाहर निकाल दिया। कपडे कीचड से खराब हो गये। वे उसी प्रकार से आफिस में चले गये। बड़े-बड़े कर्मचारियों ने प्रधान जी के वस्त्रों को देखा और कारण ज्ञात किया तो सभी कर्मचारी बड़ी प्रशंसा करने लगे कि आप तो बड़े ही दयालु हैं, आप जैसा तो कोई कर ही नही सकता। तब इब्राहम ने कहा—'क्यों व्यर्थ झूठ बोल रहे हो? मैंने उस सूअर के ऊपर ऐसी कौन-सी दया की है जो इतनी प्रशसा कर रहे हो। मैंने तो केवल अपने ऊपर दया की है। जब उस को चिल्लाते हुए देखा तो मुझे बड़ा विक्षेप (दुःख) हुआ और उसे मिटाने के लिए ही मैंने ऐसा किया। सूअर के ऊपर मैंने कोई उपकार नहीं किया।'

इसी प्रकार जिन लोगो ने देश की सेवा अथवा अन्य किसी प्रकार के परोपकार के लिये नाना प्रकार के कष्ट सहे या प्राण तक दिये, यदि ऐसे महानुभावो के अन्दर इसके कारण की खोज की जाय तो ज्ञात होगा कि उन लोगो के भीतर वैसा करने के लिए बड़ी प्रचण्ड कामनाग्नि जलती रहती थी जिसकी वेदना बड़ी असह्य होती थी। उसी को शान्त करने के लिये वे लोग ऐसा बलिदान किया करते थे और आगे भी करते रहेंगे।

क्रान्तिकारी भगतसिंह ने अपनी बहिन के सामने जलते हुए दीपक की लौ के ऊपर हाथ रखा। जलते-जलते हाथ मे छिद्र हो गया, फिर भी उफ तक नही की। इतनी कठोरता व साहस का कारण पूछने पर उन्होने बतलाया—'इससे हजारो गुनी अग्नि तो हमारे अन्दर जल रही है।' इस से ज्ञात होता है कि कोई भी किसी प्रकार का उपकार किसी दूसरे के ऊपर नही करता, वरन् अपने-अपने दु:ख व विक्षेप को मिटाने के लिए ही सारे उपचार किये जाते है। अस्तु!

यह परम रमणीक (अति सुन्दर) आनन्द हमे इतना प्रिय क्यो है कि हम इसके लिए शरीर, प्राण, पुत्र, स्त्री, धन, मकान, कुटुम्ब, परिवार, मित्र, सम्बन्धी, धर्म, कर्म, ईश्वर, जाति, मजहब, राष्ट्र, समाज, वर्ण, आश्रम, देश, काल इत्यादि सब का तृण के सदृश परित्याग कर देते है? केवल इसलिये कि यह आनन्द अपना आत्मा अर्थात् अपना आपा है। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'—अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ जो एक दूसरे को प्रिय है, वे उस सम्बन्धी अथवा पदार्थ के लिये प्रिय नही है, वरन् आनन्द स्वरूप अपने आत्मा के लिये ही प्रिय हैं, क्योंकि आनन्द ही परम प्रेम का आस्पद है। संसार के प्राणों से भी अत्यन्त प्रिय पदार्थ अपने स्वार्थ (आनन्द) मे किञ्चित् भी अन्तर आते ही काल की भांति प्रतीत होने लगते हैं।

नारद जी ने विष्णु भगवान् को शाप दिया था, भर्तृहरिजी ने प्राणप्रिया पिङ्गला का त्याग कर दिया था, हिरण्यकशिपु ने पुत्र प्रह्लाद को, मीरा ने पति को, भरत ने माता कैकेयी को, ध्रुव ने पिता को, विभीषण ने भ्राता रावण को, शिष्यों ने ईसामसीह को, मुरीदों ने हसन-हुसेन को तथा देश-हितैषी

भगतसिह, राजगुरु, चन्द्रशेखर, सुभाषबाबू इत्यादि ने शरीर व प्राणो को तृण के समान त्याग दिया था। इन सब घटनाओं से ज्ञात होता है कि व्यष्टि व समष्टि रूप में स्वार्थ (स्व+अर्थ=स्वार्थ=आनन्द) के लिये ही ऐसा किया जाता है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक सबकी अनुभवसिद्ध प्रत्यक्ष युक्ति उपस्थित की जाती है।

किसी व्यक्ति का अपने एक युवा पुत्र में बहुत ही प्रेम है जो कि बहुत ही सुन्दर, विद्वान्, योग्य तथा पिता का परमभक्त है। पिता को पुत्र प्राणों से भी प्यारा है। मै ऐसे पिता से प्रश्न करता हूँ कि आपका प्रेम किस वस्तु में है? पिता कहता है-'पुत्र मे।' मैं कहता हूँ—'कदापि नहीं, तुम्हारा प्रेम किसी और वस्तु में है जिसका तुमको ज्ञान नही है।' फिर भी पिता कहता है—'पुत्र के अतिरिक्त और किसी वस्तु में मेरा प्रेम नही है।' मैं फिर कहता हूँ-'आप भूल में है, आपका प्रेम पुत्र मे कदापि नही।' वह नही मानता, हठ करता है। दैवयोग से पुत्र की मृत्यु हो जाती है। अब वही पिता शिर-छाती पीटता है, रोता-चिल्लाता है। तब मै फिर पूछता हूँ—'इतना रो क्यो रहे हो?' तो कहता है—'देखते नही हो, लड़के की मृत्यु हो गई है।' मैं कहता हूँ—'लड़का तो आपका ज्यो-का-त्यो सर्वाङ्गपूर्ण लेटा हुआ है, आपको चिन्ता किस बात की? आपकी प्रिय वस्तु तो आपके सामने पड़ी है।' 'पर अब भी उसकी समझ में यह बात नही आ रही कि हमारे प्रेम की वस्तु कौन सी है? इतना रो-पीटकर भी अभी आँखें नही खुली।

इसके बाद वही पिता अपने ही हाथो से लकड़ियां चुनकर, उसी पुत्र को अपने ही हाथो से उठाकर चिता के ऊपर रखता है और अपने ही हाथो से अग्नि लगाकर, अपनी आंखो के सामने ही

अपने उस प्राणप्यारे पुत्र को जलता हुआ देखता है। इतनी कठोरता, इतनी निर्दयता, ऐसा क्रूर व्यवहार तो कोई अपने शत्रु के साथ भी नही करता। तब मैं फिर पूछता हूं—'अपने प्राणप्रिय पुत्र के साथ इतनी निष्ठुरता ? क्या अभी तक आपकी आंखें नहीं खुली ? विचारिये कि इस में आप की प्रिय वस्तु कौन-सी है जिसका अभी तक पता नही चला ?'

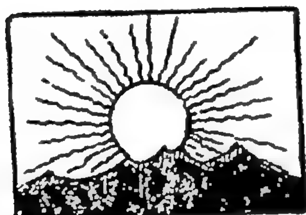
यही व्यवहार पुत्र-माता, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य अथवा सभी प्रेमी या सम्बन्धी एक-दूसरे के साथ करते ही रहते है। अब मैं अन्त मे सबसे फिर प्रश्न करूँगा कि ऐसी कौन-सी आपकी प्यारी वस्तु है जिसके न रहने पर उसी प्रेम-पात्र को जलाकर राख बना दिया जाता है ? अब इन लोगों की आंखें खुली कि हाँ, हमारे प्रेम की वस्तु यह शरीर तो नही है जिसको हम अपना प्रेम-पात्र समझते थे। तो फिर वह कौन सी वस्तु है जिसको जानते तो नही, किन्तु प्रेम करते हैं ? हाँ, तो ठीक है, विचार (अनुभव) करने से ज्ञात होता है कि इन शरीरों को सुन्दर, रमणीय, शक्तिशाली, गतिशील बनाने वाली जो इनमे चेतन शक्ति अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्मा है, वही परम प्रेमास्पद स्वरूप, सबका आपा, 'चेतन-स्वरूप' आत्मा है।

जब किसी का कोई भी प्रेमी सम्बन्धी मर जाता है तो इसी चेतन आत्मा के लिये ही रो-रोकर, शिर-छाती पीट-पीट कर पागल हो जाते है, खाना-पीना त्याग देते है। बहुत दिनो के पश्चात् कुछ शान्ति आती है। इतनी व्याकुलता उसके शरीर के लिये नही होती, क्योंकि वह तो आगे पड़ा होता है। इससे स्पष्ट है कि जीवनपर्यन्त हर प्रकार के साधनों द्वारा हम जिस वस्तु की खोज करते रहते हैं, वह केवल आनन्दस्वरूप अपना आत्मा ही है।

वह आनन्द दो प्रकार का है—सोपाधिक और निरुपाधिक। सोपाधिक आनन्द उसे कहते हैं जो किसी-न-किसी साधन, उपाधि या विषय के सम्बन्ध से अनुभव मे आये। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधि या शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा इत्यादि साधनों के द्वारा जो आनन्द क्षणिक अनुभव मे आता है, उसी को अधिक और स्थायी बनाने का उपाय जीवन पर्यन्त करते रहते है। परन्तु यह सोपाधिक आनन्द तभी तक अनुभव में आता है, जब तक विषय (भोग्य) तथा भोक्ता का सम्बन्ध रहता है, आगे-पीछे नही आता। इस प्रकार के आनन्द से आज तक किसी को भी स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसलिये आइये, उस सच्ची शान्ति व सच्चे सुख की खोज करें जिसकी हम लोगों को हार्दिक जिज्ञासा है। मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ कि निरुपाधिक आनन्द ही हमारे मतलब की वस्तु है। निरुपाधिक आनन्द कहाँ है? उसका स्वरूप क्या है? वह कैसे प्राप्त हो सकता है? पहले संक्षेप में इसका विचार किया जाता है, विस्तारपूर्वक विचार बाद मे किया जायेगा।

वास्तव मे सच्चा आनन्द अपने आप मे है। वह मन और वाणी से अतीत स्वयंसंवेद्य है। सत्संग तथा अपरोक्ष ज्ञान उसकी प्राप्ति के साधन है। जहां तक मन-वाणी की पहुँच है, वहाँ तक सोपाधिक आनन्द ही है, इसलिए निरुपाधिक आनन्द कथन-चिन्तन की वस्तु नही है,—अनुभवगम्य है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्था मे वृत्तियो की समाप्ति होकर निर्विकल्प समाधि या तुरीय अवस्था मे स्थिति होती है, तव निरुपाधिक स्व-आनन्द की अनुभूति होती है। सारांश यह है कि जिस समय यह पूर्ण-रूप से अनुभव होने लगे कि केवल एक सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म स्वयं अपना आप ही अपनी महिमा में पूर्ण है, वही सर्वरूप

है और वह देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित है। उसका कथन-चिन्तन नहीं हो सकता अर्थात् वह स्वयं ही अपने आपको देखता है, सुनता है, सूंघता है, खाता-पीता है, स्पर्श करता है, चिन्तन करता है, निश्चय करता है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इत्यादि त्रिपुटीरूप भी वह स्वयं ही है। इसलिए सबसे प्रथम उस अपने आपे (स्वयं) का ही पता लगाना चाहिए।



# अपना उद्धार ही सारे विश्व का कल्याण है

जगत् का उद्धार करने वाले समस्त कर्णधार यदि सारे विश्व का सुधार करने से प्रथम अपना-अपना व्यक्तिगत सुधार ही कर लिया करें तो मैं समझता हूं कि सारे जगत् का उद्धार अति शीघ्र तथा सुगमतापूर्वक हो सकता है।

यदि किसी ठोस पदार्थ को एक स्थान से अन्यत्र हटाना हो तो उस सम्पूर्ण को पकड़कर खींचने की अपेक्षा उस का एक कोना ही पकड़कर खींचने से वह सरक कर दूसरे स्थान पर आ जायेगा। यह सारा विश्व भी एक ठोस वस्तु के सदृश है और हमारा मन, बुद्धि, प्राण, शरीर इत्यादि व्यक्तित्व इसी संसार का एक विशेष भाग है। अतः अपने उद्धार से समस्त विश्व का उद्धार सहज ही हो जायेगा।

किसी रोगी के रोग की चिकित्सा करने से पहले ही यदि रोग के कारण की खोज करके चिकित्सा की जाय तो फिर उसे रोग-मुक्त करने मे कोई कठिनाई एवं विलम्ब न होगा। रोग के कारण को जाने बिना लाख यत्न करने पर भी रोगी कभी दु.ख व रोग से मुक्त नही हो सकेगा। इसी प्रकार विश्वरूपी रोगी के सारे दु:खो व रोगों का मूल कारण है—'अपने आप का अज्ञान।' इसी कारण सारा संसार गिरा हुआ, भूला हुआ, बिगड़ा हुआ

और महान् पतित व अधम भास रहा है। इन सब त्रुटियो व रोगो का प्रधान कारण अपने ही दूषित संकल्प है जो नाना प्रकार के अनात्माभिमान, पक्षपात, स्वार्थ, आसक्ति एवं राग इत्यादि कारणो से उत्पन्न होते हैं।

उत्कृष्ट या निकृष्ट जैसे भी संस्कार (विचार) हमारे मन मे अंकित होते हैं, उन्हीं के अनुसार हम अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं एवं सारे जगत् की रचना कर लेते है तथा उन्ही के अनुसार सारे विश्व मे गुण-दोष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख इत्यादि का अपने मे या अपने से बाहर सारे जगत् मे अनुभव करते या देखते है।

किसी व्यक्ति के नेत्रो के ऊपर जिस रंग का चश्मा लगा होगा, उसे सारा ससार या सारे संसार के पदार्थ उसी रंग में रंगे हुए दिखाई देगे। परन्तु वास्तव मे उसके नेत्रों की उपाधि (ऐनक) के कारण ही ऐसा होता है। ठीक इसी प्रकार दृश्य संसार के समस्त गुण-दोष हमारी विवेक-दृष्टि पर छाई उपाधि रूपी ऐनक (अज्ञान) के ही परिणाम है। वास्तव मे तो हम जगत् को दोषपूर्ण ही नही कह सकते जिसे सुधारने के लिये नाना प्रकार के छल, बल, विद्या, बुद्धि, सस्था, सभा, पार्टी, सोसाइटी, मजहब, सम्प्रदाय, चन्दा, निन्दा, खण्डन, मण्डन, कलह, विद्वेष, संघर्ष, रक्पात, पक्षपात, कान्फ्रेन्स इत्यादि साधनो की आवश्यकता पड़े। हम इनसे विश्व का सुधार नही कर सकते बल्कि अपनी-अपनी पाशविक वृत्तियो की पूर्ति के लिए ही इन नाना प्रकार के उपायो, उपचारो को प्रयोग मे लाते है और अपनी रक्षा के लिये इनसे ढाल का काम लेते हैं।

क्या आज तक किसी ने जगत् का सुधार किया है? बडे-बड़े पथ-प्रदर्शक—राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक, कबीर,

दयानन्द इत्यादि जिन्हें लोग अवतार, प्राणिमात्र के हितैषी, निर्दोष, पवित्र, महानुभाव मानते है तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ऋषि, मुनि, महात्मा, पीर और पैगम्बर आये। इन सभी ने इस जगत् को कुत्ते की पूंछ की भाँति कुछ सीधा करने की चेष्टा, उपाय किये, परन्तु वह फिर भी अभी तक टेढ़ी की टेढ़ी ही नही, वरन् अब पहिले से भी और अधिक टेढ़ी ही होती जा रही है।

क्या उन सुधारकों के समय की अपेक्षा आज का जगत् अधिक सुखी, शान्त व संगठित हो गया है? पहिले की ही तरह क्या अब भी लोग माता के गर्भ से जन्म लेकर, तरुण होकर नाना प्रकार के रोगों से अथवा अकाल मे ही मृत्यु को प्राप्त नहीं हो रहे है? क्या अब एक राष्ट्र का किसी दूसरे राष्ट्र के साथ, एक पार्टी का किसी दूसरी पार्टी के साथ, एक समाज का किसी दूसरे समाज के साथ, एक जाति का किसी दूसरी जाति के साथ, एक सम्प्रदाय का किसी दूसरे सम्प्रदाय के साथ, एक धर्म का किसी दूसरे धर्म के साथ या एक व्यक्ति का किसी दूसरे व्यक्ति के साथ कलह, विद्वेष, संघर्ष और रक्तपात नही हो रहा है?

क्या अब इस देश और अन्य सारे देशों के लोग पहिले से अधिक समृद्धिशाली या सुखी हो गये है? क्या अब सारे राष्ट्रों में से भूख, बेकारी, निर्धनता, वैमनस्य, अन्याय, जुल्म, अत्याचार, झूठ, पाखण्ड, छल, छिद्र, लोभ, जूआ, चोरी, व्यभिचार, राग, द्वेष, ब्लैक मार्केट, रिश्वत इत्यादि समाप्त हो गये हैं? क्या अब सभी मनुष्य धर्मात्मा, ईश्वरभक्त, देशहितैषी, दानी, दयालु, न्यायकारी, परोपकारी, सदाचारी, चरित्रवान्, निष्पक्ष, ज्ञानी, विद्वान्, अनुभवी, सत्यवादी, आत्मपरायण और निर्भय हो गये

हैं? क्या देश, समाज एवं प्राणिमात्र का हित करने वाले सद्गुण संसार में अब पहिले से अधिक व्याप्त हो गये है? क्या अब अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, तूफान, महामारी, दुर्भिक्ष इत्यादि दैवी प्रकोप नही होते? यदि ऐसा नही है तो फिर जगत् का क्या सुधार हुआ? इसलिये जिन्होंने भी जगत् मे निःस्वार्थभाव से कुछ परोपकार किये है या करेगे, वे प्रथम स्वयं योग्य बनकर अर्थात् अपने आपको सुधार कर ही कुछ कर सके थे और कर सकेंगे।

जो शिक्षा हम किसी दूसरे को देना चाहते है, उसे देने से प्रथम उसका ठीक-ठीक पूर्णरूप से यथार्थ अनुभव होना हमारे लिये भी परमावश्यक है। यही अपना व्यक्तिगत सुधार है। जिस प्रकार रोगी दूसरे रोगी की चिकित्सा नही कर सकता, एक अन्धा किसी दूसरे अन्धे को मार्ग नहीं दिखला सकता, एक बंधा हुआ किसी दूसरे बँधे हुए को मुक्त नही कर सकता, एक कृपण किसी दूसरे व्यक्ति को उदारता का उपदेश नहीं दे सकता या एक व्यभिचारी किसी व्यक्ति को सदाचार की शिक्षा नही दे सकता,— इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वयं सदोष है, वह किसी दूसरे को निर्दोष अर्थात् जगत् का सुधार नही कर सकता। अस्तु।

ईश्वरवादी सारी सृष्टि को ईश्वर की ही रचना मानते हैं। ईश्वर ने इतनी गलती क्यो की जिसे सुधारने के लिये इतने बड़े-बड़े सुधारको की आवश्यकता पड़ती है? क्या ईश्वर इतना नालायक, बुद्धिहीन, अल्पज्ञ है कि उसके बनाये हुए जगत् को सुधारने की इतनी चिन्ता व व्याकुलता आज हम लोगों को करनी पड रही है? यदि कोई यह कहे कि ईश्वर अपनी त्रुटियो को ठीक करने के लिये या तो स्वयं आता है या किन्हीं दूसरो को समय-समय पर भेजता रहता है,— तब तो फिर ज़ार बादशाह

से अधिक उसका कोई महत्त्व ही नही। फिर तो वह शक्तिहीन, अल्पज्ञ, किसी देश विशेष में बैठा हुआ एक राजा मात्र ही रहा। फिर वह इतने बडे-बडे ब्रह्माण्डों, सूर्य-चन्द्रादि ग्रहो एवं पञ्चमहाभूतों का निर्माता कैसे हो सकता है ?

यदि कोई यह कहे कि नाना प्रकार के दोष-गुणयुक्त नाम-रूपात्मक कारण-कार्य सहित यह जगत् अपने सङ्कल्प (मन) से ही उत्पन्न होता है, तब प्रश्न होता है कि यह शरारत का पुतला, सारे विक्षेपो, बन्धनो या शुभाशुभ (स्वर्ग-नरकादि) का कारण मन कहाँ से और क्यों आया ? कर्मवादी फौरन बोल पड़ेगे कि पूर्वकृत कर्मवशात् आया। परन्तु इस पर एक ही प्रश्न ऐसा है कि कर्मफलवादी सुनते ही मौन हो जायेगे। बताइये,—प्रथम बीज हुआ या वृक्ष ? मुर्गी हुई या अण्डा ?

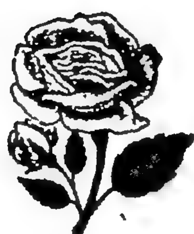
मनुष्य के सारे शुभाशुभ कर्म शरीर और मन से ही तो होते है, बिना कर्म के शरीर व मन की उत्पत्ति हो ही नही सकती। तो फिर इन शरीर और कर्म में कारण कौन है तथा कार्य कौन है ? इसका उत्तर न होने से बाध्य होकर, बिना किसी कर्ता व कर्म के, इस जगत् को धारा-प्रवाह रूप से अनादि मानना पडेगा और तभी सर्वशक्तिमान् मनुष्यों के द्वारा कुछ सुधार की सम्भावना भी हो सकती है जैसा कि प्राचीन भारतीय विशेषज्ञ अनुभवी विद्वान् ऋषि-मुनियों अथवा आधुनिक काल के पाश्चात्य वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं नेताओं द्वारा जगत् के प्राणियो का बहुत कुछ उपकार हुआ है और आगे भी होता रहेगा।

वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, कारणरूप केवल एक चेतन आत्मा ही कार्यरूप जगत् में पूर्ण हो रहा है। छान्दोग्य की श्रुति कहती है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत ।'

अर्थात् यह सारा नामरूपात्मक जगत् निश्चय करके ब्रह्म रूप है तथा सारे जगत् का उसी से जन्म और उसी में लय होता है । ऐसा जानकर शान्त चित्त से उपासना (ध्यान) करो अथवा एकता का निश्चय ही शान्ति का उपाय है अर्थात् इस प्रकार का अनुभव ही अपने-अपने आत्मा का कल्याण और विश्व का परम सुधार है ।

न थी जब कि हमको अपनी खबर,<br>
रहे देखते औरों के ऐबो हुनर ।<br>
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नज़र,<br>
तो निगाह मे कोई बुरा न रहा ॥



# अपना पता लगाइये

एक कहावत है—'घर का योगी योग्य न, आन गांव का सिद्ध ।' यही बात यहां भी चरितार्थं होती है कि हम नाना प्रकार के साधनो द्वारा सारे संसार को छान डालते है, परन्तु अपने अन्दर झाँक कर नही देखते कि जिस वस्तु के पाने के लिये हम बाहर इतने व्याकुल हो रहे है और वह अभी तक मरु-भूमि के जलाभास की भाँति बराबर दूर ही भागती जा रही है, हाथ ही नही लग रही वह क्या है, कहाँ है ? जो वस्तु आपकी जेब में होगी, वह क्या बाहर खोजने से प्राप्त हो सकती है ? कदापि नही । जिन लोगों को स्थायी विश्राम प्राप्त हुआ है, उन्हें अपने अन्दर ही हुआ है, बाहर नही ।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि अपने ही अन्दर है तो अनुभव क्यो नहीं होता ? उत्तर है कि अनुभव तो हो रहा है, परन्तु मानते नही । जिस प्रकार संसार के किसी भी दृश्य पदार्थ के दीखने से प्रथम प्रकाश का दर्शन होता है और प्रकाश से भी प्रथम प्रकाश का दृष्टा ज्ञान-स्वरूप आत्मा स्वतः सिद्ध है जिसके बिना प्रकाश सहित दृश्य देखने में आ ही नही सकता। किन्तु अधिकांश लोग प्रकाश एवं दृष्टा को महत्व न देकर दृश्य को ही महत्व देते है । जिस ज्ञान तत्त्व के बिना दृश्य या दर्शन का ज्ञान कदापि हो ही नही सकता, उसको वे समझते ही नहीं । यही सर्वप्रकाशक आत्मा का अज्ञान है ।

अथवा जिस प्रकार से मृत्यु और संसार की अनित्यता का अनुभव तो सभी को हो रहा है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में क्रियात्मक रूप से इसे कोई विरला ही मानता है। मेरे विचार में तो यह बात आती है कि यदि सारे संसार के सारे मनुष्य क्रियात्मक रूप से इस बात को मानने लग जायें कि 'मृत्यु है जो सारे संसार के प्राणिमात्र को समाप्त करती रहती है और मुझे भी एक दिन चट कर जायगी', तो मैं यह बात प्रतिज्ञापूर्वक कह सकता हूँ कि सारे संसार से नाना प्रकार के अनर्थ, पाप, अन्याय, कलह, विद्वेष आदि सदा के लिये समाप्त हो जायेंगे। फिर तो यही ससार, जो अधिकांश मे घोर नरक का रूप धारण किये हुए है, पूर्ण रूप से स्वर्ग बन सकता है।

जो बड़े-बडे राष्ट्रवादी नाना प्रकार की विध्वंसक वैज्ञानिक शक्तियो एवं नाना प्रकार के छल, छिद्र के द्वारा परस्पर एक-दूसरे का विनाश करने पर तुले हुए है, वे ऐसा न करके, सारे संसार के मनुष्यमात्र को अपना भाई और संसार भर को अपना देश समझते हुए, इन्हीं विध्वंसक शक्तियों को प्राणिमात्र की भलाई, हित या सुख-शान्ति के लिए ही प्रयुक्त करने लग जायँ। किसी व्यक्ति, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक संस्था, मजहब, सम्प्रदाय अथवा किसी राष्ट्र के द्वारा हमेशा से जो-जो अनर्थ या अन्याय होते आये हैं या हो रहे हैं,—तब वे सब कभी न होगे। अस्तु! वस्तु को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी व्यावहारिक जीवन मे क्रियात्मक रूप से उसे न मानने का नाम ही तो प्रमाद या अज्ञान है। नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप अपने आत्मा की समस्या भी ठीक इसी प्रकार की है। अन्दर प्रत्यक्ष भान होते हुए भी आनन्द या ईश्वर की खोज बाहर कर रहे हैं।

हम कही, कभी भी विश्राम नही पाते। जब पाते हैं तो बाहर

से सर्वथा निराश होकर अपने आपे में ही विश्वास करने से पाते है। चाहे आधिभौतिक उन्नति का लक्ष्य हो अथवा आध्यात्मिक का, अपने ही भीतर से हर एक ज्ञान या वस्तु का विकास या प्रकाश होता है। प्रथम व्यावहारिक अर्थात् आधिभौतिक समस्या पर विचार किया जाता है। आज तक बड़े-बड़े वैज्ञानिक-दार्शनिक विद्वानों, ऋषि-मुनियो ने जितनी भी नाना प्रकार की वैज्ञानिक वस्तुओं, दर्शन शास्त्रों या विद्याओं के आविष्कार किये है, वे क्या केवल बाह्य साधनों द्वारा किए गये हैं अथवा भीतर मस्तिष्क की ज्ञान-शक्ति के द्वारा इन चमत्कारिक वस्तुओं के आविष्कार किये हैं?

नाना प्रकार की वैज्ञानिक वस्तुएं, रेल, तार, टेलीफोन, वायु-यान, रेडियो, कैमरा, वायरलैस, सिनेमा, दूरवीक्षण, टेलीविजन, भारतीय व पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र अथवा विभिन्न प्रकार की डाक्टरी, आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषधियाँ जो हम लोगों के प्रयोग मे आ रही है, इन सबका भी किसी-न-किसी के मस्तिष्क से ही प्रादुर्भाव हुआ है और आगे भी होता रहेगा। संगीत, नाट्य फिलम, सिनेमा, वाद्य, विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य इत्यादि संसार के अन्तर्गत जितने भी रमणीक, आनन्ददायक, परमोपयोगी भोग्य पदार्थ हम लोगो के उपभोग मे आ रहे है,—क्या वे केवल प्राकृतिक ही हैं? क्या इन वस्तुओ का किसी-न-किसी के मस्तिष्क से आविष्कार या प्रादुर्भाव नही हुआ?

इन प्रत्यक्ष प्रमाणो से यह बात स्पष्ट हो गई कि यह मनुष्य ही वास्तविक सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। इससे पृथक् बाह्य ईश्वर इस मनुष्य का 'मानस-पुत्र' है। इस वाक्य से द्वैतवादी घबड़ा जायेगे, किन्तु वेदान्त शास्त्र ने ६ अनादि तत्वो मे से केवल ब्रह्म

(चेतन सत्ता) को ही अनादि माना है। शेष ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत् एवं कर्म को सर्वाधिष्ठान चेतन मे अध्यस्त अर्थात् कल्पित माना है। इसलिए बाह्य ईश्वर को मनुष्य का 'मानस-पुत्र' कहना शास्त्रविरुद्ध नही है।

विधि (अन्वय) पक्ष मे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म—अर्थात् यह चराचर जगत्, पाँचो तत्वो सहित, निश्चय करके ब्रह्मरूप है। अतः यह मनुष्य ही नाना प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, विद्या, बुद्धि, ऋद्धि, सिद्धि, आनन्द, शान्ति, कला, कौशल इत्यादि समस्त विभूतियो या शक्तियो का स्रोत, केन्द्र, भण्डार, कारण एवं उद्गम-स्थान है।

बाह्य साधनों से तो इन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, उत्पत्ति नही होती। जिस प्रकार न्यूटन ने साधनो या घटनाओ से गुरुत्वाकर्षण शक्ति की खोज मात्र की, कोई नवीन वस्तु उत्पन्न नही की, क्योकि उनके खोज करने से प्रथम यदि गुरुत्वाकर्षण-शक्ति होती ही नही तो चन्द्र. सूर्य, पृथ्वी, ग्रह, उपग्रह इत्यादि स्थित कैसे रहते? कारण रूप से प्रत्येक वस्तु विद्यमान रहती है, प्रयोग या साधन करने से उसी का कार्य रूप से प्रादुर्भाव होता है।

जिस प्रकार एलेक्ट्रान-प्रोटान अथवा नैगेटिव-पोज़ेटिव प्वाइन्ट का मेल ही कार्यरूप विद्युत की उत्पत्ति तथा प्रकाश होने में कारण होता है, इसी प्रकार पुरुष तथा प्रकृति अर्थात् चेतन तथा जड़ का संयोग ही नाना प्रकार के कार्य रूप नाम-रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति मे कारण है। ये दोनो शक्तियाँ नित्य व अनादि है, किन्तु स्वरूप से दोनो एक ही है—जिस प्रकार कि नैगेटिव तथा पोजेटिव प्रथक्-प्रथक होने पर भी दोनो विद्युत करैण्ट एक ही

है। यदि दोनों एक न हों तो विरोधी होने से एक देश, काल में कभी स्थित ही नहीं रह सकते ।

पृथ्वी के भीतर नाना प्रकार के खनिज पदार्थ- हीरा, सोना, चाँदी, कोयला, पत्थर, तेल, जल इत्यादि विद्यमान् है। परन्तु उनसे हमे कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि ऊपर का परदा या आवरण हटाकर उनको प्रत्यक्ष न कर लिया जाय। इसी प्रकार लोक में जितने भी साधन है, वे केवल परदा हटाने के लिए ही हैं, वस्तु को उत्पन्न करने के लिए नही। आत्मा अर्थात् अपने आपे मे सर्व प्रकार के आनन्द, ऋद्धि, सिद्धि, ऐश्वर्य, मुक्ति, शान्ति, स्वर्ग, वैकुण्ठ, ईश्वर आदि गर्भित है। साधनो से केवल इनको प्रत्यक्ष करके, इनके ऊपर विश्वास करने और इन्हें मानने लग जाते है अर्थात् अनुभव करने लगते है।

अनुभव दो प्रकार का होता है—भेद तथा अभेद। जैसे गवर्नमैन्ट के खजाने या किसी सेठ की तिजोरी मे लाखों, करोड़ो रुपये देखने मे आते है, परन्तु उन रुपयों से हमे कोई लाभ नहीं क्योकि अपने पास तो एक पैसा भी नही देखते। क्या इस प्रकार से दूसरे का रुपया देखने से हमारी दरिद्रता दूर हो सकती है जब तक कि उस रुपये को अपना अनुभव न कर लिया जाय ? जब हम दूसरे के पास रुपये का अनुभव करते है, तब भी वह संसार मे ही है और जब हम उसे अपने पास अनुभव करेगे, तब भी वह संसार मे ही रहेगा तथापि जब तक रुपया दूसरे के पास है तब तक हम उसका उपयोग नही कर सकते, अपने पास होने पर ही उपयोग कर सकते है। इसी प्रकार जिन शक्तियों तथा आनन्द को हम अपने से भिन्न, किसी दूसरे, ईश्वर या अन्य किसी देश, काल मे मानते है और नाना प्रकार के साधनो द्वारा उनके लिए याचना करते रहते है, तब तक हमे कभी भी सुख या

शान्ति का अनुभव नही हो सकता। जब हम इन शक्तियो को दूसरे (ईश्वर) मे मानते थे, तब भी वे अपने आपे मे ही थी और जब उन्हे अपने आपे मे अनुभव करते है, तब भी वे अपने अन्दर ही रही। परन्तु जब तक 'अहं' या 'मम' के रूप में अपने आपे का अनुभव न कर ले, तब तक हम उनका उपयोग नही कर सकते।

इस सर्वशक्तिमान् मनुष्य की अल्पज्ञता का दिग्दर्शन तो कीजिये ! यह स्वयं ही पर्वतो से शिला निकालकर अपनी भावना के अनुसार नाना देवी-देवताओ की मूर्तियाँ बनाता है, स्वयं ही लाखो-करोडो रुपये लगाकर बड़े-बडे विशाल मन्दिरो का निर्माण करता है। फिर स्वयं ही बड़े-बड़े विद्वानो द्वारा मूर्तियो की प्राण-प्रतिष्ठा कराता है, स्वयं ही अपनी भावना द्वारा आरोप करके उनमे नाना प्रकार की शक्तियो एवं गुणो को भरता है और फिर स्वयं ही दीन, हीन, दुःखी बनकर उन्ही देवी-देवताओ से कृपा की भीख माँगता है।

ध्यान तथा भावना करते-करते जब किसी ध्येय के ऊपर वृत्ति एकाग्र हो जाती है तो उसका वह संकल्प पूरा हो जाता है। तब वह समझता है कि प्राप्त वस्तु उस देव की कृपा से ही प्राप्त हुई है। यदि उस देव मे इतनी शक्ति और इतनी उदारता होती तो सभी उपासको की कामनाये पूरी हो जानी चाहिये थी, किन्तु निन्यानवे प्रतिशत उपासक-भक्त कोरे-के-कोरे तथा निराश ही रह जाते है। तथापि जिनकी कामना पूरी हो जाती है, वे उसे देव के द्वारा ही पूरी हुई मानते है।

वैज्ञानिक और शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार नैगेटिव तथा पोज़ेटिव दोनो विद्युत प्रवाहो का जब संयोग होता है, तब उसी मे विद्यमान् (रहने वाली) विद्युच्छक्ति क्रियात्मक रूप

से प्रत्यक्ष हो जाती है। इसी प्रकार से जब उपासक की वृत्ति उपास्य में, ध्याता की वृत्ति ध्येय में, एकाग्र हो जाती है, तब उसी के अन्तःकरण मे रहने वाली इच्छा-शक्ति फल के रूप में उपस्थित हो जाती है। इसी को अज्ञानी लोग दूर देश से तथा दूसरे के द्वारा हुई प्राप्ति मानते है। इसलिए किसी दार्शनिक का कहना है—

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे, न मृण्मये ।
भावे हि विद्यते देवो, तस्माद् भावो हि कारणम् ॥

अर्थात् कामना-पूरक देव न तो काष्ठमयी मूर्ति में है, न पाषाणमयी मूर्ति मे और न मृण्मयी मूर्ति में है। देव तो अपने भाव के अन्दर ही है, इसलिए (कामना की पूर्ति मे) अपना भाव ही कारण है। वैसे तो व्यापक होने से चेतनदेव सब मे ही है।

वास्तव मे तो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर और उसकी विभूति अपनी आत्मा से पृथक् है ही नही। यदि वे आत्मा से पृथक् हो तो अनात्मा, जड तथा अनित्य सिद्ध होंगी। थोडे समय के लिए (दुर्जन-सन्तोष न्याय से) भिन्न मान भी लिया जाय, तो अपने उस अज्ञात स्वात्मानन्द के सिंहासन पर पूर्ण रूप से सुगमता पूर्वक आरूढ होने के लिए दो प्रकार के साधन बतलाये जाते है—आत्मज्ञान तथा आत्मनिवेदन। अगले प्रकरण मे पहले आत्मज्ञान के विषय मे विचार किया जाता है।



# मैं कौन हूँ ?

अब दूसरे प्रकार से आनन्दस्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष कराया जाता है। जिस प्रकार मन्थन के द्वारा दूध से घृत प्रथक् कर लिया जाता है, उसी प्रकार शरीर, मन, बुद्धि, प्राण और समस्त संसार से प्रथक् करके अपने आपे का अनुभव कराया जाएगा। प्रथम सारे संसार से प्रथक् और पश्चात् सब से अभिन्न अनुभव कराया जायगा।

अब यहाँ सुगमतापूर्वक समझाने के लिये एक गुर बताया जाता है। 'गुर' कहते है किसी कठिन समस्या को सुगमतापूर्वक समझने के लिए सुगमातिसुगम उपाय को, जैसे,—जितने रुपये की कोई चीज़ जितने सेर मिलती है, उतने ही आने की वह चीज़ उतने ही छटाँक मिलेगी। इसी प्रकार जिस वस्तु के साथ 'मेरा' शब्द जोड़ा जाता है, वह वस्तु कथन करने वाले 'मैं' से प्रथक् हो जाया करती है अर्थात् अपने आपे (आत्मा) से 'मेरा' शब्द और तद्वाच्य वस्तु सर्वथा भिन्न ही रहेगी, जिस प्रकार सूखा काष्ठ हर प्रकार से जल के ऊपर ही तैरता रहता है।

अब आइये, विचार करके देखे कि यह 'मेरा' शब्द किन-किन वस्तुओ के साथ, कहाँ तक जुड़ता जाता है ? प्रथम बाह्य सांसारिक पदार्थों का विचार करते है। प्रायः लोग कहा करते है कि 'मेरा मकान', 'मेरी घड़ी', 'मेरी टोपी'—इत्यादि। इन कथनो का तात्पर्य यह निकला कि कथन करने वाला इन वस्तुओ का

स्वामी (मालिक) है, स्वयं ही वह वस्तु नही है ? जैसे 'मकान' वह स्वयं नहीं है, मकान का स्वामी अपने मकान से प्रथक् है। इसी प्रकार से 'मेरा पुत्र', 'मेरी स्त्री', 'मेरा कुटुम्ब-परिवार' इत्यादि का भी यही तात्पर्य निकलता है कि वह स्वयं स्त्री, पुत्रादि नही है वरन् स्त्री-पुत्रादि का सम्बन्धी तथा उनसे भिन्न है।

बाहर की वस्तुओं से तो यह पता लग गया कि 'मै' स्वयं ये सब वस्तुएं नहीं हूँ,—इनसे भिन्न हूँ। अब देखे कि जिन शरीर, मन, प्राण इत्यादि को हम अपना आत्मा ही मानते है, क्या उनके साथ भी यह 'मेरा' शब्द जुड सकेगा ? यहाँ भी वही नियम देखने मे आता है। प्रायः हम लोग कहा करते है कि मेरा हाथ, मेरे पैर, मेरा शिर, मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरे प्राण इत्यादि। इससे यही सिद्ध होता है कि मै स्वय ये सब संघात नही हूँ वरन् इन संघातो का स्वामी (मालिक) हूँ और इन सबसे भिन्न, इन का दृष्टा हूँ।

अब यहाँ तक तो पता लग गया कि 'मैं' स्वयं (आत्मा, अपना आपा) इन सब मन, प्राण आदि अन्तरङ्ग तथा शरीरादि बहिरङ्ग सारे संघातो से भिन्न ही है। किसी भी व्यक्ति से यदि यह प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो ?—तो इसका प्रारम्भिक उत्तर हुआ करता है—'मै हूँ।' इस 'मैं' को छोड़कर शेष सारी वस्तुओं के साथ 'मेरा' शब्द जुड़ सकता है। यह कोई भी नहीं कहता कि 'मेरा मै।' किसी को समझाने के लिये भले ही 'मेरा आत्मा' कह दिया जाय, किन्तु और वस्तुओं के सदृश 'मैं' के साथ 'मेरा' शब्द नहीं जुड़ता। एक बडी ही रहस्ययुक्त एवं विचारणीय बात यह भी है कि इस 'मेरे' शब्द का प्रादुर्भाव कहाँ

से होता है ? अपने शरीर से लेकर सारे चराचर विश्व के साथ, किसी-न-किसी प्रकार समष्टि रूप से अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध कराने वाले इस 'मेरे' शब्द का सबके अपने 'मै' से ही प्रादुर्भाव होता है। जैसे जल से तरङ्ग का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार 'मैं' से 'मेरे' शब्द का प्रादुर्भाव होता है। 'मैं' सब जगत् का निमित्त कारण तथा 'मेरा' उपादान कारण है। चेतन और संकल्प की तरह 'मेरा' शब्द का 'मैं' शब्द के साथ अभेद संबन्ध है। 'मेरा' शब्द प्रकृति का वाचक है तथा 'मैं' शब्द पुरुष (चेतन आत्मा) का वाचक है। अस्तु!

अपने 'मै' शब्द के अस्तित्व का तो पता लग गया कि 'मैं हूँ', परन्तु इस बात का पता नहीं लगा कि 'मै कौन हूँ ?' इस बात को स्पष्ट करने के लिये यह विचार किया जाता है कि जिस प्रकार से प्रकाश और नेत्रों के द्वारा प्रत्येक वस्तु को देख सकते है, उसी प्रकार से ज्ञान व बुद्धि के द्वारा प्रत्येक वस्तु को जान सकते है। यहाँ पर शरीर, मन, बुद्धि, स्त्री, पुत्र इत्यादि शारीरिक व सांसारिक समस्त पदार्थो को जाना गया। परन्तु किसके द्वारा जाना गया ?—उसी ज्ञान तथा बुद्धि के द्वारा! अब फिर मैं प्रश्न करूँगा कि 'वह कौन है जो इन सब संघातो को जान चुका या जानता है ?' फिर वही उत्तर आयेगा कि 'मैंने जाना।' यहां यह बात स्पष्ट सिद्ध हो गई कि अपने आपे से लेकर सारे संसार का जानने वाला 'मैं' ज्ञान स्वरूप चेतन है। इस बात के साथ-साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जिस प्रकार से नेत्र (दृष्टि शक्ति) भी प्रकाश (सूर्य) का ही एक रूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, इसी प्रकार से बुद्धि भी प्रकाश और सूर्य की भांति इस चेतन (ज्ञान शक्ति) का ही स्वरूप है, किञ्चित् भी भिन्न नहीं है।

अब इस बात का विचार करना है कि समस्त चराचर जगत् के प्राणिमात्र का आत्मा एक ही है या भिन्न-भिन्न नाना चेतन है ? जिस प्रकार किसी नगर मे या संसार भर के सारे नगरो में जितने भी विद्युत के बल्ब (लट्टू ) प्रकाशित हो रहे है,—कोई तो ५ वाट का है, कोई १० वाट का अर्थात् विभिन्न हजारो वाट तक के है तथा कोई लाल, कोई हरा, नीला, पीला इत्यादि विभिन्न प्रकार के रंग-बिरगे है। जिस रंग तथा वाट (शक्ति) का बल्ब है, उसी रंग मे रंगा हुआ, उतना ही मन्द या तेज प्रकाश तो अवश्य दृष्टि मे आ रहा है, किन्तु सब प्रकार के बल्बों में विद्युच्छक्ति तो एक ही प्रकाशित हो रही है। केवल दीखने मे भिन्नता एवं विषमता है। इसी प्रकार से कीट से लेकर मनुष्य पर्यन्त मे चेतन (ज्ञानस्वरूप आत्मा) एक ही है। समस्त प्राणि-मात्र के समस्त शरीरों में एक ही 'मैं' अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा विद्युच्छक्तिवत् नाना प्रकार से प्रकाशित हो रहा है।

आत्मा के अज्ञान से ही भिन्नता की प्रतीति हो रही है। यदि बल्ब की दृष्टि से देखा जाय तो भी समस्त विश्व के जितने भी बल्ब हैं, वे सब के सब कांच के ही है। इसी प्रकार से यदि शरीरों की दृष्टि से देखा जाय, तो भी समस्त प्राणिमात्र के शरीर पञ्चभौतिक ही है। इन युक्तियो से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो गई कि ईश्वर, खुदा, गॉड, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता को जगत् और अपने आपे से भिन्न मानकर तथा नाना प्रकार का भेद मानकर वाद-विवाद या संघर्ष करते रहना नितान्त बाल-क्रीड़ावत् अभिनय है। इसी पर एक दृष्टान्त दिया जाता है—

एक राजा के पांच पुत्र थे। पांचों ही पिता के बडे भक्त थे। एक दिन सब पुत्र पिता के पास गये और सेवा के लिये

प्रार्थना की। पिता ने पूछा—'तुम लोग क्या सेवा करना चाहते हो ?'

पुत्रों ने उत्तर दिया—'हम नित्यप्रति आपका शरीर दबाया करेंगे।'

पिता सेवा स्वीकार करने पलंग पर लेट गया। पांचों पुत्रों ने पिता का एक-एक अङ्ग परस्पर बांट लिया अर्थात् दोनों हाथ, पैर व शिर में से एक-एक ने एक-एक अङ्ग को दबाना आरम्भ कर दिया। दैवयोग से पिता ने बड़े आनन्द में आकर अपना एक हाथ अपने शिर पर रख लिया तो शिर दबाने वाले पुत्र ने एक डण्डा खीचकर उस हाथ पर दे मारा और हाथ दबाने वाले भाई से कहा—'हमारे शिर पर तुम ने अपना हाथ क्यों रखा ?'

तुरन्त ही हाथ दबाने वाले ने भी शिर पर एक डण्डा खीच कर मारा और उत्तर दिया—'तो तुमने हमारे हाथ को मारा क्यो ?'

पिता कष्ट के मारे दूसरे हाथ से, जिसमे चोट नहीं लगी थी, चोट लगे हाथ और सिर को मलने लगा तो दोनों ने ही एक-एक डण्डा उस हाथ पर भी दे मारा। पिता को इससे बहुत ही कष्ट हुआ तो वह एक पैर को दूसरे पैर पर रखकर तडपने लगा - झट पैर वाले सेवको ने भी एक-दूसरे के पैरों पर डण्डे बरसाना आरम्भ कर दिया। पिता पीड़ा से तड़फ रहा हो तो कोई बात नही, परन्तु हिस्से के विभाजन तथा उसके प्रति ममता मे कोई अन्तर नही पडना चाहिये।

ठीक यही दशा नाना प्रकार के ईश्वरवादी भक्तों की है। धर्म व ईश्वर के नाम पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सना-

तनी, समाजी, सिख, शैव, वैष्णव इत्यादि परस्पर में कट-कट कर मर रहे हैं, एक दूसरे को कोस रहे है और एक-दूसरे की त्रुटियाँ निकाल रहे है। ईश्वर के अङ्गभूत सारे मनुष्य या प्राणि-मात्र एक दूसरे के द्वारा पीड़ित किये जा रहे है, इस की कोई चिन्ता नहीं, परन्तु नाना प्रकार के कल्पित पक्षपातों में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये।

उपरोक्त विचार से यह सिद्धान्त निकलता है कि सब के 'मैं' का वास्तविक स्वरूप सत्-चित्-आनन्द, अद्वितीय, सर्वरूप है।



# आत्म-कल्याण

आनन्दमय एवं शान्तिमय स्थिति (अवस्था) को 'आत्म-कल्याण' कहते है—जिसमें शोक, मोह, दु:ख, भय, अशान्ति, अज्ञान, बन्धन आदि का अनुभव न हो। इन दु:खों की अनुभूति अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से होती है। अज्ञान 'गलत ज्ञान' को कहते है। कुछ भी हो, दु:ख व अशान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव तो सभी को हो ही रहा है। इन्ही से छूटने के लिये मनुष्यमात्र ही नही, बल्कि शरीरधारीमात्र ही जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नाना प्रकार के शुभाशुभ साधनो के द्वारा सुख (शान्ति) प्राप्ति के लिए तत्पर रहते है। अतः दु:ख-निवर्तक साधनो को करने से प्रथम दु:खो के कारण का पता लगा लेना अत्यावश्यक है, जैसे किसी रोग की चिकित्सा करने से प्रथम रोग का निदान (निर्णय) कर लेना अनिवार्य है।

इस तथ्य का विचार इस प्रकार है। हम लोगो के स्वस्थ शरीर मे जब कभी अंग-प्रत्यंग स्थानभ्रष्ट हो जाते है, तब शरीर विकृत हो जाने से दु:ख का अनुभव होने लगता है। जठराग्नि स्थानभ्रष्ट होकर जब त्वचा मे प्रवेश कर जाती है तब भयंकर ज्वर का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार पेट की नाभि, नाड़ी, अस्थि आदि जब मोच खा जाती अर्थात् तिलभर भी इधर-उधर हो जाती हैं तो पेट में पीड़ा होने लगती है, दस्त भी लग जाते है तथा मोच की जगह सूजन आ जाती है जिससे भयंकर पीड़ा के कारण उठना-बैठना कठिन हो जाता है।

अब विचार इस बात का करना है कि स्वस्थ (सुखी) शरीर में यह नया कष्ट (पीडा) कहाँ से आ गया जो कि पहिले नही था ? वहीं से अर्थात् पूर्वोक्त जठराग्नि, नाभि, नाडी, अस्थि के स्थानभ्रष्ट हो जाने से, सप्त धातुओ में विकृति होकर नाना प्रकार के रोग व दुःख उत्पन्न हो जाते है। उन्हीं अंगों को फिर यथा-स्थान स्थित कर देने पर आये हुए दुःख निवृत्त हो जाते हैं। दुःख या अशांति स्वाभाविक या नित्य नहीं है। ऐसा हो तो किसी भी साधन से, कभी भी इनकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

उपरोक्त विचार की भांति ही मनुष्य दुःखों व अशान्तियों से मुक्त होना चाहता है जिसे कल्याण या मोक्ष भी कहते है। इसमे भी एक विशेष कारण यही है कि हम लोगों का अपना-अपना 'मैं' या 'अभिमान' स्थानभ्रष्ट हो गया है। इसी कारण से जन्म, मृत्यु, बन्धन. तीन ताप आदि दुःखों की अनुभूति हो रही है। अतः उस 'मैं' को पुनः अपने उपयुक्त स्थान पर स्थित कर देने से सुगमता से सब दुःखो की निवृत्ति हो सकती है।

हम लोगों के 'मै' का वास्तविक स्थान सच्चिदानन्द रूप आत्मा है। यही 'मैं' मन, इन्द्रिय व शरीर आदि मे आकर स्थानभ्रष्ट हो गया है। इस 'मैं' को आत्मज्ञान के द्वारा फिर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित करना मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है।

'मै' ही अन्तःकरण की सारी वृत्तियो का मूल कारण है अर्थात् 'मैं' से ही ममता (मेरापन) की भावना बनती है, ममता से राग-आसक्ति की उत्पत्ति होती है, राग-आसक्ति से शोक, दु.खों और बन्धनों का प्रादुर्भाव होता है।

इस अनात्म-अभिमानी 'मैं' को आत्म-अभिमान के द्वारा निवृत्त कर सकते हैं। जैसे लोहे से लोहा काटा जाता है, उसे काटने के लिये दूसरा कोई साधन नही हो सकता, इसी प्रकार मलिन अभिमान को शुद्ध अभिमान आत्मज्ञान के द्वारा ही निवृत्त कर सकते हैं। शुद्ध अभिमान आत्मज्ञान के द्वारा होता है, आत्मज्ञान सद्गुरु के द्वारा प्राप्त होता है, सद्गुरु की प्राप्ति आत्म-कृपा से होती है तथा आत्म-कृपा सत्संग से प्राप्त होती है।

जीव का कल्याण तभी होता है जब उसे तीन प्रकार की कृपा प्राप्त होती है—(१) आत्म-कृपा (२) गुरु-कृपा (३) ईश्वर-कृपा।

आत्म-कृपा के बिना गुरु-कृपा नही हो सकती, गुरु-कृपा के बिना ईश्वर-कृपा नही हो सकती और ईश्वर-कृपा के बिना आत्म-कल्याण नही हो सकता, इसलिये मुख्य साधन अपने ऊपर अपनी कृपा है। अपनी कृपा का तात्पर्य आत्म-कल्याण (मोक्ष) की तीव्र जिज्ञासा अथवा मुमुक्षुत्व है—केवल एकमात्र यही इच्छा शेष रह जाय। जैसे पानी के बिना मछली व्याकुल हो जाती है, वैसे ही आत्मसाक्षात्कार के लिये तड़प पैदा हो जाय।

गुरु दो प्रकार के होते हैं—एक गुरु और दूसरे सद्गुरु। जिसके द्वारा किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो, उसे गुरु कहते हैं तथा जिसके द्वारा या कृपा से मोक्ष, आत्मा या ईश्वर की प्राप्ति हो, उसे सद्गुरु कह सकते है। सद्गुरु का लक्षण शास्त्रकारो ने ऐसा किया है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारो 'रु'कारस्तन्निरोधकृत ।
तयोरैक्यं परब्रह्म 'गुरु'रित्यभिधीयते ॥

अर्थात् 'गु' कहते हैं अन्धकार को तथा 'रु' कहते हैं निरोध (नष्ट) करने वाले (प्रकाश) को। जो शिष्य के अज्ञानरूपी अन्ध-

कार को अपने सदुपदेशरूपी प्रकाश के द्वारा निवृत्त करके पूर्ण ब्रह्म को (आत्म रूप से) अनुभव करा दे, वही गुरु है।

जिन का अन्तःकरण विवेक-वैराग्ययुक्त है, ऐसे अधिकारी मुमुक्षुओ को ही सद्गुरु आत्मसाक्षात्कार करा सकता है। जिस प्रकार से संसार के किसी भी दृश्यमान् पदार्थ को देखने के लिये मुख्यतया दो साधनों की आवश्यकता पड़ती है—प्रथम अपनी आंख, दूसरा सूर्य-प्रकाश। यदि इन दोनो मे से एक की भी कमी रहेगी तो कोई भी वस्तु नही दीख सकती अर्थात् अपने नेत्र हों और प्रकाश न हो अथवा प्रकाश हो किन्तु अपने नेत्र न हों, तब कुछ भी नहीं देख सकते।

इसी प्रकार अपनी सूक्ष्म या शुद्ध बुद्धि एवं गुरु का ज्ञान रूप प्रकाश, दोनों का जब संयोग हो तभी सब दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है।

अतः जिस ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के द्वारा आत्म-कल्याण होता है, जिसे वेदों, शास्त्रों, ऋषियों, मुनियो व तत्त्ववेताओ ने कथन किया है, उसी अनुभूत ब्रह्मविद्या का यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।



# आत्मज्ञान

आत्म-ज्ञान कहते है अपने (मैं) की पहिचान को अर्थात् अपने आपको जान लेना कि 'मैं कौन हूँ ?'

प्रथम इस बात का विचार करना है कि शास्त्रकारों अथवा विद्वानो ने जिसका ईश्वर, गॉड, खुदा, परमात्मा इत्यादि नामों से कथन किया है, उसका स्वरूप क्या है और वह कहाँ रहता है ? उसका और हमारा सम्बन्ध क्या है ?

कोई भी ईश्वरवादी ऐसा न होगा जिसको बाध्य होकर ईश्वर का स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' तथा रहने की जगह 'सर्वत्र परिपूर्ण' न माननी पडे। यदि उसका स्वरूप इसके अतिरिक्त और कुछ माना जायगा तो वह ईश्वर न रह कर बालकों के खेलने का खिलौनामात्र ही बन जायगा। इसी सच्चिदानन्द को दूसरे शब्दो मे 'हस्ती-इल्म-सरूर' और 'ला-महदूद' भी कहते है। इङ्गलिश में इसी को 'एग्जिस्टेन्स-नॉलेज-ब्लिस' कहते है। बौद्ध इसी तत्त्व को 'शून्य' या 'निर्वाणपद' कहते है। नास्तिक भी इसी तत्व को Nature (प्रकृति) रूप से मानते हैं।

वैज्ञानिकों ने इसी तत्व को दो भाग मे विभक्त कर दिया है जिनको क्रियाशक्ति (इलैक्ट्रान) और ज्ञानशक्ति (प्रोटान) कहते हैं। इन्ही को जड़ (प्रकृति) और चेतन (पुरुष) तत्व भी कह सकते है। इन्हीं दोनो तत्वों से समस्त कारण, कार्य या नाम-रूपात्मक जगत् ओतप्रोत है। ये दोनो तत्व नित्य और अनादि

हैं, परन्तु स्वरूप से दोनों एक ही है, जैसे सामान्य तथा विशेष अग्नि या वायु भिन्न होते हुए भी स्वरूप से एक ही होते हैं। यही दोनों तत्व सारे विश्व के निमित्त और उपादान कारण है। इलैक्ट्रान-थ्यौरी वाले वैज्ञानिको का भी ऐसा ही मत है। वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित परमाणु-वीक्षणयन्त्र के द्वारा निरीक्षण करने से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि एलैक्ट्रान, १८१६२८ मील प्रति सैकिन्ड की चाल से प्रोट्रान के चारों ओर चक्कर काट रही है और यही सारे जगत् का आदि, अन्त तथा कारण है।

अब इस बात का विचार करना है कि वह ईश्वर तत्त्व सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप कैसे है? सत् इसलिये है कि उसका कभी नाश नही होता, 'चित्' इसलिए है कि वह ज्ञान-स्वरूप है और 'आनन्द' इसलिये है कि उसमे दुःख नही है। ऐसा सच्चिदानन्द-स्वरूप ईश्वर रहता कहाँ है? विचार करने से ज्ञात होता है कि वह सर्वत्र व्यापक तथा सर्वरूप है। व्यापकत्व का लक्षण शास्त्रकारो ने ऐसा वर्णन किया है—'देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-राहित्यं व्यापकत्वम् इति' अर्थात् जो तत्व देश, काल और वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित हो, उसे व्यापक कहते है। अथवा जो तत्व प्रत्येक देश, काल तथा वस्तु मे कारण रूप से ओतप्रोत हो, उसे व्यापक कहते है।

जिस प्रकार नाना प्रकार के भूषणों मे स्वर्ण, नाना प्रकार के वस्त्रो मे रुई, नाना प्रकार के घटो मे मृत्तिका तथा वर्फ मे जल ओतप्रोत है, उसी प्रकार से नाना प्रकार के नामरूपात्मक समस्त चराचर जगत् मे सच्चिदानन्द ओतप्रोत है। व्यापकता के लिये दूध मे घृत का जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह अनुभव एवं युक्ति के सर्वथा विरुद्ध है, क्योकि दूध मे तीन वस्तुएँ प्रत्यक्षरूप से प्रथक्-प्रथक् देखने में आती है—दूध, घृत और जल। जिस समय

दूध फट जाता है, तब दूध और जल प्रथक्-प्रथक् हो जाते है। जब यन्त्र द्वारा मथकर घृत (मक्खन) प्रथक् कर लिया जाता है, तब दूध और जल शेष रह जाता है। इसलिये दूध में घृत व्यापक नही है, परिच्छिन्न है। अस्तु!

'जब कि ईश्वर तत्व प्रत्येक देश, काल एवं वस्तु में ओत-प्रोत तथा विद्यमान् है, तब क्या मेरे शरीर, मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि मे भी वही सर्वशक्तिमान् ईश्वर व्याप्त नहीं है?'—ऐसा विचार करने से बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि अवश्यमेव वही सच्चिदानन्द-सत्ता ओतप्रोत है। इसका तात्पर्य यह निकला कि जो ईश्वर इन शारीरादि मे सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान् है, वही 'अहं' रूप से 'आत्मा' अर्थात् सबका 'अपना आपा' है। साथ-ही-साथ इस बात का भी विचार करना है कि यही सच्चिदानन्द सत्ता सारे चराचर जगत् का भी अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण व आत्मा है।

संसार में ऐसी कोई वस्तु नही है जो कथन-चिन्तन में तो आती हो, परन्तु उसके भावरूप (अस्तित्व) को सिद्ध करने के लिए उसके पीछे 'है' शब्द न लगता हो। जब किसी भी वस्तु के अस्तित्व अर्थात् भाव (होने) का कथन किया जाता है, त उसके साथ 'है' शब्द जोड़ते है। यहाँ तक कि जब 'नास्ति' (नही है) अर्थात् अभाव के अस्तित्व का भी कथन करना होता है, तब भी कहते है कि 'नही है।' यह 'है' शब्द किसका सूचक है जिसके बिना किसी के भी भाव अथवा अभाव की सिद्धि ही नही होती? यह 'है' शब्द उसी त्रिकालाबाध्य 'सत्' का सूचक है जो कि सब का 'उपादान' रूप है। इस 'सत्' को त्रिकालाबाध्य, सब मे ओतप्रोत, भावरूप किसने जाना? ज्ञान (चेतन शक्ति) ने ही सबको प्रकाशित किया अर्थात् जाना। इससे यह

बात सिद्ध हुई कि वह भावरूप 'सत्' ही चित् (ज्ञान) स्वरूप भी है।

जब वही सच्चित्सत्ता प्रत्येक देश, काल, वस्तु मे पूर्ण है, तब फिर जड़ तत्व एवं दुःख कहाँ रह सकते है? एक ही देश-काल में दो विरोधी वस्तुओ की स्थिति नही हो सकती, जिस प्रकार एक ही देश-काल-वस्तु मे अपने विशेष रूप में अग्नि और जल इकट्ठे नही रह सकते,—सामान्य रूप मे दोनों तत्त्व एक ही है। निमित्त कारण तथा उपादान कारण,—ये दोनो सत्ताएँ वास्तव मे स्वरूप से दो भिन्न सत्ताएँ नही है। यदि निमित्त कारण को उपादान कारण एवं कार्य से भिन्न माना जायगा तो वह कभी कार्य मे व्यापक नही हो सकेगा, जैसे कि भूषणों मे स्वर्णकार एवं घटों मे कुम्भकार केवल निमित्त कारण होने से व्यापक नही हैं,— परिच्छिन्न तथा एकदेशीय है।

जिस प्रकार स्वप्न-जगत् का निमित्त व उपादान दोनो कारण केवल स्वप्नद्रष्टा स्वयं ही है, उस दृष्टा से भिन्न स्वप्न मे और कुछ भी नही होता, वह स्वयं ही सर्वरूप होता है। यद्यपि अपने आपे से भिन्न नाम-रूप की प्रतीति अवश्य होती है, परन्तु होता केवल स्वयंमात्र ही है। इसी प्रकार चेतन आत्मा ही सर्वरूप है। यहा केवल इसी बात को समझना है कि जिसको लोग प्रकृति (जड़ तत्व) कहकर चेतन तत्व से भिन्न मानते है, वह चेतन की ही निर्विशेष-भावरूप सत्ता है। जिसको 'सत्' कहते है, वही जड़ प्रकृति है। एक रूप होने से उस जड़ और चेतन मे परस्पर कोई विरोध नही है, केवल नाम का अन्तर है। सत्ता रूप से दोनो तत्त्व एक ही है। यदि कहो कि फिर जड़ सृष्टि की प्रतीति क्यों हो रही है? तो उत्तर है कि 'स्वप्न सृष्टिवत्' सब कुछ अपना आपा ही है।

# ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान वास्तव मे कोई पैदा होने वाली वस्तु नहीं है जो प्रथम न होती हो और पश्चात् किसी साधन के द्वारा उत्पन्न हो जाती हो। सामान्य (कारण) रूप से ज्ञान प्रत्येक देश-काल मे विद्यमान् रहता ही है। केवल 'वृत्तिज्ञान' ही घटता-बढता, उत्पन्न-नष्ट होता-सा दृष्टि या अनुभव मे आता है। विचार तो इस बात का करना है कि ज्ञान के घटने-बढ़ने या उत्पत्ति-नाश को अनुभव कौन करता है? जो अनुभव करता है वही तो वास्तव मे ज्ञान है, जिस वस्तु को अनुभव करता है वही दृश्य है और जिसके द्वारा अनुभव करता है वही वृत्ति है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि बन्धन-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु, जीव-ईश्वर इत्यादि जो कुछ भी जानने (अनुभव) में आता है,—सब ज्ञानसत्ता से पृथक्, उसका दृश्य, वृत्तिरूप है और जानने वाला (ज्ञाता) ही ज्ञानशक्ति अर्थात् चेतन सत्ता है।

इस दृष्टिकोण से 'ज्ञानसत्ता' किसी दूसरी वस्तु का विषय (दृश्य) कभी नही हो सकती। जिस प्रकार सूर्य के द्वारा हर-एक वस्तु देखी जाती है, किन्तु सूर्य को किसके द्वारा देखते हैं? आप कह देगे कि 'नेत्र के द्वारा।' किन्तु नेत्र मे देखने के लिये कौन-सी ज्योति काम कर रही है? उस सूर्य का प्रकाश ही यहाँ नेत्रो मे भी दृष्टि का काम कर रहा है। जिस प्रकार से किसी दीपक, लालटैन, गैस या टार्च इत्यादि के द्वारा सूर्य को नही देखा जाता, क्योकि वह स्वयं ही अपने को दिखाने मे प्रमाण है। अन्य जितने

भी संसार के अन्तर्गत प्रकाश के साधन है, उनमे भी वही सूर्य प्रकाश के रूप मे प्रकट होता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य, विद्युत, अग्नि इत्यादि सब स्वरूप से एक ही है। इसी प्रकार से ज्ञानशक्ति (चेतन आत्मा) के ही द्वारा हर एक चराचर वस्तु देखने व जानने मे आ रही है और वह चेतन शक्ति स्वय को जानने के लिये भी स्वयं ही प्रमाण है। उसे अपने से भिन्न किसी (वृत्ति आदि) प्रमाण की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं ही 'स्वयं संवेद्य' (स्वय=अपने द्वारा, संवेद्य=जानने योग्य) है।

जिसे अज्ञान कहा जाता है, वह भी ससार की अन्य वस्तुओं को भाँति देखा गया है। परन्तु अज्ञान को देखा किसने ? बाध्य होकर यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान (चेतन) शक्ति ने ही अज्ञान को भी देखा। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान कोई स्वतःसिद्ध पदार्थ नही है जिससे कोई युद्ध या सघर्ष करना है। किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक न जानने का नाम ही 'अज्ञान' है जिसे आप भ्रान्ति भी कह सकते है। उसी वस्तु के ठीक-ठीक यथार्थ स्वरूप को जान लेने को ही 'ज्ञान होना' कहा गया है। अपने आपे (चेतन स्वरूप आत्मा) को जन्मने-मरने वाला, कर्ता-भोक्ता, बँधा हुआ व अज्ञानी आदि मानना ही 'अज्ञान' कहलाता है। इसके विपरीत, अपने आपको चेतन या ज्ञानस्वरूप, नित्य-मुक्त, अजर-अमर, अविनाशी जान और मान लेना ही ज्ञान कहलाता है।

अपने आपको अजर, अमर, अविनाशी आदि न जानने से स्वात्मा की कोई हानि नही तथा जान लेने से कोई लाभ भी नही,—क्योंकि आप सूर्य को सूर्य मान ले तो भी वह सूर्य ही रहेगा और यदि उसे प्रकाशमान् न भी मानें तो भी वह सूर्य ही रहता है। इन दोनो परिस्थितियो में सूर्य (प्रकाश) मे किंचिन्मात्र

भी कोई अन्तर नही पड़ सकता। इसी प्रकार से चेतन आत्मा के स्वरूप में ज्ञान, अज्ञान, बन्धन, मोक्ष, जन्म, मृत्यु इत्यादि से किंचित् भी कोई अन्तर नही पड़ता। हाँ, वास्तविकता को समझ लेने से इतना अवश्य हो जाता है कि उसका सारा जीवन संशय रहित निर्भयता पूर्वक व्यतीत हो जाता है। इसे न समझने से मन पग-पग पर चिन्ता व शोक-सागर मे गोते खाता रहता है।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था मे कोई मनुष्य किसी भयानक निर्जन वन मे रास्ता भूल गया हो तथा हिंसक पशुओ के भय से बहुत ही व्याकुल हो रहा हो, उस समय यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ तो उसी समय से स्वप्न की दशा मे रहने तक के लिये वह बिल्कुल निर्भय व निश्चिन्त हो जायेगा। यदि साधारण लोगों की भाँति उसे स्वप्न का ज्ञान न भी हुआ, तो भी वह जागने पर तो स्वप्न के क्लेशो से मुक्त हो ही जायगा, क्योकि कोई भी व्यक्ति आयु-पर्यन्त स्वप्न की ही स्थिति मे तो रहता नही, घन्टे-दो-घन्टे के पश्चात् जाग ही जायगा। यदि उसी वन मे कही से कोई सिंह निकल पड़े तब फिर तो उसके जागने मे कोई विलम्ब ही नहीं होगा। इसीलिए माण्डूक्य-उपनिषद् की कारिका में श्रीगौड़पादाचार्य जी ने कहा है—

न निरोधो न चोत्पत्ति र्नबद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

अर्थात् न तो कोई बंधा हुआ है, न कोई मुक्त है, इसलिए वृत्तियों के निरोध व साधन की भी कोई आवश्यकता नहीं, क्योकि कोई साधक ही नही। जिस जगत् को देखकर घबड़ा रहे

हो, वह भी ब्रह्मरूप ही है। पूर्ण रूप से इस प्रकार का निश्चय ही परमार्थ का स्वरूप है।

इन्हीं बातों को स्पष्ट करने के लिए उपन्यास के रूप में एक दृष्टान्त दिया जाता है—

लखनऊ राजकीय विश्वविद्यालय मे मिस्टर प्रकाश नारायण एम० ए०, साइन्स (विज्ञान) फिलॉसफी के प्रोफेसर थे। प्रोफेसर साहब आंग्लभाषा के धुरन्धर विद्वान्, पाश्चात्य एवं बौद्ध दर्शन शास्त्रों के अधिक स्वाध्यायी तथा भारतीय दर्शनों के प्रबल उपेक्षक होने के कारण अत्यन्त नास्तिक, पूरे चार्वाक हो चुके थे। उनका कहना था कि चेतन शक्ति को जड़ प्रकृति से प्रथक् एक दूसरी स्वतन्त्र वस्तु मानना बुद्धिहीनता है। जिस प्रकार गुड़, गेहूँ, बबूल के छिलके इत्यादि को पानी में सड़ाकर शराब निकालने से उसमें 'नशा' नाम की एक नई वस्तु उत्पन्न हो जाया करती है, उसी प्रकार जिस स्थान मे हड्डी, मांस, रक्त, त्वचा, नाड़ी व प्राण इत्यादि का संघात होता है, उसे शरीर के नाम से कहने लग जाते है और उसी शरीर में, शराब में नशे के समान, एक नई वस्तु 'ज्ञान' उत्पन्न हो जाया करती है जिसे आस्तिक लोग आत्मा के नाम से कथन करते हैं। ज्ञान या आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है तथा शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाया करता है, फिर उसका पता नही लगता कि वह कहाँ से आया था और किस जहन्नुम को चला गया? इसलिये शरीर से प्रथक् किसी दूसरी ज्ञान शक्ति या आत्मा को मानना महान् मूर्खता का द्योतक है। प्रोफेसर साहब अपने सब मिलने-मिलाने वाले मित्रगणों से ऐसा ही कहा करते थे।

उनके मित्रों मे से एक साधारण पठित भगत देवीदास बड़ी ही सरल प्रकृति के सज्जन व्यक्ति थे। वे प्रोफेसर साहब को

इसका यही उत्तर दिया करते थे—'भाई प्रकाशनारायण, आपने भारतीय दर्शन कभी देखे नही है, तभी आप इतनी नास्तिकता बघार रहे है। यदि आप एक बार भी अपने घर के शास्त्र देख लेते तो फिर आपकी ऐसी नास्तिक बुद्धि न रहती।'

इस उत्तर को सुनकर प्रोफेसर साहब अपने मित्र की बात को हँसी मे उड़ा दिया करते थे। अन्त मे देवीदास यही कहकर चुप हो जाया करते थे कि भाई प्रकाशनारायण, मैं तो कोई विद्वान् नही हूँ, परन्तु आप शास्त्रज्ञ विद्वानो के समक्ष एक क्षण भी नही ठहर सकते। यह बात सुनकर प्रोफेसर साहब उछल पडते और कहते कि संस्कृत के विद्वानो मे ऐसी योग्यता व बुद्धि कहाँ जो मुझ से बात भी कर सकें ?

एक दिन एक पंडित जी प्रोफेसर साहब की ये बाते सुन रहे थे। उन्होने प्रोफेसर साहव से कहा कि आपका इस प्रकार अभिमान करना बिल्कुल व्यर्थ है। यदि आप मे इतना साहस है कि आप दार्शनिक विद्वानो का मुकाबला कर सकें तो चलिये, मैं आपको एक महात्मा के पास ले चलूँ, वहाँ आप अपने जौहर दिखलाइये। इतना सुनते ही प्रोफेसर साहब ने छाती पर हाथ मारकर कहा कि चलिये, अभी चलिये !

पंडित जी ने कहा कि अभी तो महात्मा जी नही मिलेगे। यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो भोजनोपरान्त लगभग २ बजे उनके पास चलेगे।

इसके बाद सब लोग अपने-अपने घर भोजन करने चले गये। प्रोफेसर साहव ने भी अपने घर जाकर भोजन किया और घर के बाहर ही, दीवाल के सहारे एक चारपाई पर हुक्का पीने लेट गये। हुक्का पीते-पीते उन्हें तन्द्रा ने घर दबाया और नीद-सी

आने लगी। इतने में प्रोफेसर साहब देखते क्या है कि उनके मित्र देवीदास और पण्डित जी उनके सामने खड़े कह रहे है—'चलिये प्रोफेसर साहब, अब महात्मा जी के पास चले !'……और तब तीनो ने महात्मा जी की कुटिया के लिए प्रस्थान किया। जिस वाटिका मे महात्मा जी ठहरे हुए थे, वह बडी ही रमणीक थी। बाहर ही एक वृक्ष के नीचे महात्मा जी बैठे हुए थे। इन लोगों के पहुँचने पर महात्मा जी ने प्रेमपूर्वक इन्हें बिठाया।

पण्डित जी ने महात्मा जी से कहा—'देखिये महाराज ! आजकल के इंगलिश के विद्वान् 'आत्मा' (चेतन सत्ता) को नही मानते। इन लोगों का कहना है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु मानना ही बुद्धिहीनता है ?

महात्मा जी ने पूछा— 'क्यो प्रोफेसर साहब, क्या बात है ?'

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—'हाँ महाराज, आत्मा नाम की कोई वस्तु हो तो मानने की भी आवश्यकता हो। जहाँ युक्ति एवं अनुभव की कसौटी पर कसा गया कि आत्मा समाप्त हो जाता है, फिर नही पता लगता कि वह किस जहन्नुम को गया।'

महात्मा जी हँसते हुए कहने लगे—'हाँ, तुम्हारे और भी भाई मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये आये थे। जिसे देखा, पूरा नास्तिक ही देखा। क्या आप लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा ही नही दी जाती ?'

प्रोफेसर साहब बोले—'मैंने तो आप से प्रथम ही कह दिया कि जब आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नही तो फिर उसकी शिक्षा की ही क्या आवश्यकता ?'

महात्मा जी—अच्छा, तो क्या आप लोगों के मत में शरीर और आत्मा मे कोई अन्तर ही नही ?

प्रोफेसर—हाँ महाराज ! वह तो शरीर का अंशमात्र है। जिस प्रकार से बहुत-सी वस्तुओं को सड़ाकर मदिरा निकाल लेने से उसमे एक नई वस्तु 'नशा' उत्पन्न हो जाया करती है, उसी प्रकार जहाँ शरीर, प्राण व इन्द्रियो का संयोग होता है, वहीं मदिरा मे नशावत् ज्ञानशक्ति उत्पन्न हो जाया करती है। उसी को आप लोग आत्मा नाम से कहा करते हैं।

महात्मा—अच्छा, तो ज्ञान शरीर से उत्पन्न होता है ?

प्रोफेसर— निस्सन्देह।

महात्मा ने कहा—भाई, आप मेरी इतनी बात तो अवश्य मानोगे कि जो बात कारण में होती है, वही कार्य मे भी होगी, —जैसे कि जो वस्तु लोहे से बनती है, वह लोहा ही रहती है, परिवर्तित होकर आम, गुड़, रोटी, मिठाई इत्यादि तो नही बन जाया करती।

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—अवश्य, आपकी यह बात सच्ची है।

महात्मा ने आगे कहा—जब आप यह बात मानते हैं कि मनुष्य मे जो ज्ञान है वह शरीर से उत्पन्न हुआ है, तब आपको यह बात भी अवश्य माननी पड़ेगी कि जिन खाद्य पदार्थों से शरीर बनता है, उनमे भी ज्ञान शक्ति विद्यमान रहती है, क्योकि यदि इन खाद्य पदार्थों मे ज्ञान न हो तो भला फिर वह शरीर में कहाँ से आवे ? शरीर कार्य है और भोजन कारण है, क्योकि जगत् मे ऐसा देखा जाता है कि जितने भी मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि प्राणियो के शरीर हैं, वे सब खाद्य पदार्थों से

ही बनते हैं। क्या आप देख नहीं रहे है कि यह मनुष्य अन्न, फल, फूल, मेवे, मांस मछली, अण्डे इत्यादि खाता है, इन्ही को खाकर इसका शरीर बनता है तथा इस शरीर से ही ज्ञान-शक्ति उत्पन्न होती है ? यदि इन खाद्य पदार्थो में ज्ञान शक्ति न होती तो भला इन शरीरों में वह कहाँ से आती ? यदि ज्ञान शक्ति बनेगी तो इन्हीं खाद्य पदार्थों से बनेगी, नही तो ज्ञान शक्ति और आवेगी कहाँ से ? अभाव से तो कोई भावरूप वस्तु उत्पन्न हो ही नही सकती। आप तो विद्वान् व बुद्धिमान् है, सोच-विचार कर बात कीजिये।

प्रोफेसर—महाराज, आपकी बात बिलकुल यथार्थ है। यदि इन खाद्य पदार्थों में ज्ञान शक्ति न होती तो मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि के शरीरो मे जो ज्ञान शक्ति देखने मे आ रही है, वह कदापि उत्पन्न नही हो सकती। इसलिये प्रत्येक पदार्थ में ज्ञान-शक्ति विद्यमान् है।

महात्मा जी—स्पष्ट है कि पहले तो आप केवल जड़ प्रकृति को ही मानते थे, अब आपने एक दूसरी चेतन शक्ति भी मान ली।

प्रोफेसर साहब बोले—शक्ति के मानने मे तो मुझे पहले भी कोई इन्कार नही था और अब भी नही है, किन्तु आप जिसे चेतन शक्ति कह रहे है वह तो प्रकृति का ही एक अंश है।

महात्मा जी यह बात सुनकर जोर से हंसने लगे और बोले—वाह भाई, आप तो जड़ प्रकृति की परिभाषा ऐसे कर रहे है मानो जड़ वह तत्व है जिसमे चेतन शक्ति हो। आपकी यह परिभाषा तो संग्रहालय मे रखने योग्य है।

प्रोफेसर ने उत्तर दिया—महाराज, 'चेतन' आप अपनी ओर से न बढ़ाइये। मैंने केवल शक्ति कहा है।

महात्मा मुस्कराकर बोले—चेतन शक्ति को तो आप भी प्रकृति का एक अंग मान रहे है! तो मेरी मानी चेतन शक्ति में और आपकी मानी हुई ज्ञान शक्ति मे क्या अन्तर है? यदि इन जड शरीरो मे केवल क्रिया शक्ति को ही काम करने वाली मानोगे तो जगत् मे जो ज्ञानपूर्वक प्रबन्ध हो रहा है, वह आपके मत में कैसे हो सकेगा?—और प्रबन्ध भी कैसा?—सामान्य नही, बहुत ही सुन्दर! फिर तो इन जड़ शरीरों मे जड शक्तियाँ ही काम करती हुई दृष्टि मे आवेंगी। कोई शरीर को इधर ढकेलकर ले जावेगी तो कोई उधर! फिर तो आप मेरे साथ शास्त्रार्थ करने न आकर किसी दीवार या वृक्ष से ही टकराकर वही पडे रहते। ऐसी दशा में सारे संसार मे किसी प्रकार का नियन्त्रण हो नही रह सकेगा। इसलिए शरीरो मे काम करने वाली शक्ति अवश्यमेव चेतन ही माननी पड़ेगी।

तब प्रोफेसर बोले—कोई बात नही, दो वस्तुएँ मान लेता हूँ, एक जड़ तत्व प्रकृति और दूसरा चेतन तत्व पुरुष। किन्तु दोनो को नित्य मानना पडेगा। आपका वेदान्त तो केवल चेतन को ही नित्य मानता है, शरीर और संसार को अनित्य (मिथ्या) बतलाता है। इसी को आप ज्ञान होना कहते है। यह बात कैसे सम्भव हो सकती है?

महात्मा ने उत्तर दिया—कोई बात नहीं, पहले आप केवल जड़ प्रकृति को ही मानते थे, अब एक दूसरे चेतन तत्व को भी मानने लगे है। आपके लक्षण अच्छे है। अच्छा, जब आपने चेतन शक्ति भी मान ली है, तब यह बात भी आपको अवश्य माननी पडेगी कि जिसे आपने जड़ प्रकृति माना है, उसका ज्ञान इस चेतन शक्ति को ही होगा।

प्रोफेसर—अवश्य होगा।

महात्मा जी—जब आप ज्ञान होना मानते है, तब जिन-जिन जड़ पदार्थों का ज्ञान होगा, वह अवश्यमेव इसी प्रकार से होगा जैसे कि स्वप्न के पदार्थों का होता है, ज्ञान होने का अन्य कोई प्रकार ही नही। स्वप्न आप नित्यप्रति देखते है—हाथी सामने खडा है, तत्क्षण घोड़ा बन गया। फिर देखते-ही-देखते घोडे से मनुष्य बन गया, तब क्षणमात्र मे मनुष्य से वृक्ष बन गया। स्वप्न के पदार्थ जो क्षण-क्षण मे बनते व बिगड़ते रहते है,—वे सत् है या असत्?

प्रोफेसर—ये बातें अवश्यमेव असत् है, किन्तु जाग्रत में तो ऐसा नही होता कि एक वस्तु हटे और उसके स्थान पर झट दूसरी वस्तु उत्पन्न हो जाय।

महात्मा—होता क्यो नही? क्या आप जाग्रत अवस्था में वस्तुओ को उत्पन्न होती नही देखते? स्त्री के उदर से बच्चा पैदा होता है। बीज से वृक्ष, वृक्ष की लकड़ी से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। अग्नि मे आटा पककर रोटी बन जाती है। देखिये, ये सब मदारी के खेल की भांति (मिथ्या) है या नही? कहाँ बीज और कहाँ वृक्ष? इसी प्रकार से और भी वस्तुओं का अनुमान कर लेना चाहिये। बडे आश्चर्य की बात है कि यह सांसारिक पदार्थ आपको स्वप्न की भाति परिवर्तनशील, क्षणभंगुर दृष्टि-गोचर नही हो रहे है।

प्रोफेसर—महाराज, स्वप्न के पदार्थ तो केवल कल्पना मात्र है और बिना ही कारण एव देश-काल के क्षण-क्षण मे बदलते हुए दृष्टि में आते है। परन्तु जाग्रत अवस्था के पदार्थों मे तो ऐसा नहीं दीखता। यहां तो जब तक किसी भी पदार्थ के बनने के कारण और देश-काल सहित साधन न हो, तब तक कोई भी

वस्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकती। जाग्रत अवस्था में हाथी का घोड़ा बनते किसने देखा है ?

महात्मा ने पूछा—अच्छा भाई, जाग्रत अवस्था में वस्तुओं का उत्पन्न होना तो मानते हो ?

प्रोफेसर—अवश्य, किन्तु इसी प्रकार मानता हूँ जैसे बीज विशेष रूप के देश-काल एवं नाना प्रकार के साधनो की सहायता से कालान्तर मे जाकर वृक्ष बनता है।

महात्मा जी—उत्पन्न होने का तात्पर्य तो वही होगा जो स्वप्न के पदार्थों का होता है। क्या स्वप्न के पदार्थ, जो देखने मे आते है, वे बिना देश-काल, साधन (कारण) के ही देखने में आते हैं ? स्वप्नकाल मे भी तो यही प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि ही कारण-युक्त है। इस बात का ज्ञान तो जागने पर होता है कि समस्त पदार्थ केवल कल्पना मात्र थे। दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार असत् से किसी सत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् से भी कोई असत् वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जहाँ भी किसी वस्तु की उत्पत्ति मानी गई है, वह केवल मदारी का खेल, माया का तमाशा और मन की करतूत ही मानी गई है। जब अभाव से कोई भावरूप वस्तु नहीं हो सकती और भाव पदार्थ से भी कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, तब प्रश्न होता है कि उत्पत्ति हुई तो कहाँ से हुई ? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता क्योकि 'एकसत्तावाद' मे प्रश्नोत्तर बन ही नही सकते। इसलिये यह कहना कि जो वस्तु भावरूप है, उससे अन्य भावरूप वस्तु हुई है—यह एक ही शब्द को बार-बार दोहराना मात्र और सर्वथा निरर्थक है।

प्रोफेसर तमक कर बोले—आपका कहना सरासर झूठ है।

सत् पदार्थ से और दूसरी वस्तु क्यों नहीं उत्पन्न हो सकती ? अवश्यमेव हो सकती है।

'झूठ' शब्द के प्रयोग से महात्मा को क्रोध आ गया। वे रोष भरे स्वर मे बोले—अरे मूर्ख ! मुझे बतला कि जिस भाव पदार्थ को तू कहता है कि 'उत्पन्न हुआ', क्या वह पदार्थ उत्पन्न होने से पहले विद्यमान् नहीं था ? यदि विद्यमान् नही था तो अभाव से 'भाव' हुआ मानना पडेगा जो अत्यन्त असम्भव है। इसलिए जिस वस्तु को तू कहता है कि 'उत्पन्न हुई', यदि वह वस्तु उत्पन्न होने से पहले भी विद्यमान् थी, तब उस भाव पदार्थ मे से भाव पदार्थ का होना झूठ नही तो क्या तेरा सिर है ? तू बड़ा मूर्ख है जो इतनी-सी साधारण बात भी नही समझ सकता !

प्रोफेसर साहब युक्ति से हारते जा रहे थे। उन्हें भी बडा क्रोध आ गया और वे गरज कर कहने लगे—मूर्ख तो तू है जो सच्चे जगत् को भी झूठ सिद्ध कर रहा है। यह लट्ठी जो तेरे पास पड़ी है, इसे उठाकर यदि तू मेरे सिर पर मारे, तो क्या मेरा सिर नही फटेगा तथा मुझे किसी प्रकार का कष्ट नही होगा ?

ये शब्द प्रोफेसर ने ऐसे तिरस्कारपूर्वक कहे कि महात्मा के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। वे बोले—अरे माया मे फसे हुए जीव ! तुझे इस बात का पता नही कि तू सच्चिदानन्द, शुद्ध, पूर्ण ब्रह्म है। एक तू ही सत् है, शेष सब असत् अथवा तेरा स्वरूप ही है। न तो तुझे अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है, न पानी गला सकना है और न शस्त्र काट सकते हैं। देख, यह लट्ठी मैं तेरे सिर पर मारता हूँ। इससे न तो तेरा सिर ही फटेगा और न तुझे किसी प्रकार का कष्ट ही होगा।

महात्मा ने वह लट्ठी उठाकर प्रोफेसर के सिर पर इतने ज़ोर से मारी कि लगते ही उसका सिर तरबूज की भांति चूर-चूर हो गया। इससे प्रोफेसर को इतना कष्ट हुआ कि वह अचानक चौंक पड़ा तो देखा कि वहाँ न कोई महात्मा है और न कोई बाग है, न सिर ही फटा है और न किसी प्रकार का कोई कष्ट ही है। हुक्का पीते-पीते ऊँघ आने लगी थी, सिर दीवार से टकराने लगा था, इसी से नीद खुल गई थी। हुक्के की नली महात्मा की लट्ठी प्रतीत हुई।

इतने मे ही पंडित जी और प्रोफेसर साहब के मित्र देवीदास भी आ पहुँचे। इन्होने दोनों को संकेत से बैठने को कहा क्योंकि बोलने की शक्ति नहीं रही थी। उन दोनों ने प्रोफेसर साहब को आश्चर्य के समुद्र मे डुबकी लगाते हुए देखा। बार-बार कारण पूछने पर भी प्रोफेसर साहब कुछ नहीं बोल सके। कुछ समय के पश्चात् बहुत ही आग्रह करने पर उन्होने स्वप्न का सारा वृत्तान्त सुनाया। तब तो पण्डित जी कहने लगे कि देखा प्रोफेसर साहब! स्वप्न मे ही महात्मा जी ने आपके छक्के छुड़ा दिये। यदि आप उनके सम्मुख पहुँच जायँ तब तो आज ही आपकी सारी नास्तिकता समाप्त कर देगे।

प्रोफेसर ने कहा—बस, पंडित जी! अब मेरी सारी नास्तिकता समाप्त हो चुकी। अब मैं महात्मा जी के पास शास्त्रार्थ करने नहीं जाऊँगा। अब मुझे पूर्ण रूप से इस बात का ज्ञान हो गया कि एक चेतन सत्ता ही सर्व रूप में पूर्ण हो रही है। उसी से असंख्यो ब्रह्माण्डों का प्रादुर्भाव होता है जो उसी में स्थित रहते हैं तथा अन्त मे उसी मे लीन हो जाते हैं। वही चेतन सत्ता सब का अपना आपा ज्ञानस्वरूप आत्मा है। सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि जिस समय मेरा और महात्मा जी का

शास्त्रार्थ हो रहा था, उस समय एक ओर तो मै ही पूर्वपक्षी (नास्तिक शंकावादी) बन गया और दूसरी ओर मे ही उत्तरपक्षी (समाधान करने वाला महात्मा) भी बन गया। मेरी जिन निर्बल युक्तियों को महात्मा जी की प्रबल युक्तियाँ खण्डन करती जा रही थीं, वे प्रबल युक्तियाँ भी मेरे ही मन की उपज थीं। इससे यही सिद्ध होता है कि चेतन शक्ति ही समस्त विद्याओं व विज्ञानों का एकमात्र आदि कारण, स्रोत व भण्डार है।

जिस समय मेरा शास्त्रार्थ हो रहा था, उस समय केवल मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ था ही नही। अब मुझे भली प्रकार से अनुभव हो गया कि इस जाग्रत अवस्था की सृष्टि में पढ़ना-पढाना, कहना-सुनना, ज्ञान-विज्ञान, कारण-कार्य, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, जन्म-मृत्यु, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, जड़-चेतन, जीव-ईश्वर इत्यादि जो कुछ भी मन-वाणी का विषय भौतिक जगत् है, उस सम्पूर्ण मे क्रिया शक्ति व ज्ञान शक्ति से कार्य रूप मे और सत् व चित् रूप से कारण रूप मे केवल चेतन आत्मा ही पूर्ण हो रहा है। बस, पंडित जी ! अब तो मै महात्मा जी के पास केवल दर्शन व सत्संग करने के ही लक्ष्य से आपके साथ चल रहा हूँ।

इसी विषय पर एक उर्दू के कवि ने कहा है—

न कुछ पाया, न कुछ खोया, न लिया, न दिया कुछ।
सिर्फ एक ख्याल के पल्टे से जल्वा मावका देखा ॥

इसी विषय पर महात्मा गिरधर जी की एक वहुत ही सुन्दर कविता है -

मरजी जब चेतन की झख मारन की होय।
मृग तृष्णा के नीर में बह चाल्यो विन तोय ॥

वह चाल्यो विन तोय, अधः ऊर्ध गोते खावे ।
कभी जावे केदार कदा पुनि काशी जावे ।।
कह गिरधर कविराय कौन पर दीजै अरजी ।
झख मारन की आप भई चेतन की मरजी ।।

× × × ×

परमेश्वर तू आप है भावे मान न मान ।
चार वेद छै शास्त्र यों अठदस कहत पुरान ।।
अठदस कहत पुरान, कृष्ण गीता में गायो ।
वशिष्ठ श्रेष्ठ उपदेश राम को यही सुनायो ।।
कह गिरधर कविराय उमा से कहे महेश्वर ।
भावे मान, न मान—आप तू है परमेश्वर ।।

मेरा तथा अन्य चार महात्माओं का कनखल में नहर के किनारे परस्पर आत्म-विचार हो रहा था। इतने में गुरुकुल की ओर से कई महाशय आ धमके और मेरे ही निकट आकर वैठ गये। वैठते ही वोल पडे—'स्वामी जी, क्या आप ब्रह्म हैं ?' मैंने कहा—'नहीं, ऐसी तो कोई वात नहीं।' उन्होंने कहा—'नहीं-नहीं, आप लोगो के कथन से ऐसा स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि आप अपने आप को ब्रह्म कह रहे हैं।' मैंने कहा कि यदि आप को ऐसा ही ज्ञात हो रहा है तो कोई बात नही, आप मुझे ब्रह्म ही मान लीजिये।

उन्होने कहा कि यों ही मुफ्त में आपको ब्रह्म कैसे मान लें ?

मैंने कहा कि नहीं, मुफ्त में नहीं, जो कीमत अदा करनी पड़ेगी, वह मैं कर दूँगा।

वे बोले कि कीमत क्या ?—ईश्वर ने तो सारे जगत् की रचना की है,—बडे-बडे पहाड, नदियाँ, वृक्ष इत्यादि बनाये है और आप एक मक्खी भी नहीं बना सकते।

मैंने कहा कि पंच तत्वों सहित सारे जगत् को मैंने ही बनाया है। उन्होंने कहा कि अच्छी बात है, आप यहां एक पीपल का वृक्ष बना दीजिये, तब हम आपको ब्रह्म मान लेंगे।

मैंने उत्तर दिया कि पहले आप अपने ईश्वर को कहिये कि वह यहां एक पीपल का पत्ता ही बना दे। तब मैं भी आपके देखते-ही-देखते यहाँ सैकड़ो पीपल के वृक्ष खड़े कर दूगा। यदि आपके ईश्वर में कोई साहस है तो बुलाओ, देरी क्यो कर रहे हो ? अच्छा, पत्ता न सही, मैं एक रोम उखाडता हू, वह उसी को पुनः उसी स्थान पर जोड़ दे अथवा यह भी नहीं कर सकता तो इस तृण को ही यहां से उठाकर वहाँ रख दे।

उन्होने उत्तर दिया कि ईश्वर स्वतन्त्र है, हमारा कहना कैसे मान सकता है ? तब मैंने कहा कि फिर मै ही आपका कहना क्यो मानू ? ऐसे परोक्ष बन्ध्या-पुत्र ईश्वर को बुद्धि से निकालना चाहिए, तब आप लोगों की बुद्धि कुछ विवेकयुक्त बन सकती है।

इसी प्रकार एक बार बृन्दावन मे किसी 'ठाकुर भक्त' ने भी मुझे टोका। मैं 'शिवोऽहम्-शिवोऽहम्' कहता हुआ जा रहा था कि अचानक ही एक 'श्री ठाकुर जी की कृपा से' भक्त बोल पड़े कि भगवान् शङ्कर ने तो हलाहल पान कर लिया था, आप एक तोला संखिया ही खाकर दिखला दे। मैंने कहा कि बड़ी सुन्दर बात है, आप शिवजी से कहिये कि एक रत्ती संखिया ही मेरे सामने खा ले। फिर तो मैं अभी आपके देखते-ही-देखते तोला क्या, मनो सखिया खा जाऊँगा। बस, फिर श्री शालिग्राम जी ने पीछे की ओर मुड़कर मुँह नही किया।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य यह है कि जब सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म ही चेतन आत्मा के रूप से 'अहं' रूप मे विद्यमान् हो रहा है, सूर्य की भांति जगमगा रहा है, एक क्षण के लिये भी अपने आत्मा से प्रथक् होकर परोक्ष व भिन्न नही हो सकता, तो फिर अपने चेतन आत्मा से भिन्न कहीं अलग ही मटरगश्ती करते हुए उस परोक्ष ईश्वर को मानने से क्या लाभ ? यदि वह आत्मा से भिन्न होगा तो अनात्मा (मिथ्या) होगा। यदि चेतन-सत्ता से भिन्न होगा तो जड़ होगा। यदि वह पूर्णरूप से सर्व-रूप नहीं होगा तो परिच्छिन्न होगा। ऐसे मनघढित व कपोल-कल्पित ईश्वर की शोभा तो अंधविश्वासी साम्प्रदायिक मन्दिरो, मसजिदो एवं गिरजाघरों मे ही होती है या किसी हवनकुण्ड में आहुति के साथ स्वाहा कर देने के लिये ही होनी चाहिये। विद्वानो व बुद्धिमानो को ऐसे 'खुदा' या 'गॉड' को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उन्हें तो जो ईश्वर सब का अपना आपा, सर्वरूप और हाजिर-हुजूर प्रत्यक्ष है, उसके यथार्थ बोध के अतिरिक्त अन्य साधन की किञ्चित् मात्र कोई आवश्यकता ही नहीं है। केवल दृढता व निश्चयपूर्वक अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन की,—जिससे वे कभी भी, त्रिकाल मे भी, तिल-भर भी इधर-उधर विचलित नही होते,—अनुभव कर लेने-भर की ही आवश्यकता है, और कुछ नहीं। इसलिये बोलो – 'अपने सच्चिदानन्द आत्मा की जय! और साथ ही कपोल-कल्पित अज्ञान का क्षय!'



# ज्ञानदेव की महिमा

'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्'—ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

इस श्रुति-वाक्य एवं स्वानुभव से ज्ञात होता है कि मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या (हर प्रकार की कमी) की पूर्ति केवल यथार्थ ज्ञान से ही हो सकती है। व्यावहारिक जीवन मे भी यथार्थ ज्ञानपूर्वक साधन से ही सभी कार्यों की सिद्धि होती या हो सकती है।

मानव-जीवन के समक्ष सदा एक प्रकार की कमी का अनुभव होता ही रहता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों (साधनो) के द्वारा वह उसी कमी को पूरा करने में लगा रहता है। जब तक वह पूरी नही हो जाती, तब तक विश्राम नही मिलता और इसकी पूर्ति चक्रवर्ती राज्य एवं स्वर्ग का आधिपत्य (इन्द्रासन) आदि प्राप्त हो जाने पर भी नही हो सकती। इसीलिये तो अर्जुन श्रीकृष्ण (साकार ब्रह्म) के, भक्ति के फलस्वरूप, प्रत्यक्ष (सामने) विराजमान् होने पर भी कातर-स्वर (आर्तनाद) से कह रहा है—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

अर्थ—हे प्रभो! मैने भली प्रकार से अनुभव (निश्चय) करके देख लिया है कि यदि मुझे सारी पृथिवी का आधिपत्य (सम्राट्

पद) एवं स्वर्ग का साम्राज्य भी प्राप्त हो जाय, तो भी मेरे मन-इन्द्रियो को संतप्त (क्षुब्ध) करने वाले ये शोक व मोह निवृत्त नही हो सकते।

किसी करोड़ोपति सेठ का दिवाला निकल जाय और उसके बदले मे दो-चार हजार रुपये मिल जायँ तो भला इससे उसे कैसे संतोष हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार एक कमी के कारण हर प्रकार की कमी का अनुभव त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त हो जाने पर भी जीव जीवनपर्यन्त करता ही रहता है। संतोष कभी हो नही सकता जब तक कि वह उस एक कमी को पूरा न कर ले।

अच्छा, तो वह कौन-सी कमी है ? अपने वास्तविक स्वरूप (सत्ता-सामान्य) मे स्थिति का अज्ञान। सविशेष स्वरूप (शरीर-धारी वृत्ति-उपहत चेतन) मे तो अनात्म परिच्छिन्न 'अहं'—'मैं' के रूप मे सभी स्थित ही है। यह कल्पित उपाधि ही तो सारी कमी, परिच्छिन्नता, दीनता, हीनता आदि का एक मात्र मूल कारण है। यद्यपि इस उपाधि की भी सत्ता सामान्य (पूर्ण-चैतन्य) से कोई प्रथक् सत्ता नही है, किन्तु ऐसा बोध तो नही है।

सबका वास्तविक स्वरूप वह निजात्मा (सत्ता-सामान्य) कहा और किस प्रकार का है कि जिस मे स्थित होने से सभी को स्थाई विश्राम हो सकता है ? सभी का वास्तविक स्वरूप चेतन (ज्ञान) तत्त्व है। इसी पूर्ण ब्रह्म के किसी एक अंग मात्र मे समष्टि संकल्प (वृत्ति-उपहत चेतन, ज्ञान या ईश्वर) है। उस संकल्प के किसी अंश मात्र मे असंख्य सूर्य एवं ब्रह्माण्ड स्थित है और प्रत्येक ब्रह्माण्ड मे अनन्त प्रकार की अनन्त सृष्टि है।

व्यष्टि संकल्प भी समष्टि संकल्प के अन्तर्गत ही है और संसार एवं व्यक्तिगत शरीर भी संकल्प का ही स्थूल रूप है। जिस

प्रकार विद्युच्छक्ति की तीन स्थितियाँ है,—कारण, सूक्ष्म, स्थूल (प्रत्यक्ष)। इलैक्ट्रान-प्रोटान कारण (सत्ता-सामान्य) रूप है, पावर हाउस के द्वारा शक्ति के रूप से प्रकट नैगेटिव-पोज़ेटिव सूक्ष्म रूप है और वही शक्ति बल्ब मे प्रकाश-रूप से प्रत्यक्ष स्थूल रूप है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन सत्ता-सामान्य (पूर्ण ब्रह्म) तत्त्व कारण रूप है, समष्टि संकल्प (वृत्ति-उपहृत चेतन) सूक्ष्म रूप है और शरीरों में वृत्तिज्ञान के रूप मे प्रत्यक्ष स्थूल (विशेष) रूप है। किन्तु विद्युत्वत् चेतन की ये तीनो स्थितियां या स्वरूप एक ही है।

अथवा चेतनदेव (पूर्णब्रह्म) की महिमा व शक्ति को प्रकट या प्रत्यक्ष करने के लिए तीन उपाधियाँ यानी शरीर है। ईश्वर (समष्टि संकल्प) या प्राज्ञ कारण शरीर है, देवता या तैजस सूक्ष्म शरीर है और मनुष्य या विराट् स्थूल शरीर है। वेद-पक्ष मे समष्टि वृत्ति या बुद्धि ज्ञान-भगवान् का कारण शरीर, समष्टि शब्द सूक्ष्म शरीर और समष्टि पुस्तके स्थूल शरीर है। कार्य को देखकर ही कारण की महिमा का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली अनन्त सृष्टि जिस चेतनदेव (ज्ञान तत्व) की महिमा एवं साम्राज्य का किंचित् चमत्कार मात्र है, उसी चेतन देव को शरीरधारी (परिच्छिन्न, कैदी) अवस्था मे भी इन तुच्छ भौतिक विभूतियों, ऋद्धियो, सिद्धियो, साम्राज्यो आदि से संतोष (कमी की पूर्ति) कैसे हो सकता है, जब तक कि वह अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन, वास्तविक स्वरूप, ब्रह्मत्व में पूर्ण रूप से स्थित न हो जाय ? ब्रह्मत्व मे इस प्रकार की स्थिति न मानना ही तो वह एक कमी है जिसके पूरा हुए बिना किसी प्रकार भी अन्य कमियों की पूर्ति नही हो सकती।

समुद्र (जल) से भिन्न तरंगो की स्थिति या सत्ता ही कहाँ है

जो किसी साधन द्वारा तरंगों को जल में स्थित होना पड़े ? तात्पर्य यह है कि मानने या विश्वास करने से जिस वस्तु की प्राप्ति होती है, विश्वास के समाप्त होते ही उस वस्तु की समाप्ति भी हो जाती है। किन्तु वस्तु या तत्व के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान या बोध से जिसकी अनुभूति होती है, उसकी निवृत्ति कभी हो नही सकती, क्योकि ज्ञान, बोध, अनुभूति आदि तो उस (आत्मा) का स्वरूप ही है।

किसी अनुभवी मस्त महात्मा ने किसी नगर मे जाकर यह घोषणा कर दी कि जिसे ईश्वर का दर्शन करना हो, आ जावे। एक व्यक्ति ने जाकर महात्मा से प्रश्न किया कि क्या आपका ईश्वर मे विश्वास है ? महात्मा ने कहा कि नही, किंचित्‌मात्र भी नही। वह आश्चर्य मे पडकर कहने लगा कि अभी तो आप कहते थे कि मैं ईश्वर का दर्शन कराऊँगा और अब कह रहे हैं कि ईश्वर मे मेरा विश्वास ही नही, यह क्या बात है ?

महात्मा ने कहा कि मेरा विश्वास ईश्वर मे इसलिये नही है कि उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता ने कहा कि यदि उसे देख रहे हो तो बताओ, वह कहाँ है ? महात्मा ने जूता पहिने हुए पैर को भूमि पर मारकर कहा कि यहाँ है। यह दृश्य देखते ही वह व्यक्ति घबड़ा कर हाय-हाय करता हुआ चिल्लाया—'नास्तिक, महा नास्तिक ! ओह, इस साधु का दर्शन करना भी महापाप है !'—और वहाँ से भागने लगा। महात्मा ने फौरन उसके हाथ पकड़ लिये और बोले कि ओ आस्तिक के बच्चे, सुन ! ईश्वर व्यापक है या परिच्छिन्न ? उस व्यक्ति ने कहा कि व्यापक है। तब महात्मा ने कहा कि फिर वह यहाँ (जूता मारने के स्थान) पर भी कैसे नही है ?

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो जगत् से भी अधिक

व प्रथम ईश्वर (चेतन आत्मा) प्रत्यक्ष है। नाम-रूपात्मक जगत् तो पश्चात् ही दृष्टि में आता है, इसके दीखने से प्रथम ही इस सब जगत् के अधिष्ठान ईश्वर (ज्ञान तत्व) का दर्शन होता है, जैसे कार्य नाम-रूपात्मक (अध्यस्त) भूषणों के दीखने से पूर्व कारण (अधिष्ठान) स्वर्ण का दर्शन सभी को होता है।

वह कौन-सा तत्व है जिसको पहले देखे बिना और कुछ देख ही नही सकते? वह तत्व प्रकाश है। इसलिए दृश्य से अधिक एवं प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है जिसका कोई महत्व ही नहीं। वह कौन-सा परम तत्व (शक्ति) है जो प्रकाश से भी प्रथम व अधिक प्रत्यक्ष है और जो किसी गिनती मे ही नही है? क्या ज्ञान (चेतन) के बिना प्रकाश और तज्जन्य दृश्य कभी भी, किसी प्रकार से भी, देखे जा सकते हैं? कदापि नही!

यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् के दीखने से प्रथम दीखने वाला व अधिक प्रत्यक्ष प्रकाश है। इस प्रकाश से भी प्रथम व अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान तत्व है। यही ज्ञान (चेतन) तत्त्व सब शरीरधारी प्राणियो का 'मैं' या 'अहं' रूप से प्रत्यक्ष अन्तरात्मा है। इसी चेतन तत्व को ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, गॉड, खुदा आदि नामो से कहा जाता है। इस प्रकार का ज्ञान (बोध) होना ही अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन अर्थात् स्वयंप्रकाश, स्वयंसंवेद्य, सत्ता-सामान्य, निजात्मा मे स्थित होना है।

उपरोक्त सारी बाते बिल्कुल सीधी-सादी सरल हैं, किन्तु संस्कारजन्य दोष के कारण इन्हें उलटी-पलटी समझकर एव अर्थ का अनर्थ करके प्राय. लोग चक्कर मे पड़े रहते है। उदाहरणार्थ व्यावहारिक बोल-चाल मे लोग कहा करते है— सड़क चल रही है, कुंआ चल रहा है, स्टेशन आ गया, आश्रम

चला रहे हैं, सूर्य अस्त हो गया या उदय हो रहा है, सूर्य या चन्द्र-ग्रहण लगा है।' लोग इन वाक्यो का उच्चारण विना अर्थ जाने ही करते रहते हैं। यदि विचार किया जाय तो उपरोक्त वाक्यों का अर्थ यथार्थतः कुछ और ही निकलता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

कहने और समझने में ही लाखों फेर होते है।
वह चिड़िया कौन-सी है जिसके सिर पर पैर होते हैं ?

इसी वात पर मुझे एक घटना याद आ गई। एक वार मैं गंगा के किनारे पैदल यात्रा करता हुआ कानपुर से आगे एक ग्राम से निकट पहुँचा। गाव के वाहर एक सज्जन मिले। उन्होने मुझे अपने निकट वुलाकर पूछा—'क्या तुम चमार की रोटी खा सकते हो ?'

मैंने कहा—'श्रीमान् जी ! रोटी तो गेहूँ, जौ, चना, ज्वार, वाजरा, मकई आदि की होती है। चमार की रोटी तो आज तक मैंने न देखी, न सुनी।'

प्रश्नकर्ता ने कहा—'तुम मेरी वात नही समझे।'

मैंने कहा—'समझाइए !'

प्रश्नकर्ता—क्या तुम चमार के साथ रोटी खा सकते हो ?

मैं—नहीं खा सकते, क्योकि रोटी दाल, साग, भाजी, दही, चटनी अचार आदि के साथ खाई जाती है। चमार के साथ रोटी खाना असम्भव है।

प्रश्नकर्ता—तुम विलकुल ही मूर्ख जान पड़ते हो, मेरी वात ही नही समझ सकते।

मै—क्या करूं, बुद्धि ही इतनी है। आप समझाने की कृपा कीजिए!

प्रश्नकर्ता—क्या तुम और चमार एक थाली मे बैठकर रोटी खा सकते हो?

मै—नही, कदापि नहीं। पहले तो चमार और मैं एक थाली में बैठ ही नही सकते। यदि मान लो कि बैठ भी जायँ तो फिर भोजन कहां रखेगे?

प्रश्नकर्ता (क्रोधवेश में आकर)—तुम इतने मूर्ख, पागल हो कि कुछ समझते ही नही। तुम्हारे जैसे मूर्खों ने ही तो संसार को भ्रष्ट किया है। तुम्हें मेरे से शिक्षा लेनी चाहिए!

मै— आपकी बड़ी कृपा होगी। आप जैसे बुद्धिमानों से यदि मै शिक्षा नहीं लूगा तो फिर और किस से लूंगा? दिखलाइए चमत्कार अपनी बुद्धि का!

प्रश्नकर्ता—सुनो मेरी बात! मैंने मदिरा, मांस आदि सभी अभक्ष्य वस्तुओं को खाया, चोरी, डाका, व्यभिचार, जुआ आदि जितने भी संसार में बड़े-से-बड़े पाप-कर्म है,—सभी किए, किन्तु अभी तक मैने अपना धर्म नही छोडा।

मै आश्चर्य मे पड़कर पूछने लगा कि श्रीमान् जी, वह कौन-सा धर्म है जिसे इतना होने पर भी आपने नहीं छोड़ा? प्रश्न-कर्ता ने बतलाया कि किसी साले को चौके मे अभी तक नहीं आने दिया और न ही किसी ससुरे का छुआ हुआ पानी ही अभी तक पिया।

अब आप लोग स्वयं विचार कर सकते है कि 'उलटे चोर कोतवाल को डांटे' वाली कहावत यहां चरितार्थ हो रही है! जो

बात मुंह से बोल रहे है, उसका अर्थ समझ तो स्वयं नहीं रहे और न समझने का दोषारोपण दूसरे पर कर रहे है।

मैंने कहा कि धन्य है धर्मात्मा जी महाराज ! आप जैसे धर्मात्माओ से ही तो यह पृथिवी टिकी हुई है, नहीं तो अब तक कभी की रसातल को चली गई होती।

अर्थ समझे बिना अज्ञान-पूर्वक जितने भी वाक्य बोले जाते है, उनमे से यहां एक का उल्लेख करना असंगत न होगा। सूर्य-ग्रहण के विषय मे यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

ग्रहण लगने पर प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि सूर्य या चन्द्र को किसी ने ढक या आच्छादित कर लिया है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति किसको और क्यो होती है? पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यो को ही ग्रहण भासता है, सूर्य-चन्द्र को नहीं भासता, क्योकि उनमे तो वह है ही नहीं।

पृथिवी एवं सूर्य के मध्य मे अर्थात् पृथिवी के सामने जब चन्द्रमा आ जाता है, तो सूर्य का प्रकाश पृथिवी पर नही पड़ता। ऐसी परिस्थिति को सूर्यग्रहण कहा जाता है। इसी प्रकार से रात्रि को सूर्य और चन्द्रमा के मध्य मे पृथिवी आ जाती है तो चन्द्रमा पर सूर्य का प्रकाश नही पड़ता। ऐसी परिस्थिति को चन्द्रग्रहण कहते है। तात्पर्य यह कि जब सूर्य का प्रकाश पृथिवी पर नही पड़ता तो सूर्यग्रहण और जब चन्द्रमा पर नही पड़ता तो चन्द्रग्रहण कहलाता है। दोनो प्रकार के ग्रहण पृथिवी पर स्थित मनुष्यो को ही भासते है, सूर्य अथवा चन्द्र किसी के द्वारा आच्छादित कदापि नही हो जाते।

इसी प्रकार सब का अपना आत्मा सूर्य है, मन चन्द्रमा है

श्रौर शरीर पृथिवी है। जिस समय शरीर के सामने मन आ जाता है अर्थात् मन एवं शरीर का सम्बन्ध होता है, तब सूर्य-ग्रहण यानी आत्मा में अज्ञान व बन्धन का आरोप होता है जो सर्वथा असम्भव है। जब मन के सामने शरीर आ जाता है अर्थात् 'अहं' या 'मैंपन' की भावना से मन का शरीर मे तादात्म्याध्यास हो जाता है तो चन्द्रग्रहण होता है यानी बुद्धि अविद्या से आच्छादित हो जाती है। सूर्य (आत्मा) के वास्तविक स्वरूप का बोध हो जाने से ग्रहण (बन्धन, अज्ञान) के भय का भ्रम सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

यह ग्रहण लगता क्यो है? पौराणिक इतिहास से ज्ञात होता है कि जिस समय विष्णु भगवान् समुद्र से निकले हुए अमृत को देवताओ को पिला रहे थे, उसी समय राहु नाम का दैत्य भी छिपकर देवताओ की पंक्ती में बैठ गया। सूर्य व चन्द्रमा ने विष्णु को इसका संकेत कर दिया। भगवान् ने चक्र से उस दैत्य का सिर काट दिया। सिर व धड़ (शरीर) अलग-अलग होने पर भी, अमृत पी लेने के कारण, वह दैत्य मरा नही वरन् उसके राहु और केतु नाम के दो दैत्य हो गए। इसी शत्रुतावश राहु ने सूर्य और केतु ने चन्द्रमा को आच्छादित करना प्रारम्भ कर दिया।

इस कथा का भावार्थ (तात्पर्य) इस प्रकार है। जब संसार रूपी समुद्र का मन्थन अर्थात् सत्-असत् विवेक (विचार) किया जाता है तो अमृत यानी सत् आत्मा की उपलब्धि या साक्षात्कार होता है। गुरु रूपी विष्णु के द्वारा देवताओ (मुमुक्षुओ) को इस ज्ञानामृत का 'आत्मा' या 'अह' रूप से अनुभव कराया जाता है। तब उस शिष्य में ज्ञान व त्याग का अनात्माभिमान रूपी राहु घुसता है जिसका पता ज्ञान (विवेक) रूपी सूर्य तथा शान्ति रूपी

चन्द्रमा द्वारा ही लगता है। इस अनात्माभिमान का नाश करने के लिए गुरु आत्मा को अद्वितीय और अज्ञान या अभिमान को कल्पित दर्शाता है, किन्तु अधिष्ठानरूप होने से सर्वथा निःशेष रूप मे इसकी निवृत्ति नही होती। प्रातिभासिक रूप से यह अनात्माभिमान बना ही रहता है।

यदि ऐसा न होता तो जगत् का अस्तित्व ही अब तक समाप्त हो गया होता। उस अनात्माभिमान के दो टुकड़े हो गए—'मैं' और 'मेरा'। 'मैं' आत्मज्ञान को और 'मेरा' शान्ति को आच्छादित करता रहता है। वास्तव मे आत्मा-सूर्य इन व्यर्थ की कल्पनाओ से सर्वथा असंग है।

उपरोक्त विचार करने से ज्ञात होता है कि किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक बोध हो जाने पर मानव-जीवन की भ्रान्तिजन्य सभी बडी समस्यायें, नाना प्रकार के सशय, चिन्ता, शोक, मोह, अज्ञान, बन्धन, भय आदि निवृत्त होकर उसे अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव होने लगता है।

मनुष्य के व्यावहारिक एवं पारमार्थिक (आध्यात्मिक) क्षेत्र (जीवन) में केवल ज्ञान की ही महिमा, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि विशेषताएँ देखने मे आ रही है। ज्ञान की सहायता के बिना कर्म भी हो ही नही सकता, - जैसे बिना प्रकाश के कोई कार्य नही हो सकता। समस्त विश्व का नियन्त्रण या संचालन (समस्त व्यवहार) ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। क्या हम लोग संसार में देखते नही कि एक मजदूर बारह-बारह घंटे कठिन से कठिन परिश्रम करता है और उसे अधिक से अधिक दो रुपये मज़दूरी, खाने के लिए रूखा-सूखा भोजन, पहिनने के लिए फटे-पुराने मैले वस्त्र, रहने के लिए टूटी-फूटी झोंपड़ी मिलते हैं और आदर-कुछ भी नही मिलता।

इसके विपरीत उसी विभाग का एक इञ्जीनियर परिश्रम नाम-मात्र को करता है। उसके लिए कार पर सवारी, रहने के लिए बडे-बडे बंगले, अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, मान-प्रतिष्ठा, हज़ारों रुपये वेतन आदि क्यों है ? यह सब ज्ञान या विद्या का महत्व है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता अध्याय ४ में कहा है:—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।३३

अर्थात् समस्त यज्ञ-कर्मादि जितने भी साधन है, उन सभी में प्रतिष्ठित ज्ञान श्रेष्ठ है क्योकि समस्त कर्म ज्ञान मे समाप्त हो जाते है अर्थात् ज्ञान (चेतन) ही सब का आदि कारण और अधिष्ठान है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। ३७
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। ३८

उपरोक्त श्लोकों का तात्पर्य यही है कि इस मनुष्य को पावन (पवित्र) करने वाला इस समस्त विश्व मे ज्ञान से बढकर और कुछ नहीं है क्योंकि ज्ञानरूपी अग्नि इसके समस्त (सचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) कर्मों, अज्ञान, बधन, शोक, मोह, जन्म-मृत्यु आदि दु:खों की जननी भ्रांति को भस्म (निवृत्त) कर डालता है।

इस प्रकार से जिस ज्ञान तत्त्व की महिमा का बखान हो रहा है, वह तो सब का स्वयं अपना आत्मा ही है और यही ज्ञान

(चेतन देव) समस्त विश्व की सत्ता (अधिष्ठान) रूप है। जो इस प्रकार की सर्वात्म-भावना अर्थात् जगत को ईश्वरमय अनुभव करता है, उस महात्मा की प्रशंसा श्रीकृष्ण एवं श्री रामचन्द्र जी ने अपने मुखारविन्द से स्वयं की है:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः ॥
'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।'
'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।'

'सप्तम सम मोहिमय जग देखा,
मोते अधिक संत कर लेखा ।'

अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से जो सब भूत प्राणियों में एक अपने ही आत्मा को अनुभव करता है और शारीरिक (व्यावहारिक) दृष्टि से सब के दुःख-सुख को अपने जैसा ही देखता है, वही मेरे मत से परम योगी है।

सब भूत प्राणियों के हित मे रत रहने वाले सर्वात्मवादी परमहंस महात्माओ की महिमा सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा क्यों है ? इस विषय मे एक उदाहरण देना अत्युत्तम होगा।

एक परमहंस दयालु महात्मा संसार के प्राणियों को अधिकांश मे दुःखी देखकर विचार करने लगे कि समस्त संसार के सभी दुःख सदा के लिए किस प्रकार समाप्त किए जा सकते हैं ? उन्हें विचार आया कि यदि सर्वशक्तिमान् ईश्वर को प्रसन्न करके प्रकट (प्रत्यक्ष) किया जाय तो यह महान् कार्य सुगमतापूर्वक सिद्ध हो जायगा। इसके लिए महात्मा ने दुर्गम पर्वत की कन्दरा

(गुफा) में जाकर उग्र तप आरम्भ कर दिया। लगभग बारह वर्ष घोर तपश्चर्या करने के पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट होकर महात्मा से कहने लगे कि हम लोग तुम्हारे ऊपर बहुत ही प्रसन्न है, जो वर चाहो, मांग लो।

महात्मा ने कहा– मैं जो कुछ चाहता हूँ, क्या आप लोग उसे पूरा कर सकते है ?

त्रिदेवों ने कहा कि ऐसी कौन-सी बात है जो हम लोग नही कर सकते ? हम असम्भव को भी सम्भव कर सकते है।

महात्मा ने कहा कि मुझे तो आशा नही है कि आप लोग उस कार्य को कर सकेंगे क्योकि यदि आप लोगों में उस कार्य को करने की सामर्थ्य होती तो अब तक कर दिया होता। आप लोगों का अस्तित्व क्या आज ही हुआ है ?

त्रिदेवो ने कहा कि नही, हम लोग तो अनादि-अनन्त है।

महात्मा ने कहा कि आप लोगों को यह संसार कभी दृष्टि-गोचर होता है या नहीं ?

त्रिदेवों ने उत्तर दिया कि हा, दीखता है।

महात्मा—इस जगत् मे किसी प्रकार के कोई दुःख भी है या नही ?

त्रिदेव—अधिकांश में दुःख-ही-दुःख है।

महात्मा—कभी आप लोगो ने संसार के समस्त दुःखो को निवृत्त करने का विचार भी किया है ?

त्रिदेवों ने उत्तर दिया—नही।

महात्मा—यदि आप लोग सर्व-समर्थ है और मुझे प्रसन्न

होकर कुछ देना ही चाहते हैं तो संसार के समस्त दुःखों को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर दीजिए।

त्रिदेव—इस कार्य को करने में हम लोग असमर्थ हैं, कोई और वरदान मांग लो।

महात्मा ने क्रोधावेग में कहा—चले जाओ यहाँ से, यह खेलने के खिलौने (वरदान) किसी बच्चे को जाकर दो !

त्रिदेवो ने समझाया कि महात्मा जी ! जबकि आप इस बात को जानते है कि 'दृष्टिरेवसृष्टि.' अर्थात् आपके संकल्प ने ही जगत् एवं दुःखी प्राणी आदि के रूप को स्वप्नवत् धारण किया है, तो फिर इन सारे प्रपंचो का उत्तरदायित्व किस पर है ? जब केवल एक चेतन सत्ता ही सर्वरूप है तो फिर हम लोग (ईश्वर), जगत्, दुःख आदि कहाँ हैं कि जिनसे लोगो को आप मुक्त करना चाहते है ? इस प्रकार से निश्चय (जान) करके अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित हो जाइए। यही सारे जगत् के दुःख को सदा-सर्वदा के लिए निवृत्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति की स्थिति मे मुमुक्षुओ (जिज्ञासुओं) को सदुपदेश दीजिये। इतना कह कर वे सभी वही अन्तर्धान अर्थात् सत्ता-सामान्य मे स्थित हो गए।

उपरोक्त विचार से ज्ञात होता है कि स्वरूप मे स्थित हुए मुक्तात्मा दो प्रकार के हुआ करते हैं,—प्रथम विदेहमुक्त, दूसरे जीवन्मुक्त। विदेहमुक्त को ही दूसरे शब्दो मे जीवनमृत भी कह सकते हैं। यह स्थिति पहुँचे हुए की हुआ करती है जो फिर व्यवहार मे नहीं आ सकता। ऐसे महानुभावो के द्वारा संसार को विशेष लाभ नही पहुँचता। जीवन्मुक्त लौटे (वापस) हुए को कहते हैं। जैसे कोई विदेश जाकर, वहाँ की विद्या आदि सीखकर,

स्वदेश में आकर उसका प्रचार करे, इसी प्रकार स्व-स्वरूप का अनुभव प्राप्त करके, व्यवहार को भी परमार्थ रूप समझता हुआ अन्य जिज्ञासुओं को भी स्वानुभव का सन्देश सुनाता रहे। व्यास, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, राजा जनक, शुकदेव, राम, कृष्ण प्रभृति ऐसे ही औपनिषद्, शास्त्रज्ञ, दार्शनिक तत्ववेत्ता हो चुके है। ऐसे महान् पुरुषो का जोवन, विद्या, ज्ञान, अनुभव आदि जनता-जनार्दन के अज्ञान, बन्धन, दु.खों की निवृत्ति करने के लिए परमोपयोगी, महान् हितकर तथा कल्याणकारी होते है।

अब अन्त में उपरोक्त ब्रह्मविद्या (वेदान्त) के द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त करने के अधिकारी (जिज्ञासु, मुमुक्षु) के विषय मे भी कुछ विचार कर लेना उचित ही होगा। वैसे तो शरीरधारी प्राणिमात्र ही आत्मज्ञान के अधिकारी है, क्योकि जिस आत्मा या ईश्वर का ज्ञान (बोध. अनुभव) प्राप्त करना है, वह तो ज्ञान (चेतना) रूप से सभी का अपना 'स्वयं' (आत्मा) ही है। इसलिए अपने आपे का ज्ञान (अनुभव) प्राप्त करना सभी का स्वाभाविक अधिकार है। उपनिषदो, योगवासिष्ठ आदि ब्रह्म-विद्या के सद्ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि पशु-पक्षियों ने भी आत्मज्ञान के निरूपण किये है।

अन्य शरीरधारी प्राणियो (पशु-पक्षियो) मे मनुष्य जैसी विवेक-बुद्धि विकसित नही है, इसीलिए वे लोग आत्मज्ञान के लिए साधन नही कर सकते। वही जिज्ञासु मनुष्य सरलता, सुगमतापूर्वक आत्म-साक्षात्कार कर सकता है जो विवेक द्वारा शरीर व ससार को अनित्य, क्षणभंगुर समझकर उस कमी का अनुभव करने लगे जिसको पूरा कर लेने से शेष सभी कमियाँ अपने आप स्वय ही पूरी हो जाती है। श्रुति का वाक्य भी ऐसा ही है—'एकेन ज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातम् भवति' —अर्थात् वह

कौन-सा एक तत्व है जिसके जान लेने से सब जाना जाता है ? सर्वाधिष्ठान ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा ही वह परम तत्व है ।

अब निश्चय इस बात का करना है कि जिस अद्वितीय आत्मा के अज्ञान के कारण ही अन्तःकरण और उसके कार्य मल, विक्षेप, आवरण आदि दोषो की कल्पित भ्रान्ति एवं प्रतीति हो रही है, उसी शुद्ध चिन्मात्र आत्मतत्व के ही ज्ञान से उपरोक्त अन्तःकरण और तीनो दोषो की निवृत्ति हो सकती है,—अन्य किसी भी साधन के द्वारा नही हो सकती ।

कोई मनुष्य कीचड़ से लथपथ होकर अपने घर जा रहा हो और मार्ग मे उसे कोई रोकने लगे कि तुम्हें अपने घर जाने का कोई अधिकार नही, पहिले कीचड़ धोकर शुद्ध होने के बाद ही घर जा सकते हो, तो क्या ऐसा कहना (या मानना) न्यायसङ्गत हो सकता है ? कदापि नही, क्योकि कीचड की सफाई (शुद्धि) तो अपने घर मे ही हो सकती है, अन्यत्र नही !

वास्तव मे तो ज्ञान को होने वाला (आत्म-साक्षात्कार) मानने से 'वदतो व्याघात' दोष उपस्थित होता है, क्योकि यदि आत्मज्ञान स्वत.सिद्ध, सर्वप्रथम अपरोक्ष-स्वरूप न हो तो अज्ञान, उसका कार्य (अन्तःकरण) एव उस कार्य की मलिनता (अशुद्धि) आदि की सिद्धि ही कैसे होगी अर्थात् - 'मैं अज्ञानी हूँ, मेरा अन्तःकरण मलिन है'—ऐसा अनुभव किसे होगा ?

यदि दुर्जनतोष न्याय से मान भी लिया जाय तो जिस आत्मा के अज्ञान द्वारा अन्तःकरण एव उसकी मलिनता की भ्रांति (प्रतीति) हो रही है, उस आत्मा के ज्ञान से ही अन्तःकरण की शुद्धि एवं आत्मज्ञान की प्राप्ति (साक्षात्कार) भी हो सकती है। जैसे कीचड के द्वारा कीचड़ की सफाई नही हो सकती, निर्मल

(शुद्ध) जल से ही उसकी शुद्धि हो सकती है, इसी प्रकार अन्तः-करण एवं उसकी मलिनता भी अविद्या (अज्ञान) के कार्य है तथा ज्ञान के अतिरिक्त, शारीरिक व मानसिक क्रियाये होने से, अन्य सब साधन भी अन्तःकरण के ही कार्य हुए । तब इन कार्यो के द्वारा उस कारण (अन्तःकरण) की शुद्धि कैसे हो सकती है ? बिना कारण (अज्ञान) के निवृत्त हुए उसके कार्य की निवृत्ति कैसे हो सकती है ? अतः विशुद्ध आत्मज्ञान के द्वारा ही अज्ञान एवं उसके कार्य मलिनतादि की निवृत्ति हो सकती है। कोयले की कालिमा केवल अग्नि से ही दूर हो सकती है, साबुन, सोडा, जल आदि से नहीं ।

किसी व्यक्ति के घर के द्वार पर बोर्ड लगा है कि 'बिना आज्ञा अन्दर आना वर्जित है।' कोई बाहर का दूसरा मनुष्य आयेगा तो उसे मकान-मालिक से आज्ञा लेनी पड़ेगी, किन्तु स्वयं गृह-स्वामी तो उस बोर्ड को देखता तक नहीं, सीधा अन्दर चला जाता है। इसी प्रकार 'अपना आपा' ही ईश्वर और आत्मा होने से आत्मज्ञान मे सभी का स्वाभाविक अधिकार है। अतः तेली के बैल की भाँति चक्कर लगाने के बजाय सभी को परम प्रकाशमय, परम पावन, सर्वोत्कृष्ट 'ज्ञानदेव' का ही सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिए।



# वास्तविक सिद्धान्त

वेदान्त-शास्त्रो मे अविकारी भेद से प्रायः तीन प्रकार की प्रक्रियाओ के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है—(१) विवर्तवाद (२) दृष्टि-सृष्टिवाद (३) अजातवाद ।

## विवर्तवाद

इस वाद मे जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं अर्थात् कोई भी कार्य, अपने कारण मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये विना ही अपनी (कार्य की) प्रतीति करावे, जैसे कि भ्रमस्थल मे सर्प रज्जु का विवर्त है। किन्तु रज्जु से प्रथक् जब कोई-न-कोई सर्प का द्रष्टा होगा तभी तो सर्प की प्रतीति हो सकेगी, सर्प की भ्रान्ति रज्जु को स्वय तो नही हुआ करती। सर्प की भ्रान्ति से पूर्व भी जब तक भ्रान्ति के पाच साधन (कारण) विद्यमान् न हो, तब तक सर्प की भ्रान्ति हो ही नही सकती। सर्प का भ्रम होने से पूर्व परमार्थरूप सत्य वस्तु रज्जु से भिन्न—(१) सर्पदृष्टा, (२) सच्चा सर्प, (३) सच्चे सर्प का संस्कार, (४) सर्प का सादृश्य तथा (५) मन्द अन्धकार,—इन पांचो का होना अनिवार्य है। किन्तु जबकि वेदान्त चेतन सत्ता के अतिरिक्त और सत्ता ही नही मानता तो फिर जगत् ब्रह्म का विवर्त कैसे हो सकता है ?

इस वाद मे तीन सत्तायें मानी जाती हैं—व्यावहारिक, प्राति-भासिक तथा पारमार्थिक । भयभीत होना रूप व्यवहार, सर्प-प्रतीति रूप प्रतिभास तथा रज्जु का परमार्थत्व,—ये सब स्थूल

बुद्धि वालो को समझाने के लिए वेदान्त की प्रथम कक्षा है। यह प्रक्रिया कनिष्ठ अधिकारी के लिये उपयुक्त है।

## दृष्टिसृष्टिवाद

इस वाद मे जगत् की सत्ता प्रातिभासिक मानी गई है, जैसे मरुस्थल का जल तथा स्वप्न की सृष्टि न होने पर भी प्रतीत होते है। इस वाद मे व्यावहारिक सत्ता का निषेध करके प्रातिभासिक व पारमार्थिक दो सत्ताएँ मानी गई है। परन्तु इस वाद-युक्ति मे भी द्वैत की आपत्ति होती है क्योंकि मरुभूमि में जल की भ्रान्ति तभी हो सकती है जबकि (१) सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश, (२) मरुभूमि, (३) सच्चे जल का सस्कार, (४) द्रष्टा,— ये चार भ्रान्ति के साधन (कारण) परमार्थरूप सत्यवस्तु मरुस्थल के पहले ही विद्यमान् हो। किन्तु जब केवल ज्ञानरूप आत्मा से प्रथक् और कुछ है ही नही तो फिर भ्रान्ति और उसका कार्य (जगत्) कैसे हो सकता है ? यह वेदान्त की दूसरी कक्षा है। यह प्रक्रिया मध्यम अधिकारी के लिए उपयुक्त है।

## अजातवाद

यह वेदान्त की अन्तिम प्रक्रिया है अर्थात् अब तक जिस भ्रम और उसके कार्य (जगत्) को मानते आये है, वह वास्तव में है ही नही। चेतन सत्ता देश-काल-वस्तु के परिच्छेद से रहित, अपने आप में पूर्ण है और पूर्ण मे दूसरी वस्तु की समाई ही नही हो सकती तो भ्रम और उसका कार्य कैसे हो सकता है ? नही हो सकता।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब अजातवाद का सिद्धान्त ही ठीक है, तब जगत् की यह प्रत्यक्ष प्रतीति क्यों तथा किसको हो रही है ? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान श्रुति ने ही कर दिया

है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—अर्थात् निश्चय करके यह नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है,—जैसे नाना प्रकार के वस्त्र रुई, भूषण स्वर्ण और घट मृत्तिका रूप ही हैं।

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि रुई, स्वर्ण और मृत्तिका,—ये स्वय (विना किसी दूसरे की सहायता के) कार्यरूप में नही हो सकते, इसलिए इनका वनाने वाला कर्त्ता कोई-न-कोई अवश्य होना चाहिए। यदि यह वात ठीक है तो इस 'अजातवाद' में भी द्वैत की आपत्ति हो जायगी।

इसका एकमात्र उत्तर यही है कि जिस प्रकार वायु तथा विद्युत मे स्वाभाविक,—विना किसी अन्य वस्तु के सम्वन्ध के ही,— क्रिया होती है, वैसे ही परमात्म तत्व मे भी होती है। गतिशील (क्रियावान्) वायु को विशेप तथा स्थिर (निष्क्रिय) वायु को सामान्य कहते है। इसी प्रकार निष्क्रिय या निर्विकल्प चेतन-सत्ता मात्र को निर्विशेप सामान्य चेतन या शुद्ध ब्रह्म कहते है और अन्तःकरण-उपहत या संकल्प-विकल्पयुक्त चेतन को सविशेप चेतन कहते है। यह सविशेप चेतन ही द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इत्यादि त्रिपुटी के रूप मे पूर्ण हो रहा है जिसे जगत् भी कहते है। अव उसी का संक्षेप मे विचार किया जाता है।

वेदान्त मे दो प्रकार के वाक्य होते है,—निपेधात्मक तथा विधेयात्मक। इन्हे ही अपवाद व आरोप भी कहते हैं। आरोपित (कल्पित) वस्तु का अपवाद (निपेध) करना वेदान्त की प्रक्रिया (समझा की रीति) है, किन्तु यहाँ इसके विचार की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल विधेयात्मक अजातवाद के सिद्धान्त का ही विचार किया जाता है।

नैव जात इति अजात.' अर्थात् उत्पत्ति रहित वस्तु को

अजात कहते है तथा उसी को अनादि भी कहते है—'न आदि-र्यस्य इति अनादिः'—अर्थात् जिसकी आदि (उत्पत्ति) न हो। इसलिये इस जगत् को प्रवाह रूप से अनादि मानना पड़ता है। जब जगत् की उत्पत्ति ही नही तो फिर कर्ता का कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता। तभी यह नाम-रूपात्मक जगत् कारण-कार्य से रहित ब्रह्म रूप हो सकता है।

कुछ लोगो का सिद्धान्त है कि नाम-रूप का बाध करके अस्ति-भाति-प्रियरूप से यह जगत् ब्रह्म होगा। यदि नाम-रूप का बाध माना जायगा तो फिर वही द्वैत का प्रतिपादक निषेधात्मक साधन ही विद्यमान् रहेगा और द्वैतभाव की निवृत्ति नही होगी। इसलिये निश्चय करके यह नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है,—जैसे सारे वस्त्र निश्चय रूप से रुई ही है।

'अजातवाद' में विधिवाक्य सिद्धान्त के अनुसार नाम-रूपात्मक जगत्, पाँच विषय तथा उनके अवान्तर भेद और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, छल, कपट, राग, द्वेष, जन्म, मृत्यु, बन्धन, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि नाना प्रकार के कार्य,—इन सबका कारण माया को ही माना है। इनसे सम्बन्ध होने से दुःख तथा इनके त्याग से 'परम शान्ति' (मोक्ष) मानते है। परन्तु ऐसा मानने वाले महानुभावो को कभी मोक्ष व शान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमे प्रश्न यह होता है कि ये सब बन्धन व दुःख के कारण (साधन) कहाँ से और क्यों आये ? फिर, जिन कारणो (साधनो) से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द आत्मा को बन्धन व दुःख है, उन कारणो को एक बार निवृत्त (नष्ट) कर देने पर भी वही दुःख व बन्धन पुनः हो सकते हैं। यदि पुनः ऐसा नही हो सकता तो फिर अब क्यो है ? इसलिए समझ लो कि निश्चित् ही अब भी वैसा नहीं है।

वन्धन, मोक्ष, ज्ञान, अज्ञान, माया, अविद्या, जीव, ईश्वर इत्यादि का होना और न होना केवल शिशुओ की कल्पनाएँ ही हैं। ये सब सिद्धान्त की बातें नही हैं। इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना करने वालों को कभी मोक्ष और शान्ति हो ही नही सकती, क्योकि इसमे यह प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि वन्धन व दुःख के ये समस्त कारण व साधन सत् हैं या असत् हैं ? यदि कहो कि सत् हैं तो निवृत्त नही हो सकते और यदि कहो कि असत् हैं, तब इनसे भयभीत होने की कोई आवश्यकता ही नहीं जब कि ये हैं ही नहीं। यदि इन्हे कल्पना मात्र (मिथ्या) मानते हैं तो आज तक किसी ने भी सूर्य मे अन्धकार की न तो कल्पना ही की है और न कल्पित अन्धकार की निवृत्ति ही की जाती है।

बहुत से महानुभाव इस विषय में उल्लू का दृष्टान्त देते हैं कि सूर्य मे अन्धकार न होते हुए भी उल्लू उसे अनुभव करता है। पर यह दृष्टान्त भी बुद्धिहीन बालकों सरीखा ही है क्योकि उल्लुओ ने मनुष्यों के पास ऐसा कोई प्रार्थना-पत्र लिखकर नही भेजा कि भाइयो, सूर्य हमें अन्धकारमय प्रतीत हो रहा है। मैंने स्वयं इस बात का अनुभव करके देखा है कि उल्लू को भी दिन मे दीखता है। एक लम्बा बाँस लेकर उसके सामने किया और वह देखते ही उड़ गया। इसलिए वन्धन व अज्ञान को मानना ही वन्धन व अज्ञान है अन्यथा भेद-छेद से रहित चेतनसत्ता के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु है ही कहाँ जिसके साथ युद्ध करना है ? माण्डूक्य की कारिका इसी को कहती है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता॥

अर्थात् किसी भी प्रकार के साधन की कोई आवश्यकता

नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार का कोई बन्धन व अज्ञान आत्मा मे है ही नही। इसलिये मुमुक्षु व मुक्तात्मा भी कोई नहीं वरन् अपने आपका अनुभव या निश्चय ही परमार्थ है।

जिस नाम-रूपात्मक जगत् को अपने आत्मा से प्रथक् अनुभव करके कल्पित भ्रम की प्रतीति होती है तथा जिससे नाना प्रकार के साधन-साध्य सहित सारा संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है, उसी का निरूपण और भी बहुत-सी इंगलिश, उर्दू, फारसी इत्यादि भाषाओं में भी है। परन्तु इन से भ्रान्तियो से छूटना तो दूर रहा, उल्टे नाना प्रकार की भ्रान्तियो की और दृढ़ता होती जाती है।

ग्रन्थों मे एक ओर तो केवल ब्रह्म-सत्ता को ही भेद-छेद से रहित अद्वितीय रूप से प्रतिपादन किया है और कहा है कि केवल चेतन तत्व स्वयं ही नाना प्रकार के नाम-रूपो मे द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इत्यादि त्रिपुटी रूप से पूर्ण है,—जैसे नाना प्रकार के घटों में मृत्तिका या नाना प्रकार के भूषणो मे स्वर्ण ओतप्रोत है। जिस प्रकार बाग को वृक्षो के समूह से, नगर को घरो के समूह से और फुलवाडी को पुष्पो के समूह से प्रथक् सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार यदि समष्टि नाम-रूपात्मक जगत् से पृथक् ब्रह्म की खोज की जावे तो तीन काल मे भी चेतन सत्ता का अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता, क्योकि कोई भी कारण कभी भी अपने नाम-रूप कार्य के वास्तविक स्वरूप से प्रथक् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जिन वेदान्त ग्रन्थो में एक ओर तो केवल एक सत्ता का ही प्रतिपादन किया जाता है और उन्हीं ग्रन्थो में दूसरी ओर यह भी कथन किया जाता है कि शुद्ध चेतन का आभास सत्व-प्रधान-माया मे पड़ने से ईश्वर और मलिन

सत्व प्रधान माया मे पड़ने से जीव कहालाता है। इन्ही तीनों के मेल से जगत् की रचना होती है और यह जीव कर्म-फल भोगने के लिये बार-बार ऊँची-नीची योनियो को धारण करता है तथा माया, जीव, ईश्वर,—ये तीनो अनादि है। दूसरी ओर दृष्टि डालने से जगत् की रचना और ही नाना प्रकार से देखने मे आती है अर्थात् जगत् की रचनाएँ नाना प्रकार से विस्तारपूर्वक उपनिषदों मे देखने मे आती है।

इस प्रकार से जब एक ही शास्त्र में द्वैत व अद्वैत दोनो प्रकार के सिद्धान्तो को देखता है तो पढने वाले की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और नाना प्रकार के संशय बढ जाते हैं जिनका निकलना कठिन हो जाता है। यदि इन्ही वेदान्त शास्त्रो में अजातवाद सिद्धान्त के अनुसार केवल एक सत्ता का ही प्रतिपादन किया जाता, जीव, ईश्वर, माया, अविद्या, कर्म, बन्धन, मोक्ष इत्यादि कल्पनाओ का चेतन सत्ता से पृथक् कथन न किया जाता, तो वेदान्त के सिद्धान्तो को समझने मे इतनी कठिनाई न होती।

किन्ही विद्वानो का यह भी कहना है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्या, बन्धन, कर्म, अज्ञान इत्यादि सब का आरोप इसलिये किया गया है कि जिससे सुगमतापूर्वक ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप समझ मे आ जावे। किन्तु इन मिथ्या कल्पनाओ से समझने में सुगमता नही होती, बल्कि एक सीधी सादी रस्सी गाँठें दे-देकर गोरखधन्धे की भांति और भी जटिल बना दी जाती है। यदि तर्क की कसौटी पर ईश्वर, जीव, माया, अज्ञान, कर्म, बन्धन इत्यादि को कसा जाय तो ये सब कल्पनायें ऐसे उड़ जायेगी जैसे कि गधे के सिर से सीग।

वैसे तो पृथक्-पृथक युक्तियो से इन कल्पनाओ की समाप्ति

हो ही जाती है, किन्तु एक ही ऐसी युक्ति दी जाती है कि जिससे विशेष वाद-विवाद की आवश्यकता ही न पडे। प्रत्येक द्वैतवादी महानुभाव से यह प्रश्न होगा कि ईश्वर, गॉड, खुदा अर्थात् 'चेतन सत्ता' पूर्ण है या परिच्छिन्न ? परिच्छिन्न मानने वालों से विशेष बातचीत करने की कोई आवश्यकता नही है,—वे लोग श्री शालिग्राम जी का चरणामृत पिया करे या उसे सातवे आसमान पर माना करें। हाँ, जो बुद्धिमान् पुरुष उसे व्यापक मानते है, उन्ही से कुछ विचार करना है।

व्यापक या पूर्ण की परिभाषा क्या है ? 'देश-काल-वस्तु-परिच्छेद-राहित्यं=व्यापकत्वं' अर्थात् जो तत्त्व प्रत्येक देश, काल व वस्तु मे ओतप्रोत हो, वही व्यापक हो सकता है। जैसे वर्फ में जल, भूषणो मे स्वर्ण और वस्त्रो मे रुई ओतप्रोत है, उसी प्रकार समष्टि नाम-रूप मे चेतनसत्ता ओतप्रोत है। इसलिये सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद तथा देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित जो चेतनसत्ता है, उसके कौन से देश, काल मे ईश्वर, जीव, प्रकृति, अज्ञान, बन्धन, कर्म इत्यादि रह सकेंगे ? अर्थात् नही रह सकते। इसीलिये इन सब वस्तुओ का मानना भ्रम मात्र है और वह भ्रम भी एक आरोपमात्र है।

किसी जिज्ञासु ने एक महात्मा से प्रश्न किया कि महाराज ! आप बार-बार भ्रम या अज्ञान का नाम लेते है कि यही सारे प्रपंच का एकमात्र कारण है। कृपा करके इस भ्रम का वास्तविक स्वरूप मुझे बतलाइये कि वास्तव मे यह क्या वस्तु है ? महात्मा ने कहा कि भ्रम का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते है या केवल सुनना ही चाहते है ? जिज्ञासु ने कहा कि प्रत्यक्ष दर्शन कराइये।

महात्मा ने उसे एक मन्त्र बतलाया और कहा कि इसका जाप करो, १० दिन के पश्चात् भ्रम देवता का प्रत्यक्ष दर्शन हो

जायगा। किन्तु एक बात का ध्यान रखना कि किसी भूत का ध्यान मन मे न आने पावे, नहीं तो फिर कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

जिज्ञासु ने जाकर विधिपूर्वक बैठकर जैसे ही मन्त्र का जाप प्रारम्भ किया वैसे ही एक भूत उसके मन के सामने आकर नाचने-कूदने लगा। उसने ज्यो-ज्यों उस भूत को मनसे निकालने का प्रयत्न किया, त्यो-त्यो वह भूत और भी अधिक उसके ऊपर सवारी गाँठने लगा। इसी प्रकार दस दिन के बजाय एक मास तक लगे रहने पर भी वह भ्रम देवता के दर्शन नहीं कर सका, क्योकि वह उस भूत को एक क्षण के लिये भी अपने मन से जुदा ही नहीं कर सका। अन्त मे वह निराश होकर उन्ही महात्मा के पास जाकर कहने लगा कि महाराज! भ्रमदेव का दर्शन तो दूर रहा, आपने तो एक नई बला पीछे और लगा दी जो एक क्षण के लिये भी पीछा ही नहीं छोड़ती, उल्टे अब मुझे ही खा जाना चाहती है।

महात्मा ने कहा कि बस, यही तो भ्रम का वास्तविक स्वरूप है। जिस वस्तु का अपना कोई अस्तित्व नहीं, केवल सुनी हुई बात से उस अनहुई वस्तु को बलात् अपने ऊपर थोप लेना ही 'भ्रम' है।

प्रथम आपके मन मे किसी भूत इत्यादि का संस्कार नही था। किन्तु मेरे संस्कार डाल देने से वही,—स्वयं आपका अपना कल्पित भूत जिसका अब भी कोई अस्तित्व नहीं है,– आपको क्षोभ पहुँचा रहा है।

इसी प्रकार शास्त्रकारों ने जिस भ्रम (अज्ञान) को नाना प्रकार के बन्धन, जन्म, मृत्यु इत्यादि दु:खों का कारण माना है, वह भ्रम या अज्ञान उसी प्रकार से चेतन आत्मा में कल्पित है जिस

प्रकार से गधे के सिर मे सींग। तात्पर्य यह है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक, बन्धन से लेकर मोक्ष तक, जीवत्व से लेकर ईश्वरत्व तक तथा अज्ञान से लेकर ज्ञान तक सम्पूर्ण जगत् स्वप्नवत् चेतन देव का ही विलास (लीला) मात्र है।

शास्त्रकथित अध्यारोप-अपवाद के द्वारा वास्तविक तत्व को समझने में सुगमता नही होती, बल्कि कठिनाई अधिक बढ़ जाती है, इसीलिए वेदान्त को समझने के लिये लोगों की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। भला, जिस आत्मतत्व को समझने के विषय में वसिष्ठ जी ने कहा है कि फूल को मसलने में देरी लग सकती है, परन्तु आत्मतत्व को जानने मे देरी नही लगती क्योंकि जिस तत्त्व को प्राप्त करना (समझना) है, वह तो समझने वाला स्वयं ही है। स्वयं को पाने में विलम्ब या साधन कैसा ?

अध्यारोप-अपवाद वेदान्त शास्त्र में नही होना चाहिये, इसके लिये दूसरे ग्रन्थ बहुत है। इस विद्या का नाम ब्रह्मविद्या है। इसमें ब्रह्मतत्व के अतिरिक्त और किसी वस्तु का प्रतिपादन नही होना चाहिये। यही 'अजातवाद' का सिद्धान्त है। यह प्रक्रिया उत्तम अधिकारी के लिये उपयुक्त है। अब अन्य प्रकार से भी इसी विषय का विचार किया जाता है।

वेदान्त शब्द के अर्थ के अनुसार ही उसका विषय भी होना चाहिये, वेद (ज्ञान की)+अन्त (समाप्ति)=वेदान्त अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा। ज्ञान दो प्रकार का होता है, वृत्तिज्ञान तथा स्वरूपज्ञान। अन्त.करण-उपहत चेतन या विशेष ज्ञान का नाम वृत्तिज्ञान है, यही जगत् रूप है अर्थात् समस्त नाम-रूपात्मक जगत् का उपादान कारण ही वृत्तिज्ञान है। जगत् का निमित्त कारण सामान्य ज्ञान (सत्ता-सामान्य) निर्विशेष चेतन

है, किन्तु इन दोनो चेतनो मे कोई अन्तर नही है। तात्पर्य यह है कि वृत्तिज्ञान की समाप्ति अर्थात् निर्विकल्प समाधि का नाम ही वेदान्त है। इस अवस्था मे कार्य ब्रह्म यानी नाम-रूपात्मक जगत् अपने वास्तविक स्वरूप में लय हो जाता है।

नाम-रूपात्मक जगत् अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म में कब लय होता है? जिस समय नाना प्रकार के वस्त्र व भूषण रुई तथा स्वर्णरूप ही दीखने लग जायँ। इस अनुभव का नाम ही तो निर्विकल्प समाधि या वेदान्त है जिस मे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति व समाधि इत्यादि अवस्थाओं का द्रष्टा, स्वयं ही दृश्य रूप होकर पुनः उसी का बोध प्राप्त करता है कि ये सब मेरी अपनी ही कल्पनाएँ थी अर्थात् स्वयं मैं ही था।

यदि कोई यह शंका करे कि इन अवस्थाओ का दृश्य द्रष्टा रूप नही हो सकता, द्रष्टा से भिन्न स्वतन्त्र है,—तो इसका एकमात्र उत्तर यही है कि आप अपने सकल्प को रोककर फिर द्रष्टा से दृश्य को भिन्न करके दिखलावे, तब बाद मे इस प्रश्न का उत्तर मिलेगा अर्थात् इस प्रश्न को सुषुप्ति या समाधि अवस्था मे करें। तात्पर्य यह है कि आँधी रूप वायु एवं तरङ्गात्मक जल जब अपनी विशेष अवस्था से सामान्य (शान्त) अवस्था मे हो जाते हैं, तब भी उनको वायु एवं जल ही कह सकते है। क्या आँधी वायु रूप तथा तरङ्ग जल रूप नही हैं? इसी प्रकार संकल्प-विकल्पात्मक सविशेष चेतन ही जब अपनी विशेषता का त्याग कर देता है, तब वही निर्विशेष चेतन है जिसे पूर्ण ब्रह्म, पूर्णानन्द, पूर्ण शान्ति इत्यादि नामो से कहा गया है।

अब दूसरा प्रश्न यह भी है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न है? यदि अभिन्न है तब तो कोई विवाद ही नहीं है। यदि

भिन्न है तो वह कौन-सा देश-काल है कि जहाँ ब्रह्म नहीं रहता तथा वह देश-काल जगत से भिन्न है या जगत् के ही अन्तर्गत है ? यदि अन्तर्गत है तब तो वही रूप हुआ और यदि भिन्न है तो ब्रह्म की भांति एक तीसरी वस्तु और भी माननी पडेगी। इसलिए तीन पदार्थों की सत्ता भिन्न-भिन्न हुई। फिर तो जिस देश-काल मे जगत् है, उस देश-काल मे ब्रह्म नहीं तथा जिस देश-काल मे ब्रह्म है, उस देश-काल मे जगत् नहीं।

इसी प्रकार से देश-काल को भी इन दोषो से प्रथक् मान लेना चाहिए। इसलिये ब्रह्म, जगत् और देश-काल,—इन तीनो का भिन्न-भिन्न देश-काल कौन-सा है ? यदि इन तीनों का देश-काल भिन्न-भिन्न माना जाय तो फिर प्रश्न होता है कि देश का कौन-सा देश है और काल का कौन-सा काल है ? तब तो ब्रह्म उत्पत्ति-विनाश वाली एकादेशीय वस्तु सिद्ध हो जायगी। ऐसे ब्रह्म को तो प्राप्त करना ही व्यर्थ हो जायगा।

यदि यह कहा जाय कि इन तीनो का देश-काल एक ही है, तो भिन्न-भिन्न तीन पदार्थों का एक देश-काल हो नही सकता। एक पदार्थ का एक हो देश-काल हो सकता है, इसलिए जिस देश-काल मे एक वस्तु को माना जायगा, उसी देश-काल मे किसी दूसरी वस्तु का अभाव होना चाहिये। यदि जगत् का देश-काल माना जाय तो ब्रह्म का अभाव होगा और यदि ब्रह्म का भाव माना जाय तो जगत् का अभाव होगा। इससे ज्ञात होता है कि यह नाम-रूपात्मक जगत् ही ब्रह्मरूप है—जैसे वृक्षो की समष्टि ही वन तथा घरो की समष्टि ही नगर है।

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि यदि नाम-रूपात्मक जगत् ही ब्रह्म है तो फिर यह जगत् सत्-चित्-आनन्द रूप से क्यो नही भासता ? ब्रह्म का स्वरूप तो सत्-चित्-आनन्द रूप है, किन्तु

जगत् इसके विपरीत असत्, जड़, दुःखरूप से भासता है। इसका समाधान यही हो सकता है कि असत् पदार्थ भासता है या नही ? यदि भासता है तो फिर असत् नहीं हो सकता, क्योंकि जो वस्तु तीन काल मे न हो, उसे ही असत् कहते हैं। किन्तु यह जगत् तो तीनो कालो मे दीखता है, तव उसे जड़ व दुःखरूप कैसे कह सकते है ? अर्थात् असत्, जड़, दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नही।

यदि यह कहा जाय कि जगत् को सत् तो मानते है, किन्तु यह जड़ और दुःखरूप अवश्य है, क्योंकि जडता तथा दुःख की प्रतीति प्रत्यक्ष होती है। थोड़ी देर के लिये यही बात मान ली जाय तो फिर तो जगत् के किसी भी पदार्थ में चैतन्य व आनन्द होना ही नही चाहिये। किन्तु यहाँ तो प्रत्येक पदार्थ मे चैतन्य व आनन्द की प्रत्यक्ष अनुभूति हो रही है। इसलिये एक ही देश-काल मे दो विरोधी वस्तुयें नही रह सकती। जव सत्, चित्, आनन्द सत्ता व्यापक या पूर्ण है, तव उसमे असत्, जड़, दुःख की समाई नही हो सकती।

एक वार एक द्वैतवादी और एक ब्रह्मवादी (वेदान्ती) मे वाद-विवाद हुआ। जीव(द्वैत)वादी ने कहा—'जीव ब्रह्म नही हो सकता, क्योंकि वह परिच्छिन्न, परतन्त्र, कर्मों का कर्ता-भोक्ता, जन्मने-मरने वाला है। इसके विपरीत ब्रह्म पूर्ण, व्यापक अकर्ता, अभोक्ता, अजन्मा, अविनाशी है। इसलिये इन दोनो की एकता कैसे हो सकती है ? जैसे अग्नि व पानी की तथा अन्धकार व प्रकाश की एकता सम्भव नही, इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता नही हो सकती।'

वेदान्ती ने कहा—'महावाक्यो (तत्वमस्यादि) की भाग-त्याग लक्षणा से जीव-ब्रह्म की एकता हो जाती है। भाग-त्याग लक्षणा

का उदाहरण यह है कि सामवेद के 'तत्वमसि' महावाक्य के तीन पद है—'तत्-त्वम्-असि'। 'तत् पद का वाच्यार्थ है माया उपाधि वाला ईश्वर और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अविद्या उपाधि वाला जोव है। यदि चेतन ब्रह्म में अध्यस्त (कल्पित) ईश्वर की उपाधि माया तथा जीव की उपाधि अविद्या दोनों का बाध कर दिया जाय तो उभयनिष्ठ अवशिष्ट चेतन स्वरूप से एक तथा ब्रह्म ही है।

अद्वैतवादी ने अपने पक्ष के समर्थन में दृष्टान्त दिया कि एक दिन श्रीकृष्ण अपने सखाओ के साथ चड्ढी खेल रहे थे। दो-दो बालकों की जोड़ी तैयार करके उनमें से एक बालक दूसरे के कन्धे पर बैठकर एक निश्चित् स्थान तक जाता और फिर ले जाने वाला बालक अपने कन्धे पर बैठने वाले बालक के कन्धे पर बैठकर वापिस आता।

श्रीकृष्ण व श्रीदामा की जोडी थी। श्रीकृष्ण श्रीदामा के कन्धे पर बैठकर गये, किन्तु जब श्रीदामा की बारी श्रीकृष्ण के कन्धे पर बैठने की आई तो कृष्ण ने साफ इनकार कर दिया कि मैं तो तुम्हें अपने कन्धे पर नही बिठाऊँगा। तब श्रीदामा कृष्ण का हाथ पकड़कर बोला—'जाते कहां हो, चड्ढी देनी पडेगी! हमारी झौपड़ी तुम्हारे महल के नीचे नही है कि जो उजाडकर फेक दोगे! क्या हुआ जो तुम्हारे सौ-पचास गायें अधिक हुई! तुम्हारी और हमारी जाति तो एक है,—हम दोनों ही ग्वाल है।'

इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीदामा रूपी जीव श्रीकृष्ण रूपी ईश्वर से कह रहा है कि तुम्हारी उपाधि माया होने से तुम सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि शक्तियो सहित हो तथा मेरी उपाधि अविद्या होने से मै अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् हू,—तथापि तुम मेरी सत्ता नही मिटा सकते। तुम्हारी उपाधि, शक्तियां

आदि ही ईश्वरत्व है एवं मेरी उपाधि व दीनता-हीनता आदि ही जीवत्व है.—परन्तु ये दोनो ही चेतन मे अध्यस्त (कल्पित) हैं। लक्ष्यार्थ मे दोनों का चेतन एक ही स्वरूप है। उस चैतन्य स्वरूप में सजातीय (देश परिच्छिन्नता), विजातीय (काल परिच्छिन्नता) और स्वगत (वस्तुकृत परिच्छिन्नता) भेद नही हैं।

द्वैतवादी ने कहा कि इन दोनो को उपाधि ने क्यों घेर लिया जिसे दूर करने के लिये आपको तथा हमे इतनी तो माथाकूटी करनी पड रही है और फिर भी वह उपाधि हिमालय पर्वत की भाँति खडी ही रहती है ? जिस कारण नित्य, शुद्ध, मुक्त ब्रह्म में उपाधि आ जाने से वह ब्रह्म जीव हो जाता है, उस उपाधि को किसी साधन से एक बार निवृत्त कर देने पर भी क्या उसी कारण से वह उपाधि पुन: उपस्थित नही हो सकती ? यदि नही हो सकती तो अब कैसे हुई ?

इस प्रकार से दोनो का बहुत वाद-विवाद हुआ किन्तु निश्चय कुछ भी न हुआ। अन्त में दोनों किसी अनुभवी मस्त महात्मा के पास गये तथा दोनों ने अपना-अपना विचार प्रकट किया।

महात्मा ने कहा—'जीव और ब्रह्म को भिन्न या अभिन्न करने वाले आप कौन हैं ? यदि आप लोगों ने जीव व ब्रह्म को तथा इनकी भिन्नता व अभिन्नता को देखा है, तब तो आप इनके द्रष्टा, इनसे पृथक् हुए और यदि नही देखा तो इतनी माथाकूटी क्यों कर रहे है ? इसलिये इन दोनो को फेंकिए,—इनकी कल्पना का त्याग करके आप जो स्वयं है,—एकान्त (एक+अन्त=एकान्त) मे उसका अनुभव कीजिये। पानी के मथने से मक्खन की प्राप्ति नही हो सकती।

ब्रह्म के निरूपण मे सन्त श्री सुन्दरदास जी ने कितना सुन्दर पद कहा है—

एक कहूँ तो अनेकहि दीखत,
एक अनेक नही कछु ऐसो ।

आदि कहूँ तो अन्तहि आवत,
आदि न अन्त तो मध्य सो कैसो ?

गोप्य कहूँ तो अगोप्य कहावत,
गोप्य अगोप्य उभय नहिं कैसो ।

जोइ कहूँ सोई नहिं सुन्दर,
है तो सही, पर जैसो को तैसो ।।

तात्पर्य यह है कि विचार के द्वारा अन्त मे दो वस्तुओ का निर्णय होता है—एक 'चेतन', दूसरा 'जड़'। चेतन जड नहीं हो सकता तथा जड़ चेतन नही हो सकता, जैसे प्रकाश अन्धकार नही हो सकता तथा अन्धकार प्रकाश नही हो सकता। आप सब के ज्ञाता व द्रष्टा चेतन आत्मा है। यदि जीव और ब्रह्म चेतन है, तब तो दोनो आप ही है। यदि दोनो जड़ है तो फिर वे अनात्मा है और उनके भिन्न या अभिन्न होने से चेतन आत्मा (आप) को कोई हानि-लाभ नही है।



# वास्तविक आनन्द

'योवै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'

वास्तव मे विचार एवं अनुभव के दृष्टिकोण से देखा जाय तो जिन-जिन विषयों एवं भोग्य पदार्थो में आनन्द को जानते, मानते या अनुभव करते है, वह हम लोगो की मान्यता एवं भावना के ऊपर निर्भर है। यदि उन भोग्य पदार्थों में स्वभावतः या स्वरूपतः आनन्द हो तो हर देश, काल एवं परिस्थिति मे रहना चाहिये। किन्तु जब अनुभव की कसौटी पर कस कर देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि संसार मे भोक्ता एवं भोग के सयोग से जिस क्षणिक आनन्द की अनुभूति होती है, वह उस भोग्य पदार्थ (विषय) की नही, वरन् मन (वृत्ति) की क्षणिक एकाग्रता का परिणाम होती है। यदि उस पदार्थ में आनन्द स्वाभाविक होता तो भोक्ता और भोग्य के आमने-सामने (संयोग) रहने तक आनन्द की अनुभूति बराबर होती रहनी चाहिये थी, किन्तु ऐसा नही होता। भोग-काल से प्रथम जिस पदार्थ के लिए हम व्याकुल रहते है, भोग के पश्चात् उसी से इतनी उपरामता या घृणा हो जाती है कि उसे देखना भी पसन्द नहीं करते। तृप्त हो जाने के उपरान्त भोजन से, भोग कर लेने के पश्चात् नारी से और विक्षेप की अवस्था मे चलचित्र, नाटक, संगीत इत्यादि से उपरामता एवं घृणा होना सभी के लिए अनुभव-सिद्ध बात है।

इन भोग्य पदार्थों के द्वारा जिस क्षणिक आनन्द की अनुभूति होती है, वह मनकी एकाग्रता का ही परिणाम है। जिस प्रकार

विद्युच्छक्ति को कायशीला करने के लिए जब स्विचग्रॉन किया जाता है तो बल्ब, पंखे, रैफ्रिजरेटर, हीटर श्रादि समस्त विद्युत् शक्ति से चलने वाले यन्त्रों में नैगेटिव व पॉजेटिव का सयोग हो जाता है और उसी वायर (तार) मे रहने वाली बिजली बल्ब में प्रकाश, पंखे मे गति, रैफ्रिजरेटर मे ठण्ड और हीटर मे उष्णता के रूप मे प्रगट एवं प्रत्यक्ष हो जाती है। बिलकुल इसी प्रकार से बुद्धि एव सर्वशक्तिमान आनन्द-सिन्धु परमात्मा मे मन की एकाग्रता रूपी स्विच को ऑन करने से परमात्मा का आनन्द एवं शक्ति बुद्धि में प्रत्यक्ष हो जाती है और आनन्द का अनुभव होने लगता है जिसे यह भोक्ता अज्ञान के कारण विषयो या भोग्य पदार्थो मे समझता है।

इस प्रकार के आनन्द के भोग की परम्परा बहुत ही घाटे का सौदा है। दलाल की मार्फत जो सौदा खरीदा जायेगा, उस की प्राप्ति तो किंचित् सुलभ हो जायेगी, किन्तु सौदा महँगा पड़ेगा। यदि उसके मालिक से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ लिया जाय तो सौदा सस्ता मिलेगा। बिलकुल इसी प्रकार विषयो एवं इन्द्रियों के माध्यम से जो क्षणिक आनन्द प्राप्त होता है, वह वैसे सुलभ तो अवश्य है, परन्तु महँगा बहुत पडता है क्योकि सारी शक्ति, सारा समय, सारा जीवन, सारी बुद्धि इसी के पीछे नष्ट हो जाती है और फिर भी आनन्द की अभिलाषा अर्थात् अशान्ति बनी ही रहती है और अन्ततः खाली हाथ मलते एवं रोते ही रह जाना पडता है। यह सभी के अनुभव की बात है। इसलिये आनन्द के जिज्ञासुओ को चाहिये कि आनन्दसिन्धु से अपना सीधा सम्बन्ध जोड ले और यह सम्बन्ध किसी विषय का आश्रय लिये बिना, भोक्ता-भोग के बिना, आनन्द-सिन्धु परमात्मा के साथ एकाग्र मन से ही हो सकता है।

अब इसी बात पर दूसरी तरह से विचार किया जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकार की गुलाबजामुन, रसगुल्ला, इमरती आदि मिठाइयो में जो मिठास का स्वाद है, वह केवल एक शक्कर का ही है। यदि इन मिठाइयों मे से शक्कर को निकाल दिया जाय तो फिर उसका नाम मिठाई ही नही होगा और न उसमे कोई मिठास का स्वाद ही होगा, अपितु वह केवल मैदा, वेसन, मावा, छेना, घृत आदि मात्र ही शेष रह जायेगा। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि जितने भी भोग्य पदार्थ है जिन मे अज्ञान के कारण यह मनुष्य आनन्द मानता है, उन सभी पदार्थों अथवा विषयो में जो आनन्द की सत्ता है, वह केवल एक चैतन्य देव परमात्मा की ही है।

देश, काल, वस्तु, भोक्ता, भोग्य, विषय आदि के विना स्वयं अपने आप अन्दर से जो आनन्द प्रगट हो, वह निर्पेक्ष आनन्द ही सच्चा आनन्द है जिसका अनुभव अनन्य भक्त, युक्त योगी अथवा ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी ही कर सकता है। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक दिन प्रातःकाल एक सम्राट् आठ घोड़ो की शाही बग्घी पर बैठकर सैर करने जा रहा था। सर्दी के दिन थे। उसने एक वृक्ष के नीचे नंगधड़ङ्ग पडे हुए मस्ताने सन्त को देखा। सम्राट् का मन उनकी ओर आकर्षित हुआ। गाडी खड़ी करके वे महात्मा के पास जाकर उनसे प्रश्न करते हैं—'सुनाओ, सन्त जी! रात कैसे कटी?'

सन्त ने उत्तर दिया—'कुछ तुम्हारे जैसी और कुछ तुम्हारे से अच्छी।'

सम्राट् ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'इस प्रकार दीन, हीन, दरिद्री, वेघर, वेदर, वेपर, वेजर, होते हुए भी

आपने मेरे बराबर और मेरे से भी अच्छी रात्रि कैसे व्यतीत की ?'

सन्त बडे जोर से खिलखिलाकर हँस पडे और कहने लगे—करोड़ों रुपयो के वैभवशाली महल में, सोने-चांदी के पलंग पर, फूलों से सजे हुए मखमली गद्दों पर, हर प्रकार के भोग्य पदार्थों से सुसज्जित होकर, परम सुन्दर कमलनयनी रानियों के साथ शयन करके जब तुम गहन निद्रा की गोद मे खो जाते हो, तब क्या तुम्हें यह ज्ञान रहता है कि मैं सम्राट् हूँ और हर प्रकार के भोग्य पदार्थों के साथ शयन कर रहा हूँ ?'

सम्राट् ने कहा—'बिलकुल नही।'

तब महात्मा ने कहा—'ठीक इसी प्रकार वृक्ष के नीचे, कठोर धरती और ककड़-पत्थरो पर नंगे, बिना बिस्तर एवं कपड़ों के जब मैं गहन नींद मे सो जाता हूं तो मुझे भी पदार्थभाव का कोई ज्ञान नही रहता। अब सुनो कि तुम से अच्छी कैसे कटी ? जिस समय तुम जागते हो और रानी की ओर तुम्हारी दृष्टि जाती है, उस समय तुम विषय-विकार मे फंस जाते हो, पर मैं जिस समय नीद से जागता हूँ तो ब्रह्मानन्द की समाधि मे स्थित हो जाता हूँ। इस दृष्टिकोण से मेरी रात तुम्हारी अपेक्षा अच्छी कटी।'

सन्त की ऐसी आनन्दभरी मस्तानी बाते सुनकर सम्राट् मन्त्रमुग्ध ठगा-सा रह गया और सोचने लगा कि यदि यह महात्मा हमारे साथ चलकर महल मे रहे तो बडा आनन्द रहे। सम्राट् ने आग्रह-पूर्वक प्रार्थना की—'महाराज, आप हमारे साथ चले और हमेशा हमारे साथ ही रहे।'

महात्मा ने कहा—'जिस सम्राट् के साथ मैं रहता हूँ, वह हमारे नियमो (शर्तो) का पूर्णतया पालन करता है। यदि तुम

भी उसी प्रकार से पालन कर सको तो मैं तुम्हारे साथ रह सकता हूँ।'

सम्राट् ने उत्साहपूर्वक पूछा—'वे कौन से नियम है जो मुझे पालन करने पड़ेंगे ?'

महात्मा ने कहा—'मै खाऊँगा और तुम्हें भूखा रहना पडेगा, मै सोऊँगा और तुम्हें जागना पडेगा, मै कपड़ा पहनूँगा और तुम्हे नंगे रहना पडेगा और तुम्हें हमेशा साथ रहना पड़ेगा। यदि इन नियमो का पालन कर सको तो मैं अभी तुम्हारे साथ चलने को तैयार हूँ।'

सम्राट् ने कहा—'इन नियमो का पालन करना मेरे लिए नितान्त असम्भव है।'

महात्मा ने कहा—'तो मेरा तुम्हारे साथ रहना भी असम्भव है, क्योंकि मेरा प्रियतम न कभी कुछ खाता-पीता है, न कभी सोता है—हमेशा जागता है, न कभी कपडे पहनता है और हमेशा मेरे साथ रहता है। वह निरावरण व्याप्त है, कहीं विशेष रूप से निवास नही करता वरन् आकाशवत् पूर्ण है जिसमे अन्दर-बाहर का भेद नही है। ऐसे परम-प्रियतम को त्याग कर भला मै तुम्हारे साथ कैसे रह सकता हू ?'

इस महात्मा ने अपने मन का सम्बन्ध आनन्द-सिन्धु परमात्मा के साथ जोड़ लिया है। अब आनन्द के लिए इसको इह-लौकिक या पार-लौकिक किसी भी प्रकार के भौतिक भोगो की कोई आवश्यकता ही नही रह गई है।

# वास्तविक एकता

इस अकृत्रिम या स्वाभाविक एकता का दिग्दर्शन भी मनुष्यमात्र के जन्म से ही कराया जाता है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के संयोग से सप्त धातुओं से युक्त होकर हम जिस मार्ग से जन्म लेते है, उसी प्रकार और उसी मार्ग से सारे संसार के मनुष्य या प्राणिमात्र भी जन्म लेते है। जिस प्रकार हम बाहर निकलकर मुँह से माता के स्तनो का दूध पीते है, उसी प्रकार संसार के सारे बच्चे पीते है। जैसे हमारे शरीर का बढना प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार सब का होता है। जैसे हम किसी-न-किसी विद्या को पढ़ते है या किसी प्रकार का गुण सीखते है, इसी प्रकार सभी पढ़ते या सीखते है। जिस प्रकार हमारे आँख, नाक, कान, त्वचा, रसना आदि देखते, सुनते, सूघते, स्वाद लेते, स्पर्श करते है, उसी प्रकार सबकी ज्ञानेन्द्रियाँ अनुभव करती है। जिस प्रकार हमारे हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा, वाक् काम करते, चलते, मल-मूत्र त्यागते, बोलते है, उसी प्रकार सबकी कर्मेन्द्रियां करती है। जिस प्रकार हमारा मन संकल्प-विकल्प तथा बुद्धि निश्चय करती है, उसी प्रकार सबके मन और बुद्धि करते है।

जिस प्रकार हमारे प्राण श्वास के रूप मे नासिका द्वारा चलते हैं तथा उससे सारे शरीर मे शक्ति का सचार होकर क्रिया शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार सबके प्राणो द्वारा होता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में 'आत्मा' यानी ज्ञानरूप

से चेतन शक्ति विद्यमान् है, उसी प्रकार सब शरीरों में विद्यमान् है। जैसे हम किसी-न-किसी घर मे रहते हैं, उसी प्रकार सभी रहते है (यहां केवल रहने से तात्पर्य है, महल या झोपड़ी से नही)। जैसे हम स्त्री से विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करते है, उसी प्रकार से सब करते है (यहां केवल विवाह से तात्पर्य है, प्रकार से नही)। जैसे हम नाना प्रकार के वस्त्रों द्वारा शरीर ढकते है, उसी प्रकार से सब ढकते हैं (यहां भी केवल कपड़ा पहिनने से तात्पर्य है, प्रकार से नही)। जिस प्रकार हम सोते या नीद लेते है, उसी प्रकार सब लेते है। जिस प्रकार नाना प्रकार के रोग, भूख, प्यास, अपमान, शीत, उष्ण, राग, द्वेष, आसक्ति, अहंता, ममता, ईर्ष्या, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान आदि से हमे दुःख या विक्षेप होता है, उसी प्रकार सभी को होता है (यहां पर आत्मदर्शी या अनन्य भक्त की बात नही है)। जिस प्रकार अन्त मे हमारा शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, शरीर के पांच तत्व अपने-अपने कारण तत्वो मे लय हो जाते है तथा चेतन आत्मा सविशेषरूप से निर्विशेष यानी सत्ता-सामान्य में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार सबके शरीरों व आत्मा की दशा होती है।

हम सभी आधिभौतिक अर्थात् व्यावहारिक जीवन मे शारीरिक दृष्टिकोण से मनुष्य है और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चेतनरूप आत्मा हैं तो फिर ऐसी पवित्र व स्वाभाविक एकता को छोड़कर कपोलकल्पित अज्ञान या स्वार्थजन्य नाना प्रकार के वर्ण, आश्रम, जाति, मजहब, देश, सम्प्रदाय, पार्टी, संस्था, ऊँच, नीच, अमीर, गरीब, काला, गोरा आदि की व्यर्थ कल्पना व पक्षपात क्यों करें? इनसे सारे संसार मे नाना प्रकार के कलह, विद्वेष, रक्तपात, संघर्ष, वैमनस्य, फूट, हानि व दुःख के अतिरिक्त आज तक और क्या लाभ हुआ है? विचार करने

से ज्ञात होता है कि इन सब अनर्थों का कारण केवल मात्र 'अज्ञान' ही है।

व्यक्तिगत स्वार्थ एवं पक्षपात अज्ञान का कार्य है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन दोनो परम शत्रुओ तथा सारे दुःखों के कारणभूत दीर्घ रोगों से बचे अर्थात् सब में एकता का अनुभव करता हुआ, आत्मभावना के द्वारा द्वेषभाव का परित्याग करता हुआ, धर्मराज युधिष्ठिर का अनुकरण करे। इसी में मानवमात्र की भलाई है। अलग-अलग ढाई चावल की खिचड़ी पकाने से अपना, देश अथवा विश्व का कोई भी भला नही हो सकता।

एक बार कुम्भ के समय भगवान् श्रीकृष्ण एवं सारे कौरव-पाण्डव हरिद्वार मे स्नान करने आये हुए थे। वहां एक दिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भोजन तैयार हो जाने पर महाशय दुर्योधन जी से कहा कि जल्दी से एक महात्मा बुला लाइए, उन्हें भोजन कराने के पश्चात् ही हम लोग भोजन करेगे।

दुर्योधन एक घण्टे के पश्चात् हताश होकर खाली वापिस पहुँचे। कारण पूछने पर बतलाया कि कोई भी साधु दृष्टिगोचर ही नहीं होता,—लाएँ तो किसे और कहां से? उस समय वहां युधिष्ठिर जी उपस्थित थे। उन्होने कहा कि महाराज, मैं अभी बुलाकर लाता हूँ। इतना कहकर वे चले गये और शीघ्र ही पांच महात्मा लाकर खडे कर दिए।

अब यहाँ विचार करना है कि कुम्भ के समय भी दुर्योधन को तो कोई महात्मा ही नज़र नही आया और युधिष्ठिर को सारे महात्मा ही महात्मा दिखाई दिये। इसका कारण यही हो सकता है कि दुर्योधन का अन्तःकरण इतना मलिन व दूषित था कि जिस पर भी दृष्टि पडती थी, उसके दोषों पर ही पडती

थी और युधिष्ठिर का अन्तःकरण इतना पवित्र व शुद्ध था कि जिस पर भी उनकी दृष्टि पडती थी, उसके गुणों पर ही पड़ती थी। इसीलिये युधिष्ठिर को सभी साधु दिखाई पड़ते थे और दुर्योधन को सभी असाधु ही दीखते थे।

एक वार श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि क्या कारण है कि आपको किसी मे दोष नज़र ही नही आते ? महात्मा युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि महाराज ! दोष तो मुझे भी दिखाई देते हैं, परन्तु मैं उस दोषाग्नि से वचने के लिये उसी समय यह विचार कर लिया करता हूँ कि यदि इस व्यक्ति के स्थान पर मैं होता और यही दोष मुझ मे होते तो मैं क्या करता और क्या होता ? ऐसा विचार करते ही जलती हुई अग्नि पर दस घड़े पानी पड जाता है और साथ ही द्वेष-भाव भी निवृत्त हो जाता है।

इसी का नाम व्यावहारिक या क्रियात्मक 'एकता' है। यदि सुधार या कल्याण का ढोल पीटने वाले सव सुधारको मे यही भाव आ जावे तो यह देश व समस्त संसार वहुत शीघ्र ही स्वर्ग मे बदल जाय। ऐसी सद्‌भावना सव मे होनी कठिन है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि ऐसे गुणग्राहत्व व एकता से तो सारे संसार में वडी उछृङ्खलता फैल जाएगी और चोर, डाकू, व्यभिचारी इत्यादि चरित्रहीनो को नाना प्रकार के अनर्थ व पाप करने की खुली छुट्टी मिल जाएगी। किसी प्रकार का अनुशासन ही स्थिर नही रह सकेगा।

इस विषय पर इसी पुस्तक में 'कर्म का वास्तविक स्वरूप' नामक अध्याय मे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ तो इस प्रश्न पर थोड़ा-सा ही विचार किया जाता है। इस संसार

मे आज तक कोई ऐसा मनुष्य या प्राणी न हुआ और न है जो सर्वथा सर्वगुण संपन्न हो, जिसमें कोई दोष न हो। यह सारा जगत् द्वन्द्वात्मक है। जहां गुण है, वहाँ साथ ही दोप भी विद्यमान् हैं और दोनों का होना भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि जब दो वस्तुओं का संयोग होता है तभी एक तीसरी वस्तु की उत्पत्ति होती है, जैसे कि इलैक्ट्रान व प्रोट्रान अर्थात् नैगेटिव व पॉजेटिव के संयोग से क्रियात्मक विद्युत या प्रकाश की उत्पत्ति होती है और जड़-चेतन के संयोग से पंचभौतिक जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

इस बात का तो हम लोग प्रत्यक्ष अनुभव कर ही रहे है कि ज्ञान-अज्ञान, बंध-मोक्ष, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, अन्धकार-प्रकाश, रात्रि-दिन, जड़-चेतन, जन्म-मृत्यु, शीत-उष्ण, गुण-दोष इत्यादि द्वन्द्वों से सम्पूर्ण चराचर जगत् मिश्रित है। जहाँ एक होगा, वहीं दूसरे का होना भी अनिवार्य है क्योकि यह जगत् ही द्वन्द्वात्मक एवं त्रिगुणात्मक है। यही देखा भी जाता है कि न्यूनाधिक रूप मे प्रत्येक देश, काल, वस्तु मे दोप-गुण अवश्य रहते है। जहां ये दोनों नही होगे वहां समझो कि जगत् ही नही है।

चन्द्रमा में विशेष गुणों के साथ नित्यप्रति घटते-बढते और अमावास्या को बिल्कुल ही लुप्त हो जाने का दोष है। इसी प्रकार विशेष गुणसम्पन्न होने पर भी सूर्य किसी-न-किसी देश-काल अर्थात् मद्रास व अफ्रीका इत्यादि देशो मे और ग्रीष्मकाल में इतनी गर्मी करता है जो असह्य और महान् दुःख का कारण बन जाती है। इसके विपरीत साएवेरिया इत्यादि देशों मे मानो सूर्य की सत्ता ही नही है। तात्पर्य यह है कि कही तो प्रचण्ड अग्नि रूप होकर जलाने लगता है और कही

अति शीत के कारण लोग बहुत ही दुःखी रहते है,—विशेष गुणसम्पन्न सूर्य में भी इतनी विषमता क्यो ?

एक ही वस्तु किसी देश-काल मे अनुकूल और किसी में प्रतिकूल होती है। अग्नि, ऊनी कपडे, रजाई, कम्बल और बन्द मकान आदि शीतकाल में सुख और ग्रीष्म ऋतु में दुःख के साधन बन जाया करते है। इसी प्रकार खाद्य पदार्थ भी अनुकूल-प्रतिकूल हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अपने भीतर किसी प्रकार का दोष होने का पता लग जाने और यह मान लेने पर कि वास्तव मे हमारे अन्दर यह दोष है जो अवश्य दूर होना चाहिये तो हम अपने व्यक्तित्व के साथ किसी घृणा व द्वेषभाव के बिना उस दोष को निकालने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार युधिष्ठिर की भावना से हमे यह शिक्षा मिलती है कि दूसरे व्यक्ति के दोष भी अपनी ही भाँति बिना किसी घृणा के सद्‌भावनापूर्वक निकालने चाहिये, जैसे कि अपने घर में निजी सम्बन्धी के किसी रोग से पीड़ित होने पर हम बिना किसी घृणा के प्रेम से, रोगी को नष्ट करने के लिये नही, रोग को नष्ट करने के लिये उसकी चिकित्सा करते हैं।

महात्मा मन्सूर व महात्मा ईसामसीह को धर्मान्ध स्वार्थियों ने सूली पर चढ़ा दिया तो उस समय खुदा के फरिश्ते क्रोध के मारे आँखे लाल-लाल कर भयंकर रूप धारण किये हुए मन्सूर व ईसामसीह से आज्ञा माँगने लगे कि यदि हमे कहो तो सारी दुनियाँ को उलट-पुलट कर डालें और इन काफिरो को जला कर खाक कर दें। इन दोनो महापुरुषों ने यही उत्तर दिया कि यदि आप लोगो मे इतनी शक्ति है और हमारे ऊपर इतने कृपालु हो रहे है तो कृपा करके इन लोगो को नष्ट करने

के बजाय इन की बुद्धि शुद्ध करके उस अज्ञान को नष्ट कर दीजिये जिसके कारण ये लोग ऐसा अनुचित व्यवहार कर रहे है।

जयपुर में एक मन्दिर के पुजारी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को किसी वस्तु में विष दे दिया। जब पुलिस कोतवाल को इस बात का पता चला तो उसे हथकड़ी लगाये हुए स्वामी जी के बयान लेने के लिये उनके पास ले गये। स्वामी जी ने आज्ञा दी कि इसे खोल दो। कोतवाल ने कहा कि महाराज! यह तो आपका हत्यारा अपराधी है, इसको कैसे छोड सकता हूँ? तब स्वामी जी ने कहा कि तेरी क्या शक्ति है जो मेरे अपराधी को पकड़ सके? कोतवाल ने कहा कि महाराज! आप उसे बतायें, मैं जिस तरह से भी होगा, उसे अभी गिरफ्तार कर लूँगा। तव स्वामी जी ने कहा कि इसकी मूर्खता व अज्ञान ही मेरा हत्यारा है। क्या तुम उसे गिरफ्तार कर सकते हो? मै सदुपदेश के द्वारा अन्धविश्वास व मूर्खता को हटाना चाहता हूँ जो देश व समाज के लिए महान् घातक है, परन्तु ये लोग स्वार्थी, धर्मान्ध व अन्धविश्वासी होने के कारण रोगग्रस्त वालकवत् मुझे अपना शत्रु समझ रहे है।

इस प्रकार की निष्ठा सब मे होनी वहुत ही कठिन है। यह भावना पूर्ण रूप से आत्मदर्शी व अनन्य भक्त में ही आ सकती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि यह सर्वथा असम्भव है। जिन महापुरुषों में यह भावना थी, वे क्या मनुष्य नही थे? मनुष्य के लिए कोई भी बात असम्भव है ही नही, केवल साहस और अभ्यास की कमी है।

इतने विचार से ही उपरोक्त शङ्का का पूर्णरूप से समाधान हो गया। प्रत्येक सुधारक. पथ-प्रदर्शक और आत्म-कल्याण के

जिज्ञासु में इस सद्भावना का होना परमावश्यक है। किसी आत्मनिरीक्षक कवि ने लिखा है—

न थी जब कि हमको अपनी खबर,
रहे देखते औरों के एबो हुनर।
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नज़र,
तो निगाह मे कोई बुरा न रहा॥

जीवत्व की संकुचित भावना से निकलने के लिए अद्वैत-भावना परमावश्यक है, अतः सर्वत्र अद्वैत-दर्शन ही जीव का चरम एव परम लक्ष्य है।



# आत्म-निवेदन

## प्रकृति में विकृति

यदि अपनी वास्तविक स्थिति में रहे तो प्रकृति किसी के भी दु.ख, विक्षेप, हानि, आधि-व्याधि और उपाधि का कारण या साधन नहीं बनती। जब इसमें विकार उत्पन्न हो जाता है अर्थात् प्रकृति मे विकृति आ जाती है, तभी इससे दुःखो की उत्पत्ति होती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी, दुर्भिक्ष आदि प्रकृति की विकृतियाँ ही है जो संसार के मानव, पशु-पक्षी आदि समस्त शरीरधारी प्राणियों को बडे भयंकर दुःख एवं मृत्यु के मुख तक में डाल देती है। वायु सभी प्राणियो का जीवन है जिसके बिना कोई जीवित नही रह सकता, परन्तु जिस समय यही वायु आँधी या तूफान का उग्र रूप धारण करता है तो जन-धन की कितनी हानि होती है,—कहा नहीं जा सकता। इसका अनुभव सभी को है। ऐसे ही जल सभी शरीरधारी प्राणियो के योगक्षेम, पालन-पोषण और जीवन का आधार है जिसके बिना कोई एक दिन भी नही रह सकता। वही जल जिस समय अतिवृष्टि की भयंकर बाढ़ का उग्र रूप धारण करता है तो उससे कितना दुःख, हानि एवं मौते होती है!

हम लोगों के शरीरों में मज्जा, मेद, नाड़ी, रुधिर, माँस, हड्डी, वीर्य, प्राण आदि स्वाभाविक प्रकृति है जो सभी के स्वास्थ्य, सुख एवं जीवन का साधन है। जब इसी मे विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह भयंकर रोगों एवं दुःखो का कारण बन जाती है

जिनको निवृत्त करने मे कितना समय, साधन और पैसा लगता है ? जो जठराग्नि मनुष्य के जीवन, स्वास्थ्य, पाचन-क्रियादि का साधन है, वही विकृत होकर, अपने वास्तविक स्थान को छोड़ कर, जब त्वचा मे प्रवेश कर जाता है तो भयंकर ज्वर का रूप धारण कर लेता है। पेट की नाभी अपने वास्तविक स्थान को छोड़कर जब रोम (बाल) बराबर भी इधर-उधर स्थानभ्रष्ट हो जाती है तो पेट में पीड़ा, गड़गडाहट और दस्त आदि होने लगते है। साधन एवं उपचार के द्वारा जब फिर उसे उसके वास्तविक स्थान पर टिका दिया जाता है तो सारा कष्ट एवं पीड़ा निवृत्त हो जाती है।

इसी सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद आ गई। मैं लगभग ६ साल की आयु का था, तभी का मुझे अपने गांव की एक बुढिया माता का विज्ञानपूर्वक उपचार याद आ रहा है। इस गाँव में जब किसी की भी नाभी हटकर 'घरन' के रूप में परिणत हो जाती थी, तो उपचार कराने के लिए उस माता के पास जाया करते थे। वह एक घड़े में सूखा हुआ फूस जलाकर डाल देती, एक परात मे पानी भर देती, उस घडे को औंधे मुँह परात में रख देती और घरन के रोगी से कहती थी कि इसकी पैंदी पर अपना एक पैर रखो। पैर रखते ही उस घड़े से गड़गड़ाहट की आवाज आती और परात का सारा पानी उस घड़े मे चला जाता था। एक-दो मिनट के पश्चात् घडे का पानी फिर परात में आ जाता था। तब वह कहती कि जाओ, अब तुम्हारी घरन ठीक हो गई। प्रायः लोगो की घरन इस प्रकार के उपचार से ठीक हो जाती थी।

गिरने अथवा अन्य किसी कारण से मोच आ जाने से नाड़ी या हड्डी अपने वास्तविक स्थान से बाल बराबर इधर-उधर हट

जाय तो शरीर के उस भाग मे शोथ आ जाता है और बडी पीड़ा एवं वेदना होती है। मालिश आदि नाना प्रकार के उपचारों से स्थानभ्रष्ट नाड़ी या हड्डी को फिर उसके वास्तविक स्थान पर बैठा दिया जाय तो सारा दु:ख एवं सूजन आदि समाप्त होकर पूर्ववत् स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार पेट की जठराग्नि, नाभी, हड्डी या नाड़ी के अपने स्थान से हट जाने से प्रकृति में विकृति आ जाती है और शरीर मे विकार उत्पन्न होकर रोगी मनुष्य दुःख का अनुभव करने लगता है, उसी प्रकार दुःख, मृत्यु, अशान्ति, शोक, मोह, बन्धन, भय, चिन्ता आदि शारीरिक एवं मानसिक विकार भी प्रकृति मे विकृति आ जाने के कारण ही जीवनपर्यन्त दुःख देते है और अन्त में मौत के घाट उतार देते है।

उपरोक्त दुःखों का एक रहस्यमय विशेष कारण है। यहाँ भी शरीर आदि सघात के अन्तर्गत किसी विशेष अंग (भाग) के स्थानभ्रष्ट हो जाने से ही इन सभी दु.खो एवं आपत्तियों का बलात् अनुभव करना पड़ता है। यह विशेष भाग है—'अहं' या 'मै'। यह भी अपने वास्तविक स्थान से भ्रष्ट होकर गलत स्थान मे स्थित हो गया है। यदि अनुचित एव गलत स्थान से हटाकर इसे इसके वास्तविक स्थान पर स्थित कर दिया जाय तो सारे दुःख पीछा छोड देगे और यह मृत्यु से छूटकर अमर हो जायेगा। इस 'मैं' का वास्तविक स्थान सच्चिदानन्द परमात्मा है। मन, इन्द्रियां, शरीर आदि अनुचित एवं गलत स्थान है। यदि इसको इस शरीर से हटाकर चेतन आत्मा मे जोड दिया जाय तो यह सब दु.खों से मुक्त हो जाय।

इसी विषय पर मुझे एक पौराणिक घटना याद आ गई। एक बार किसी निरभिमान व्यक्ति की आयु पूरी हो गई तो यमराज ने अपने दूतो को उसे लाने के लिये भेजा। यमदूतो ने

जाकर देखा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि ऐसा दृश्य उन्होंने अभी तक कभी देखा ही नही था। जिसको लाने के लिए उन्हें भेजा गया था, वह तो वहाँ दिखाई ही नही पड़ता था। व्यक्ति जीवित है, बोल-चाल, काम-काज आदि सारा व्यवहार कर रहा है, किन्तु ले जाने (मरने) वाली वस्तु कोई दिखाई ही नही पड़ी। अब वे किसे मारें और किसे ले जायें ? यमदूत ज्यो के त्यो यम-राज के पास वापिस गये और कहने लगे कि असंख्य प्राणियों को लाकर आपके सम्मुख उपस्थित किया, मरने के पश्चात् सभी के स्थूल शरीर ज्यों के त्यो पड़े रह जाते हैं क्योकि वे यहाँ नही आ सकते। किन्तु यह तो एक ऐसा विचित्र प्राणी है कि मरने के पश्चात् जिस वस्तु को आपके पास लाया जाता है, वह तो इस मे है ही नही। अब हम क्या करे ?

यमदूतो की वाते सुनकर यमराज स्वयं उस को देखने गये। उन्होने भी भली प्रकार छान-बीन करके देखा तो उसमे मरने वाली कोई वस्तु दिखाई न पडी। यमराज ने आश्चर्यचकित होकर मृत्यु के देवता भगवान् शंकर का स्मरण किया। तत्क्षण भगवान् शंकर प्रकट हो गये। यमराज ने उन्हें सारी बातें कह सुनाई। शंकर ने भी बड़े ध्यान से छान-बीन की तो कोई मरणशील वस्तु दिखाई न पडी। तब भगवान् शंकर ने यमराज एवं यमदूतो को लक्ष्य करके कहा कि तुम्हारी क्या शक्ति है जो किसी को मार सको ? यह प्राणी अपने कर्त्ता-भोक्तापन, अनात्म शारीरिक एवं सासारिक अभिमान के कारण स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होता है। तुम लोग इस व्यर्थ अभिमान को छोड़ दो कि हम लोग किसी को मारते है।

दु:ख एवं मृत्यु का कारण अनात्माभिमान है। इसे सरलता, सुगमता एवं शीघ्रतापूर्वक कैसे समाप्त किया जा सकता है ?

इसका एक मात्र साधन आत्मनिवेदन एवं आत्मज्ञान है। अब आत्मनिवेदन को एक दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है कि यह जीव अभिमान निवृत्त होते ही सभी बन्धनों से मुक्त होकर किस प्रकार तत्क्षण दुःखों से छूट जाता है। एक निर्धन व्यक्ति ने किसी धनवान सेठ से समय-समय पर ऋण लिया। एक बार उसने ५ हजार ऋण लिया तो सभी ऋण मिलाकर लगभग २५ हज़ार रुपये हो चुका था। इस व्यक्ति ने जब और ऋण मांगा तो सेठ ने कोरा जवाब दे दिया कि अब तुम्हें और ऋण नहीं मिलेगा क्योंकि जब से रुपये लेना प्रारम्भ किया है तब से अभी तक तुमने वापिस तो एक पैसा भी नही किया। अब कृपा करके ऋण को वापिस लौटाने का प्रयत्न करो।

ऋण लेने वाला व्यक्ति बहुत ही रोता-गिड़गिड़ाता हुआ नम्रतापूर्वक सेठ से कहने लगा कि मै बहुत ही निर्धन हूँ। यदि मेरे पास देने को होता तो आपसे ऋण ही क्यों लेता? कृपा करके आप अपने ऋण को माफ कर दें, आपके पास कमी किस चीज की है? अतुल धन-सम्पत्ति आपके पास भरी पड़ी है। यदि मेरे जैसे निर्धन व्यक्ति पर ऋण माफ कर देगे तो आपका क्या घट जायेगा? सेठ को कुछ दया आ गई और उसने कहा कि मैं समूचा ऋण तो माफ नही कर सकता, केवल कोई-सा एक नामा छोड सकता हूँ।

सेठ ने अपने मुनीम को आज्ञा दी कि इसके नाम का खाता निकाल लाओ। मुनीम ने उस व्यक्ति के नाम का खाता खोलकर सेठ के सामने रख दिया। सेठ ने उस व्यक्ति से कहा कि लो, कोई भी एक नामा काट दो। उस व्यक्ति ने मन ही मन विचार किया कि एक बार मैंने सबसे अधिक ५ हजार ऋण लिया था। यदि उसी रकम को काट दूं तो भी शेष २० हजार रुपये कहां से

दूँगा ? मेरे पास तो विष खाने को भी पैसा नहीं है। इसलिये कुछ ऐसा करना चाहिये कि सेठ का वचन भी पूरा हो जाय, मैं भी उऋण हो जाऊँ और देना कुछ भी न पड़े। ऐसा सोचकर उसने सेठ से एक दिन का समय मांगा। सेठ ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया।

उसने घर जाकर अपने सब सम्बन्धियो को एकत्रित किया, यह बात सबके सामने कह सुनाई और सबसे अपनी-अपनी राय देने को कहा। सभी लोगों ने अपने-अपने विचार प्रगट किये पर उसको किसी की भी बात नही जँची। अन्त मे वह एक बडे उच्च कोटि के सन्त के पास गया। वह कभी-कभी उनके दर्शनों के लिये जाया करता था। उसने सन्त के सामने सेठ वाली समस्या कह सुनाई तो महात्मा ने उससे पूछा कि तुम चाहते क्या हो ? उसने कहा कि महाराज मैं यह चाहता हूँ कि सेठ की बात भी पूरी हो जाय और मुझे भी कुछ न देना पडे। सन्त मुस्कराते हुए कहने लगे कि यह तो बहुत ही सीधी-साधी सरल-सी बात है। जो युक्ति मैं बताता हूँ, जाकर उसका प्रयोग करो, इससे तुम्हारी समस्या हल हो जायेगी।

वह प्रसन्नता से उछल पडा और सन्त के चरणों मे पड़कर कहने लगा कि महाराज ऐसी ही कृपा करो। सन्त ने समझाया कि कल जाकर सेठ से कहो कि हमारे नाम का खाता निकलवाओ। जब खाता तुम्हारे सामने आ जाय तो लाल स्याही वाली कलम से खाते के ऊपर लिखा हुआ अपना नाम ही काट डालो, क्योकि नामा के दो अर्थ होते है,—एक तो उधार लिया हुआ द्रव्य दूसरे किसी व्यक्ति के नाम को भी नामा कहते है। इस प्रकार न रहेगा [illegible] और न बजेगी बसरी। जब ऋण लेने वाला ही नहीं

रहेगा तो ऋण देगा कौन ? अर्थात् जब कर्त्ता ही समाप्त हो गया तो भोगेगा कौन ?

इस सिद्धान्त को समझकर वह प्रसन्न होता हुआ अपने घर वापिस आगया और प्रातःकाल होते ही सेठ के पास जाकर कहने लगा कि मेरे नाम का खाता निकलवाइये। सेठ ने जब खाता उसके सामने रक्खा तो लाल स्याही वाली कलम से अपना नाम ही काटकर वह बोला—'लीजिये सेठ जी, आपकी आज्ञा थी कि एक ही नामा काट सकते हो तो मैने एक ही नामा काट दिया है।'

यह देखकर सेठ हत्प्रभ एवं आश्चर्यचकित हो गया और मन ही मन विचार करने लगा कि निश्चय ही इसको कोई पूरा गुरु मिल गया है।

ठीक इसी प्रकार इदि कोई मनुष्य कर्मों के फल को भोगकर समाप्त करना चाहे तो यह सर्वथा असम्भव है, क्योकि वह जितने कर्मो का फल भोगेगा उससे हजारो गुने नये कर्म एवं फल और उत्पन्न हो जायेगे जैसा कि आवागमन एवं कर्मफलभोग का चक्र चलता ही रहता है, मुक्ति कभी नहीं हो पाती। यदि इस जीवन मे नाम अर्थात् अपने अभिमान को ही मिटा यानी प्रभु को समर्पण कर दिया जाय तो इसी जीवन मे सारे कर्मो के बन्धनो से पीछा छूट जायेगा। आत्मसमर्पण का रहस्य यही है।

कल्याण के जिज्ञासुओ के लिये यह साधन ऐसा सुखद व सुलभ है कि इसके द्वारा जन्म, मृत्यु, कर्त्ता, भोक्ता, अज्ञान, बन्धन, दुःख, नरक इत्यादि भ्रम का मूल कारण अनात्माभिमान शीघ्रातिशीघ्र ऐसे निवृत्त हो जाता है, जैसे अग्नि या तेजाब के द्वारा किसी धातु का दोष निवृत्त हो जाता है। जो मुमुक्षु हर प्रकार के साधन मे असमर्थ है, वह आत्म-निवेदन' कर दे अर्थात्

सम्यक् प्रकार से सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा की 'अनन्य शरण' हो जाय। इस आत्म-निवेदन का महत्व भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे यहाँ तक कथन किया है कि क्षणमात्र मे सारा झगड़ा ही समाप्त कर दिया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि स.॥

अर्थात् अत्यन्त नीच-से-नीच, दुराचारी-से-दुराचारी, पापी-से-पापी भी क्यो न हो, यदि वह अनन्य भाव से मेरी (पूर्णब्रह्म परमात्मा की) अनन्य शरण हो जाय तो तत्क्षण ही साधु हो जाता है।

कोई भी दुर्गन्धयुक्त (दूषित) पदार्थ यदि अग्नि मे डाल दिया जाय तो उसका सारा दोष तत्काल ही नष्ट होकर वह शुद्ध अग्निरूप ही हो जाता है।

अजामिल, गीध, गणिका, शवरी, बिल्वमंगल, चिन्तामणि इत्यादि ने अपने परिच्छिन्न व्यक्तिगत शरीर, मन, प्राण इत्यादि के अभिमान को समष्टि अभिमान, व्यापक आत्मा मे मिला दिया और यह निश्चय कर लिया—'हे पतित पावन, सर्वरूप परमात्मन्! न मैं कुछ हूं, न मेरा कुछ है, केवल एक तू ही है और सब कुछ तेरा ही है।' अर्थात् व्यष्टि अहंता और ममता की भावना को,—जो सारे अनर्थों व दुःखो की मूल है,—ऐसे मिटा दिया मानो एक तरंग विशाल समुद्र से प्रार्थना करती हो—'हे समुद्र देवता! तुझ अथाह जलराशि मे मेरा अस्तित्व केवल कल्पनामात्र है,—यदि है भी तो केवल आप (जल) रूप ही है।' —और फिर उसी मे लय हो जाय।

कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनो सेनाओं के मध्य मे शोक-सागर में डूबते हुये अर्जुन को नाना प्रकार के संशय से मुक्त करके सुखी व शान्त बनाने के लिये भगवान् ने नाना प्रकार के साधनों का उपदेश किया, परन्तु अर्जुन की व्याकुलता बनी ही रही। तब अन्य कोई चारा न देखकर अन्त में भगवान् ने एटम बम उठाकर डाल दिया जिसके पड़ते ही अर्जुन का सारा शोक, मोह, अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, भय, चिन्ता, राग-द्वेष, बंधन, अहंता, ममता आदि सारे दुःख क्षणमात्र मे स्वाहा हो गये। भयभीत, कायर, दीन, हीन, शोकातुर अर्जुन सिंह की भांति गरज कर रथ के ऊपर जा बैठा और कहने लगा कि बस प्रभो! मेरे शोक, मोह व सारे संशय नष्ट हो गये। मुझे पूर्व स्मृति प्राप्त हो गई है अर्थात् सारा अज्ञान निवृत्त हो गया है। अब मै आप की आज्ञा का पालन करने के लिये तैयार हूँ। बस, यही पर सारी गीता का उपदेश समाप्त हो जाता है।

वह एटम बम कौन-सा था जिसका अन्त मे प्रयोग किया गया था ?—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

हे अर्जुन! यदि तू सारे कल्याण के साधनो को करने में असमर्थ है तो सारे अनात्म-अभिमान को त्याग कर केवल एक मेरी अर्थात् व्यापक चेतन आत्मा की अनन्य शरण (एक रूप) हो जा। मै तुझे सब पापो से (दुःखो) से मुक्त कर दूंगा, शोच (चिन्ता) मत कर। यह साधारण लोगों का अर्थ है।

यहाँ विशेष रूप से विचार करने की एक बात यह है कि जब इस उपदेश को सुनते ही अर्जुन शोक, मोह से मुक्त हो गया

था तो फिर ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की गई कि जव तू मेरी शरण आयेगा तव तुझे पापो से मुक्त करूँगा, अन्यथा नही ? यह वैसा ही है जैसा कि समुद्र तरङ्गों को यह उपदेश करे कि हे तरङ्गों ! तुम जव मेरी शरण लोगी, तव तुम मेरा स्वरूप वनोगी और नभी तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नही।

इस श्लोक से यही वात स्पष्ट सिद्ध होती है कि अभी कर्तव्य (सावन) शेष रहता है। सव साधनो से कठिन साधन 'सर्व धर्म का त्याग' है, क्योंकि कोई भी शरीरधारी जव तक जीवित है तव तक उसके सर्वथा अनात्म शारीरिक, मानसिक, वाह्य सांसारिक अथवा नाना प्रकार के व्यवहार इत्यादि धर्म कभी समाप्त हो नही सकते। तव यहाँ 'सर्व धर्म' और 'त्याग' का क्या तात्पर्य हो सकता है ? 'सर्व धर्म' से तात्पर्य है—'कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अभिमान' और 'त्याग' से तात्पर्य है - 'सूर्य में रात्रि के अभाववत् चेतन आत्मा मे अभिमान, कर्तव्य, साधन, कमी, अज्ञान, वन्धन, दुःख, पाप आदि के सर्वथा त्रैकालिक अभाव का निश्चय (अनुभव) करना'—जो कि निर्विवाद सिद्धान्त है। इसमें करना कुछ भी नही पड़ता, केवल ऐसा निश्चय ही किया जाता है।

किसी भी प्रकार या कारण से चेतन जड़ नही हो सकता। फिर चिन्ता किस वात की ? इस परम रहस्य को क्षणमात्र मे ही समझकर अर्जुन ने अपने घोड़े की वागडोर उसी समय प्रभु के हाथो मे सौंप दी और सारी चिन्ताओ से सर्वथा रहित होकर कह दिया कि लीजिये श्रीमान् जी ! चाहे तो विजय के गन्तव्य स्थान पर पहुँचा दीजिये और चाहे मृत्यु के घाट उतार दीजिये —यह अव आपकी मर्जी रही। यही व्यावहारिक जीवन की निर्भयता व निश्चिन्तता का स्वरूप है। यही एक रहस्य

सर्वोत्कृष्ट, परम सुखद है जिसे केवल समझनाभर ही है, करना कुछ भी नही है। जो जन अर्जुन की भाँति अपने मन व प्राणों की अहता, ममता एवं आसक्ति की बागडोर प्रभु के चरणों में निवेदन करके सर्वथा निर्द्वन्द हो जाते है अर्थात् सर्वात्मरूप का निश्चय कर लेते है, उनके योग-क्षेम (कल्याण) के ठेकेदार प्रभु स्वयं हो जाते है। फिर उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नही रहती कि मेरा मन बड़ा चंचल है, मैं पाप से मुक्त कैसे होऊँगा, मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे भगवान् की प्राप्ति कैसे होगी ?—इत्यादि। फिर सारे कर्तव्य समाप्त हो जाते है।

यह संसार ही कुरुक्षेत्र की भूमि है जिसमे दैवी व आसुरी प्रवृत्तियाँ (गुण) ही पाण्डव तथा कौरवो की सेनाये है। यह शरीर रथ है, प्राण व इन्द्रियां घोड़े है, मन-बुद्धि घोड़ों की लगाम है, जीवात्मा (चिदाभास) अर्जुन है तथा भगवान् श्री कृष्ण सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म सब का अपना आपा (अन्तरात्मा) है।

देहात्मवादी, अनात्माभिमानी, कर्मों के कर्ता-भोक्ता इस चिदाभास को ही श्रीकृष्ण रूपी अग्नि मे स्वाहा करके तद्रूप कर देना है।

बीज यदि चाहे कि वह फलता-फूलता विशाल वृक्ष भी बन जाय और बीज भी बना रहे, तो ये दोनो बाते कभी हो नही सकती। उसे तो अपने दीन-हीन, परिच्छिन्न व्यक्तित्व को मिटाना ही पड़ेगा। बीज का केवल इतना ही कर्तव्य है कि वह अपने आपे को पृथिवी के हवाले कर दे। आगे के लिये उसे चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नही है कि अन्दर से अंकुर कैसे

निकलेगा, पानी कौन देगा, वढ़ूंगा कैसे, मुझ पर फूल-फल कैसे लगेंगे ? आगे का जो कार्यक्रम है, वह प्राकृतिक अटल नियमों के द्वारा स्वयं ही अवश्यमेव होता रहेगा और होता है। बीज को किसी भी बात के लिए व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नही।

सच्चे मन एवं अनन्यभाव से अपने आप को एक बार प्रभु के हवाले कर देना है अर्थात् इस जीवन को एक ही बार प्रभु को समर्पण करना है,—बार-बार नित्यप्रति नही करना। एक वस्तु किसी को एक ही बार दान दी जाती है, नित्यंप्रति बार-बार नही दी जाती।

दान के पश्चात् उस वस्तु के ऊपर अपना कोई भी अधिकार और ममत्व नहीं रहता। यदि उस वस्तु मे ममत्व बना रहे तो समझो कि उसे दिया ही नही। इस प्रकार की शरणागति मध्यम कोटि की है। इसमे समर्पक ने किसी वस्तु को अपना माना तो था, पर समर्पण करके अपने ममत्व का निवृत्त कर लिया।

उत्तम कोटि की शरणागति तो इस प्रकार की होती है कि जैसी समुद्र मे तरग की होती है जिसमें होना-करना कुछ नही। जिस प्रकार मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी कभी किसी वस्तु को उसी वस्तु के स्वामी को दान नही करता, न उसके हाथ बिक्री ही कर सकता है, क्योंकि जो वस्तु उसी की है, उसे देना और बेचना कैसा ?

जिसके अन्तर्गत यह सारा चराचर जगत्, मैं, मेरी सारी सम्पत्ति तथा सारा कुटुम्ब परिवार गर्भित है, जिसका स्वामी

सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है जो सब का अपना आत्मा ही है, तो फिर उसे कौन और क्या देगा ? जब उससे भिन्न कोई वस्तु ही नही तो देना-लेना किससे ? इस प्रकार का निश्चय (ज्ञान) ही उत्तम कोटि की शरणागति एवं आत्म-निवेदन है। अस्तु !

आत्म-ज्ञान तथा आत्म-निवेदन,—ये दोनो साधन अपने आनन्द स्वरूप आत्मा को अनुभव करने के लिये परमोत्कृष्ट उपाय है। यही शास्त्रों, ऋषि-मुनियो तथा महात्माओ का अनुभव एवं सिद्धान्त है और यही परम शान्ति तथा कल्याण का एकमात्र उपाय है।



# वेदान्त का स्वरूप

'वेदान्त' एक ऐसा भयंकर शब्द है कि इस को सुनते ही हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, यहूदी, पारसी, सनातनी, समाजी, आस्तिक, नास्तिक, काँग्रेसी, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट आदि सभी धर्म और पार्टी इससे घृणा करते है। इसका यही कारण हो सकता है कि वे वेदान्त के वास्तविक तात्पर्य को नही जानते। वस्तुत: वेदान्त शब्द न तो भयंकर है और न घृणास्पद ही. तो भी इसे भयंकर इसलिये लिखा गया है कि लोग इतने डरपोक और बुज़दिल है कि शब्द से भी डरते हैं। भाव यह है कि वेदान्त शब्द सिंह अथवा तोप की गर्जना जैसी भयंकर ध्वनि नही है जो भय की जनक हो, फिर भी भ्रम या अज्ञान के कारण लोग केवल डरते ही नहीं वरन् द्वेष के कारण अन्धे और पागल हो जाते हैं। इस विषय में महात्मा मन्सूर या शरमद आदि के ज्वलन्त उदाहरण है।

सन्त मन्सूर का नाम आध्यात्मिक जगत् के प्रायः सभी लोग जानते ही होंगे। वह सूफ़ी (वेदान्ती) विचारो का एक बडा अनुभवी मुसलमान महात्मा था जिसके मुँह से स्वाभाविक ही 'अनलहक़' (शिवोऽहम्) की ध्वनि निकलती रहती थी। मौलवियो और काजियो ने उस पर नास्तिकता का दोषारोपण किया, क्योकि इस्लाम मज़हब के अनुसार जो स्वयं को खुदा कहता है, वह नास्तिक है और उसके लिए मृत्यु-दण्ड का विधान है और

'अनलहक' का अर्थ होता है—'मै खुदा हूँ' किन्तु यह ध्वनि उसके मुँह से इसी प्रकार निकलती रहती थी जैसे किसी सोते हुए व्यक्ति की नाक से खर्राटे की आवाजें निकलती रहती है। जब उसे फाँसी दे दी गई तो मरने के पश्चात् भी शव से 'अनलहक-अनलहक' की ध्वनि निकलती रही। इस्लाम मज़हब के अनुसार कब्र मे दफनाने के बजाय उसे काफ़िर मानकर जला दिया गया, किन्तु उसकी भस्म से भी उन लोगो के लिये हृदय-विदारक 'अनलहक' की ध्वनि निकलती ही रही।

दूसरी घटना मेरे सामने की ही है। परमपूज्य वीतराग उच्चकोटि के विद्वान् अनुभवी तत्ववेत्ता जीवनमुक्त श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी महाराज सन् बत्तीस मे कन्नौज के सेठ श्री धन्नूलाल के बगीचे में ठहरे हुए थे। नित्यप्रति सायंकाल वेदान्त का अपूर्व एवं अनुभूत सत्संग होता था। सैकड़ो नर-नारी आत्म-कल्याण के जिज्ञासु श्री स्वामी जी के वचनामृत से आध्यात्मिक लाभ उठा रहे थे। किन्तु यह सत्संग हमारे श्रीमान् पण्डित गणेशदत्त शास्त्री को अच्छा न लगा और उन्होंने अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के विरुद्ध शास्त्रार्थ छेड दिया जो तीन दिन तक चलता रहा। तीसरे दिन जनता इस शास्त्रार्थ से बहुत परेशान हो गई क्योंकि उस के सत्सग मे विघ्न पड रहा था। तब मैंने कहा कि अब आप लोग इस लीला को समाप्त कीजिये। पण्डित जी आवेश में आकर कहने लगे कि हम तुम्हारे अद्वैत के टुकडे-टुकडे कर डालेगे। तब स्वामी जी ने भी कहा कि मैं तुम्हारे द्वैत को पीस कर आटा बना दूंगा।

एक बड़े ही सुलझे हुए पुराने विचारक सत्सगी ने कहा कि देखिये श्रीमान् पण्डित जी! आपके इस अद्वैत का प्रतिपादन तो एक बिलकुल अनभिज्ञ, अनाडी, अनपढ़, घास छीलने वाला गँवार

मजदूर भी कर रहा है। यह सुनते ही मैंने पास मे ही खड़े उस बाग के माली को बुलाकर कहा कि सुनो भाई, तुम तो साक्षात् परमात्मा हो! उसने कहा—'हरे राम, हरे राम, हरे-हरे, मैं दुष्ट पापी परमात्मा कैसे हो सकता हूं?' अविद्या के कारण प्रायः मनुष्यो की ऐसी ही धारणा होती है, इसमें कोई विशेषता नही है। विशेषता तो इसमे है कि एक प्रगट और प्रत्यक्ष वृक्ष के शाखा, टहनी, फल-फूल आदि अनेको विभिन्न अंगों की प्रतीति को विवेक द्वारा एक वृक्ष मात्र में ही समाहित कर लिया जाय जिस का मूल पृथिवी मे छिपा हुआ अदृश्य है। पृथिवी की पर्त हटाकर उस मूल को भी देखा जा सकता है। इसी प्रकार पंच-तत्व, पंचतन्मात्रा, तीन गुण, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि देखने मे विभिन्न और विषम तो अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु विवेक-दृष्टि मे विराट् समष्टि रूप से सभी एक ही हैं और इन सब का मूल चैतन्य अधिष्ठान अपरोक्ष होते हुए भी अविद्या के कारण परोक्ष प्रतीत होता है।

## 'वेदान्त' शब्द की परिभाषा

वेद (जानने की)+अन्त (समाप्ति)=वेदान्त, अर्थात् ज्ञान का अन्त। मनुष्य के ज्ञान का अन्त कब हुआ करता है? दो स्थलो पर—एक तो मृत्यु के पश्चात्, दूसरे प्रत्येक कार्य की सिद्धि के पश्चात्। अन्त शब्द का अर्थ है -'आदि या प्रारम्भ की समाप्ति अर्थात् विश्राम-स्थल।' किसी लक्ष्य को पूरा करने अथवा किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये पहले किसी भी प्रकार का संकल्प (ज्ञान) उठता है और जब उसकी सिद्धि अर्थात् कार्य की पूर्ति या फल की प्राप्ति हो जाती है, तब उस वृत्ति मे

उठे हुए संकल्प (ज्ञान) की समाप्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति किसी गन्तव्य पर पहुँचने के लिये विचार करता है। गन्तव्य स्थल के आदि और अन्त के मध्य का मार्ग लक्ष्य में व्यवधान रूप है। उस मार्ग (व्यवधान) को समाप्त करने के लिये वह साधनों सहित चल पड़ता है। कुछ समय के पश्चात् वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता है और तब उसके विचार, मार्ग, साधन और कर्म इत्यादि सब की समाप्ति (अन्त) हो जाती है। उस समय उस लक्ष्य की पूर्ति का जो वेद(=संकल्प=ज्ञान) है, उसका भी अन्त (वेदान्त) हो गया। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ज्ञान (संकल्प) व कर्म के इति-स्थल का नाम वेदान्त है।

आप स्वयं इस बात का न्याय कर सकते है कि यह वेदान्त किसका अनिष्ट करने वाला शत्रु हो सकता है? क्या इस नियम के बिना संसार में किसी भी प्रकार का कोई भी कार्य, किसी भी कर्त्ता के द्वारा सिद्ध हो सकता है, भले ही चाहे वह आधिभौतिक हो अथवा आध्यात्मिक हो? किसी ज्ञान (संकल्प) का अन्त ही कार्य की सफलता के पश्चात् हुआ करता है। इस अनिवार्य प्राकृतिक नियम से बच ही कौन सकता है? चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो अथवा वैज्ञानिक हो,—यह नियम सबके लिये अपरिहार्य है। जो इस नियम से वंचित होगे वे या तो जड़ पाषाण होगे या फिर मनुष्य ही न होगे। किसी शब्द के अर्थ को न जानकार उससे अनर्थ ही किया जाय तो दूसरी बात है।

किसी भी सिद्धान्त के भावार्थ या तात्पर्य को न जानने के कारण ही लोग नाना प्रकार के पक्षपात तथा एक-दूसरे से द्वेष करते है, परस्पर घोर शत्रु बन जाते हैं और उन सिद्धान्तो से लाभ या सुख उठाने के स्थान पर हानि व दुःख उठा रहे है।

पक्षपात, स्वार्थ और अज्ञान,—ये तीन कारण है जिनसे किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अध.पतन होता है। अज्ञान के द्वारा ही अनेको पक्षपात और पक्षपात से ही स्वार्थ की उत्पत्ति होती है। 'स्वार्थी दोषं न पश्यति'—स्वार्थी व्यक्ति अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये, किसी भी प्रकार के दोष को,—चाहे वह देश एवं समाज के लिए कितना ही हानिप्रद क्यो न हो,—निस्सकोच स्वीकार कर लेता है, जैसा कि जयचन्द, मार्नासह आदि ने किया।

किसी व्यक्ति, समाज, मजहब, सोसायटी इत्यादि में यदि सब के लिए लाभ, सुख और शान्तिप्रद कोई विशेष गुण भी हो तो भी स्वार्थवश आवेश मे आकर लोग उसको ठुकरा देते हैं। उदाहरणार्थं क्रियात्मक एवं व्यावहारिक वेदान्त का मूर्तिमान् स्वरूप 'साम्यवाद' है। वेदान्त की भाँति साम्यवाद का भी नाम सुनते ही लोगो के रौंगटे खड़े हो जाते है। इसका कारण भी वही है जो वेदान्त के प्रति घृणा का है। वस्तुतः प्राय· लोग तो साम्यवाद के भावार्थं अर्थात् वास्तविक सिद्धान्त को ही नही समझते और जो जानते है, वे न तो घवड़ाते है और न द्वेष ही करते है। वेदान्त और साम्यवाद शब्दो और इनके सिद्धान्तो से वे ही महानुभाव भयभीत होने या द्वेप करते है जो किसी प्रकार के साम्प्रदायिक, काल्पनिक, ईश्वरवादी धर्म के मानने वाले और पूजीपति या साम्राज्यवादी हैं। आस्तिक तथा निर्धन लोग तो इन्हे विशेप रूप से चाहते हैं।

जिन महानुभावो का इनके प्रति द्वेप है, उन्हीं के समक्ष कुछ विचार रखते है। पहिले मैं अपने ईश्वरवादी भाइयो का ध्यान इस ओर दिलाता हूँ। यदि विचार करके देखे तो ससार मे कोई भी मनुष्य नास्तिक नही हो सकता, क्योकि ऐसा कोई न होगा जो स्वयं अपनी या किसी अन्य की सत्ता को मानता ही न हो।

यदि कोई भी सत्ता स्वीकार कर ली तो नास्तिक कैसा ? बहुत से सम्प्रदायों की मान्यता है कि जो ईश्वर और वेद को न माने, वह नास्तिक है। यदि यही बात मान ली जाय तो भी कोई नास्तिक नही हो सकता क्योंकि ईश्वर अर्थात् सत्य या सत्ता और वेद अर्थात् ज्ञान को न मानने वाला कोई मिलेगा ही नहीं अर्थात् सभी मानते है। विभिन्न सम्प्रदायों के नाना प्रकार के ईश्वर है जो अपनी-अपनी भावना और श्रद्धा से बने है। ऐसे ईश्वरो को 'केवल मानव' यानी सच्चे और विचारवान् मानव नही मानते।

आप प्रश्न करेंगे कि 'सच्चा मानव' किसे कहते है ? जो सम्प्रदाय, जाति, पांति, वर्ण, आश्रम, देश, समाज, उपाधि आदि के पक्षपात एवं अभिमान से मुक्त हो, उसे सच्चा मानव कहते है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है कि मैने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, वैरागी, उदासी, नाथ, अमेरिकन, जापानी, जरमनी, रशियन, चाइनीज, यूरोपियन आदि तो बहुत देखे है, किन्तु उपाधियो से रहित 'केवल मानव' अर्थात् 'सच्चा मानव' नही देखा।

जैसे कांग्रेसी, जनसघी, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, आजाद, क्रान्तिकारी आदि सभी राजनीतिको का सूर्य एक ही है और सभी को एक जैसा ही अनुभव हो रहा है उसी प्रकार वास्तविक ईश्वर भी एक है जो सूर्य से भी अधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है और सभी को एक-सा ही दिखाई पड रहा है।

जिस समय सर राधाकृष्णन् राजदूत बनकर रूस गये तो वहाँ के चोटी के लीडर स्टालिन और उनके साथी उनसे मिले।

प्रश्न हुआ कि क्या ईश्वर है ? यदि है, तो दिखलाइये ? सर राधाकृष्णन् ने यही कहा कि आप देख तो रहे ही है, मैं केवल पहिचान करा दूँगा। क्या आप लोग सत्य, ज्ञान, आनन्द को मानते है ? आपने उन्हे अनुभव किया है या नही ? क्या इनके बिना कोई व्यवहार चल सकता है ? क्या इनके बिना किसी का होना सिद्ध हो सकता है ? क्या सभी के जीवन का लक्ष्य आनन्द नहीं है ? संसार मे ऐसा कौन मनुष्य होगा जिसे ज्ञात या अज्ञात रूप मे आनन्द, ज्ञान एवं सत्ता की अनुभूति न हो रही हो ? इन्ही तीन सत्ताओ को ईश्वर, गॉड, खुदा, परमात्मा, ब्रह्म आदि नामो से सम्बोधित किया जाता है।



# ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना भी अत्यावश्यक है। इसके बिना यथार्थ ज्ञान से होने वाले महान् लाभ नही हो सकेगे। इस विषय मे लोगो के विभिन्न विचार संक्षेप मे यहाँ प्रस्तुत किये जाते है।

सारे विश्व मे लगभग तीन अरब मनुष्य है। इनमे से आधे के लगभग किसी-न-किसी प्रकार से ईश्वर के मानने वाले अवश्य है। इन में से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी लोग ईश्वरवादी है। शेष अस्सी करोड़ के लगभग बौद्ध, साम्यवादी, वैज्ञानिक, जैनी, सांख्यवादी, मीमांसक (जैमिनी-कपिल-मत) आदि ऐसे लोग है जो जगत् के होने एवं किसी भी प्रकार के कार्यक्रम मे ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नही समझते। वे समस्त जगत् को कार्य-कारण रूप से धारा-प्रवाह अनादि मानते है।

उपरोक्त ईश्वरवादियो मे भी ईश्वर के विषय मे नाना प्रकार के मतभेद है, किसी का भी एकमत नही है। इसलिए अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर और उसके मानने अथवा न मानने के विषय में इतना मतभेद क्यो, जबकि ईश्वर एक ही है?

क्या सूर्य, अग्नि, वायु आदि के मानने अथवा अनुभव मे भी कोई मतभेद है? प्रत्येक देश-काल मे, प्रत्येक व्यक्ति को इनका एक जैसा ही अनुभव हो रहा है। इसी प्रकार यदि ईश्वर का भी अस्तित्व है और वह सारे जगत् मे सूर्यवत् एक ही है, तो

आधे से अधिक मनुष्य उसको क्यों नहीं मानते ? जो लोग मानते भी हैं, वे भी नाना प्रकार से ! ईश्वर के विषय में ऐसे मतभेद देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक ही हो सकता है। इसके ऊपर मैं निष्पक्ष होकर अपने कुछ विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

यहाँ दो प्रकार का ईश्वर मानना पड़ेगा, एक वास्तविक ईश्वर जो प्रत्येक देश-काल में, प्रत्येक व्यक्ति को,—चाहे वह नास्तिक हो अथवा आस्तिक, ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी,—सूर्यवत् एक जैसा ही अनुभव हो रहा है। चाहे कोई माने या न माने, यह हरएक की अपनी-अपनी स्वतन्त्रता है, परन्तु फिर भी बाध्य होकर मानना ही पडता है, क्योंकि अनुभूत से इनकार नहीं किया जा सकता।

सर्वप्रथम अनीश्वरवादी नास्तिको के विषय मे विचार करना परमावश्यक है। न+आस्तिक=नास्तिक अर्थात् जो किसी भी प्रकार की सत्ता को न माने। यदि शब्द के अनुसार ही इसका अर्थ किया जाय तो समस्त विश्व मे कोई भी मनुष्य नास्तिक हो ही नही सकता, क्योंकि सभी को किसी-न-किसी प्रकार की सत्ता निर्विवाद माननी ही पड़ती है।

दूसरे प्रकार के नास्तिक जड की सत्ता को तो मानते है, किन्तु चेतन की सत्ता नही मानते। इनके विषय में आगे विचार किया जायगा। तीसरे प्रकार के नास्तिक सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर को नही मानते।

अब उपरोक्त दो प्रकार के नास्तिको का विचार किया जाता है। सत्ता एवं चेतन (ज्ञान) तो प्रत्येक देश-काल मे मानवमात्र को प्रत्यक्ष ही है, इसलिये इनसे तो इनकार कर नही सकते। यदि इनकार कर दें तो आगे विवश होकर बलात् मानना ही पड़ेगा।

अब रही आनन्द की बात ! समस्त संसार में ऐसे कौन-से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरधारी प्राणी होंगे जो आनन्द को चाहते या मानते न हो ? अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई कि सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर को मानते तो सभी है, किन्तु जानते नही । आगे के विचार से जान भी लेगे ।

चौथे प्रकार के नास्तिक वे है जो कहते है कि जो हमारी भावना एवं हृदय के द्वारा निर्मित ईश्वर व धर्म को न माने, वही नास्तिक है । नास्तिक की ऐसी परिभाषा तो संग्रहालय मे ही रखने योग्य है। इस प्रकार के नास्तिक बडे भयंकर होते है, क्योंकि इन लोगों के द्वारा अज्ञान एवं अन्धविश्वास की बीमारी फैलती है । ये लोग बहुत ही कठिनाई से आस्तिक बनते है ।

अब उपरोक्त तीन प्रकार के नास्तिको के विषय में विचार किया जाता है जिसे सभी को समझना परमावश्यक है । एक ऐसे शून्य या अभाववादी नास्तिक को लीजिए जो अपने सहित अन्य किसी भी तत्त्व (वस्तु) की सत्ता ही नही मानता । यदि ऐसे चार्वाक शून्यवादी नास्तिक को भी उपरोक्त तीनो सत्ताएँ मनवा या अनुभव करा दी जायें तो फिर कोई नास्तिक हो ही नही सकता ।

शून्यवादी नास्तिक का पूर्वपक्ष यह है कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर, आत्मा, जगत्, प्रकृति, पंचतत्त्व आदि किसी की भी सत्ता किञ्चित्मात्र भी है ही नही, सबका नितान्त अभाव है । यह सब आकाश की नीलिमा या मरुभूमि के जलाभासवत् केवल प्रतीतिमात्र ही है जो तभी तक है जब तक कि शरीर मे प्राण या जीवन रहता है, आगे-पीछे कुछ भी नही रहता । 'आद्यन्ते च यन्नास्ति वर्तमानोपि तत्तथा' अर्थात् जो वस्तु आदि-अन्त मे

न हो, केवल वर्तमान मे ही भासे, उसकी सत्ता नहीं हुआ करती, केवल प्रतीतिमात्र ही होती है। यह सभी की अनुभवसिद्ध बात है कि शरीर के जन्म लेने से प्रथम एवं मृत्यु के पश्चात् उपरोक्त वस्तुएँ या सत्ताएँ नही होती और जिस प्राण या जीवन के द्वारा उपरोक्त सत्ताएँ भासती है, आदि-अन्त मे न होने से उसकी भी केवल प्रतीतिमात्र ही है। इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि सभी अभाव या शून्य ही है, है कुछ भी नही।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से है—सर्वप्रथम इस बात का विचार किया जाता है कि ऐसा कोई भी नास्तिक संसार में न होगा जो अपनी सत्ता से इनकार कर दे कि मैं नही हूँ। यदि शून्यवादी अपनी ही सत्ता से इनकार करदे तो फिर 'वदितो व्याघात' दोष उपस्थित हो जायगा. जैसे कि कोई कहे कि मेरे मुख मे जिह्वा नही है। यदि जिह्वा नही है, तो बोल कैसे रहा है? इसी प्रकार से यदि तू ही नही है तो सब के अभाव की सिद्धि किसने की अर्थात् यह किसने जाना कि कुछ भी नही है? इससे सिद्ध है कि अभाव का द्रष्टा चेतन या ज्ञान प्रत्येक देश-काल मे विद्यमान् रहता है, तभी तो वह भाव-अभाव को जानता है कि जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के पश्चात् कुछ भी नही रहता।

यह बात सिद्ध हो गई कि उपरोक्त तीन सत्ताओ और जीवन या प्राण के भाव या अभाव का द्रष्टा चेतन है, तभी तो यह सब बातें जानी गई। अत: संसार मे कोई नास्तिक हो नही सकता क्योंकि सभी को बाध्य होकर सर्वप्रथम अपनी (ज्ञान) और बाद मे जगत् (जड़) की सत्ता माननी ही पड़ती है। यह दोनों सत्ताएँ सब की अनुभवसिद्ध प्रत्यक्ष है। इन्ही दोनो सत्ताओं को पुरुष-प्रकृति या चेतन-जड के नाम से कथन किया जाता है। यही दोनों सत्ताएँ शरीर व आत्मा (ज्ञान व क्रिया) के रूप मे प्रत्यक्ष

हैं। इन्ही दोनों सत्ताओं को साकार व निराकार ईश्वर भी कह सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही सव का आत्मा (ज्ञान शक्ति) है। तो फिर ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे मनुष्य नही कर सकता ?

हमे इस बात का पूर्णरूप से अनुभव है कि शरीर के रहते हुए कभी-कभी ऐसा भयंकर दुःख बलात् आ घेरता है जिसे बाध्य होकर सहन करना ही पड़ता है और मृत्यु तो हर समय सिर पर खडी ही रहती है जो किसी को भी किसी भी प्रकार से छोड़ती ही नहीं। इन सब को तो सहन कर लेना, किन्तु किसी प्रकार के दुःख या मृत्यु से भयभीत होकर अपूर्व, सुन्दर, स्थाई आनन्दमय अभीष्ट की प्राप्ति के लिये साधन-विमुख रह कर पथभ्रष्ट हो जाना कैसा प्रमाद है !

अब वास्तविक ईश्वर के विषय में विचार किया जाता है जो सूर्य की भांति जगमगा एवं सागर की भाँति लहरा रहा है। वह एक क्षण के लिए भी हम लोगो से पृथक् नही हो सकता। वह हमारे इतना निकट है कि हम सभी का स्वय आत्मा ही है।

यह सभी की अनुभवसिद्ध बात है कि जिस वस्तु का नाम होता है. उसका कोई-न-कोई स्वरूप भी अवश्य होगा क्योंकि प्रथम वस्तु होती है, पश्चात् उसका नाम होता है। इसलिए ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, भगवान्, गॉड, खुदा आदि जिस के नाम है,—वह नामी कौन है और उसका स्वरूप क्या है? वह कौन-सा तत्व है जिसके उपरोक्त नाम हैं ?

इस प्रकार का प्रश्न होने से उसके स्वरूप का भी विचार अवश्य करना पडेगा। उपरोक्त प्रश्न का समाधान करते हुए

शास्त्रों एवं स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है कि ईश्वर का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द, विभु (व्यापक), सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि है। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप मानना बालकों का अभिनय मात्र ही होगा।

ईश्वर व्यापक है तो वह कौन-सा देश-काल-वस्तु है कि जहाँ, जिस समय एवं जिसमे वह न हो? अर्थात् वह हर जगह, हर समय, हर वस्तु मे व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि किसी भी व्याप्य पदार्थ मे से व्यापक को पृथक् कर देने से व्याप्य की सत्ता ही नही रह सकती। वर्फ अथवा नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक विभिन्न व्याप्य वस्त्रो मे से यदि व्यापक जल अथवा रुई, ऊन, रेशम आदि पृथक् कर दिये जायें तो नाम-रूपात्मक व्याप्य की सत्ता ही समाप्त हो जायगी। यह एक अकाट्य सत्य है। ठीक इसी प्रकार से व्याप्य नाम-रूपात्मक जगत् मे से व्यापक सत्ता-चेतन-आनन्द को विवेक दृष्टि से पृथक् कर दिया जाय तो जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जायगी।

अब विचार करना है कि उपरोक्त नाम तथा लक्षण (स्वरूप) जिसमें घटित होते हैं, वह रहता कहाँ है? उत्तर है— सर्वत्र! क्या हम सब मे भी है?—अवश्य है! गीता के अठारहवें अध्याय मे लिखा है कि ईश्वर सब भूत प्राणियो के हृदय-देश मे विराजमान् (विद्यमान्) है, अपनी ज्ञान व क्रिया-शक्ति द्वारा सभी के मन, इन्द्रियो, प्राणादि को यन्त्र की भाति प्रेरित (संचालित) करता है। इसी प्रकार तेरहवें अध्याय में लिखा है कि सम्पूर्ण शरीरो मे शरीरधारी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) मैं हूँ। उपनिषद् मे भी यही बात मिलती है कि समस्त नाम-रूपात्मक जगत् ईश्वर से व्याप्त है अर्थात् सभी भूतो मे सत्ता रूप से एवं सभी शरीरधारी प्राणियों के हृदयों मे आत्मरूप से ईश्वर विद्यमान् है।

ईश्वर के निवास-स्थान का पता चल गया तो अब विचार करना है कि वह तत्व कौन-सा है जिसमे उपरोक्त सभी लक्षण घटित होते है ? इसी तत्व का शास्त्रकारो ने सृष्टिकर्ता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तिर्यामी, घट-घट-वासी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान, जगत् का आदि कारण, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द, पूर्ण ब्रह्म आदि विभिन्न नामो से कथन किया है। उपरोक्त प्रकार से जिस चेतनदेव (ज्ञान) की महिमा और लक्षणो का वर्णन कर रहे है, उसी को लक्ष्य करके यदि किसी से प्रश्न किया जाय कि आप जड़ है या चेतन ? ऐसा कोई भी मनुष्य न होगा जो उत्तर में स्वय को चेतन न कह कर जड़ कहे। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही ज्ञान (चेतन) रूप से सब का अपना स्वयं आत्मा है।

यदि यह सिद्धान्त सर्वतंत्र स्वतंत्र सत्य है, तो फिर इस परम विशुद्ध ज्ञानदेव (चेतन) को जीव, दीन, हीन, दु:खी, कर्ता, भोक्ता, पापी, बंधा हुआ, पराधीन, तुच्छ, असमर्थ, ईश्वर से भिन्न, उसका दास एवं उससे शासित मानना मानो ईश्वर को छिन्न-भिन्न करके उसका मटियामेट करना ही है। उसकी महिमा को इस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट करने वालो को ही शास्त्रकारो ने 'आत्मघाती' कहा है। मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, गुरु-हत्या गौहत्या आदि जितने भी महान् पातक है, इन सभी से बढ़कर पातक 'आत्म-हत्या' है।

बहुत से लोग शका कर बैठेगे कि जब नाना प्रकार के दु:खो, पराधीनताओं, असमर्थताओ को हम लोग प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे है तो फिर अपने को जीव न मान कर सर्वशक्तिमान् ईश्वर कैसे मान ले ? इस प्रश्न का उत्तर एक उदाहरण द्वारा दिया जाता है।

हम लोग नित्यंप्रति स्वप्न देखते हैं। मान लो, एक व्यक्ति स्वप्न मे कही यात्रा करने निकला। साथ मे नौकर, विस्तरा, ट्रंक आदि और वहुत-सा सामान एवं पांच हजार रुपया भी है। कार द्वारा स्टेशन पर जाकर, फर्स्ट क्लास का टिकट लेकर सीट रिजर्व कराई। नौकर ने सीट पर विस्तरा लगा दिया और गाड़ी चल पड़ी। आगे जाकर वैरा ने भोजन का थाल सामने रखा। भोजनोपरान्त विश्राम किया। तत्पश्चात् तीन बजे चाय आदि पी। इसी प्रकार भोजन, चाय, फल आदि समय-समय पर आते रहे।

गाड़ी को गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में केवल दो घण्टे शेष रह गये थे कि वैरा ने ५० रुपये का विल बनाकर सामने रखा। भुगतान करने के लिए जव कोट की जेव मे हाथ डाला तो मनीवैग गायव! पतलून, वास्कट, कमीज आदि की जेव एवं अटेंचीकेस आदि खोलकर वहुतेरी खोज की, किन्तु रुपया नही मिला।

घवराहट से चेहरा फक्क हो गया। रुपये चले जाने की तो कोई वात नही, पर विल का भुगतान कैसे किया जाय? कुली, टैक्सी आदि के लिए भी पैसा नही है, कोई परिचित भी नही है। यों वह शोकसागर मे डूवने लगा। हो सकता है कि रुपया किसी पाकिटमार ने निकाल लिया हो।

यात्री कच्चा वेदान्ती था। सर्वप्रथम तो ईश्वर से प्रार्थना प्रारम्भ की कि हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! इस समय मेरी लाज रखो! मुझे किसी प्रकार केवल सौ रुपये दे दीजिए, फिर टेलीग्राम द्वारा घर से रुपया मंगा लूंगा। वहुत प्रार्थना करने पर भी ईश्वर से रुपया न मिल सका। तव वेदान्त की कुछ

बातें स्मरण आई। मन में विचार करने लगा कि 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् जब मै ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर हूँ और सारा विश्व मेरे ही सकल्प की रचना है तो मेरे सत् संकल्प से सौ रुपये मेरी जेब मे आ जायें। ऐसा ध्यान करने पर भी रुपया जेब मे नही आया। तब अन्य साथी यात्रियों मे आत्म-भावना करके उन से सौ रुपया मांगा, किन्तु किसी ने भी रुपया नही दिया। अन्त में निराश होकर सभी में से उसकी आस्था जाती रही।

उसका यह संशय दृढ़ होने लगा कि ईश्वर नाम का कोई भी तत्व नही है। यदि ईश्वर होता तो क्या इस साधारण मांग को भी पूरी नही कर सकता था अथवा यदि मैं स्वयं ही ईश्वर होता तो क्या मेरी यह सामान्य कामना भी पूरी नही हो सकती थी? इससे यह बात सर्वथा सिद्ध हो गई कि न तो ईश्वर ही कोई वस्तु है और न मैं स्वयं ही ब्रह्म हो सकता हूँ। मैं अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान्, तुच्छ, दीन-हीन जीव हूँ।

उपरोक्त स्वप्नद्रष्टा अपनी सकल्प शक्ति द्वारा पाँच हजार रुपया, ट्रंक, बिस्तरा, नौकर, मेल ट्रेन, लाइन, स्टेशन, फर्स्ट क्लास कम्पार्टमैन्ट, रिज़र्व सीट, कम्पार्टमैन्ट के अन्य यात्री, बैरा, भोजनादि, पचास रुपये का बिल तो क्षणमात्र मे ही बना लेने मे समर्थ है, किन्तु सौ रुपये बनाने मे असमर्थ होने के कारण अपने को तुच्छ, दीन-हीन, अभागा जीव मानने लगा। ठीक इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् बना हुआ है।

सभी बुद्धिमान् मनुष्यों को जगत् एवं आत्मा (स्वप्न-दृश्य, द्रष्टा) की वास्तविकता को समझाने के लिए ही तो नित्यप्रति स्वप्न का प्राकृतिक अनुभव कराया जा रहा है। तब भी वह यह

नही समझ पा रहा कि जैसे और सब दृश्य (जगत्) मन की रचना है, वैसे ही अल्पज्ञता, अल्पशक्ति आदि प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी तो जगत् के ही अन्तर्गत होने से कल्पनामात्र, मन की रचना ही है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि वह जिन शास्त्रोक्त शब्दों का नित्य वाणी द्वारा उच्चारण करता है अथवा जिन ग्रन्थों को मानता है, उन्ही शब्दो एवं ग्रन्थों के वास्तविक अर्थ, तात्पर्य को नही समझ पाता। उदाहरणार्थ—जीव, ईश्वर, प्रकृति,—तीनों सत्ताओ को परमार्थत: भिन्न एवं सत्य मानता है और साथ ही ईश्वर को विभु (व्यापक) भी मानता है।

भला तीन-तीन विभिन्न स्वतन्त्र सत्ताओ के सत्य होते हुए ईश्वर व्यापक कैसे हो सकेगा ? जितने देश-काल को जीव और प्रकृति ने घेरा हुआ है, उतने में ईश्वर नही हो सकता और जिस देश-काल मे ईश्वर होगा, उसमे जीव व प्रकृति नहीं रह सकेंगे,—तभी तो ईश्वर व्यापक हो सकेगा। व्यापक होने का और कोई प्रकार ही नही है। इस प्रकार जो ईश्वर को सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, अद्वितीय, केवल चेतन सत्ता (ईश्वर) को परमार्थत: सत्य मानते है, ऐसे परम आस्तिकों को द्वैतवादी नास्तिक कहते है। इन बेचारो को नास्तिक शब्द की परिभाषा एवं स्वरूप का ज्ञान ही नही है। ऐसे लोग दया के पात्र है।

कुछ विद्वानो का मत है कि जीव का स्वरूप सत्-चित् तो है, किन्तु आनन्द स्वरूप नही हो सकता, क्योकि वह तो आनन्द की प्राप्ति के लिए इच्छा व साधन करता है। यदि इसी कारण से जीव आनन्द स्वरूप नही हो सकता तो फिर चेतन व सत्

(ज्ञान व अमृत्व) की प्राप्ति की इच्छा और साधन भी क्यों करता है ? यह तो जीव का स्वरूप ही है।

जिस प्रकार सत्-चित् स्वरूप होता हुआ भी अमृत्व व ज्ञान की कामना व साधन करता है, इसी प्रकार जीव आनन्द स्वरूप होता हुआ भी आनन्द की प्राप्ति का साधन कर सकता है। यदि जीव आनन्द स्वरूप न होता तो जीवन मे आनन्द का अधिकांश अनुभव क्यों करता ?

सारांश यह निकला कि जिस आत्मा का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है, वह न तो इनकी प्राप्ति की कामना ही करता है और न ही किसी प्रकार का साधन करता है। इच्छा व साधन तो मन-इन्द्रियों के ही द्वारा होते है और वह भी इसलिये कि इनको आत्मा की प्राप्ति का अज्ञान है। साधन से विवेक द्वारा बुद्धि, मन आदि को यह ज्ञान (बोध) हो जाय कि सारे सघात मे निश्चय, ज्ञान, सङ्कल्प, कर्मादि नाना प्रकार की चेष्टाएँ जिस ज्ञान व क्रिया शक्ति के द्वारा हो रही है, वे सारी शक्तियाँ सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा की ही है। यदि मन, इन्द्रियो से आत्मा भिन्न (अप्राप्य) होता तो उसी से सशक्त होकर इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के ज्ञान व कर्म कैसे हो सकते थे ? यह बात तो वैसी ही है जैसे कि चलता हुआ पंखा या प्रकाश करता हुआ बल्ब, क्रिया व प्रकाश की मूल कारण विद्युत शक्ति को अपने से भिन्न मानकर उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा व साधन करे।

अब दूसरे प्रकार के ईश्वर का विचार किया जाता है जो नाना प्रकार के विभिन्न सम्प्रदायो का अपना-अपना बनाया हुआ है। इन्ही कल्पित ईश्वरों के कारण नाना प्रकार के मतभेद, लड़ाई, झगडे, शास्त्रार्थ आदि संघर्ष हुआ करते है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, यहूदी, पारसी, सनातनी, समाजी, आस्तिक, नास्तिक कोई भी क्यो न हो,—इन लोगों का परस्पर जो मतभेद है, वह केवल बनावटी ईश्वरो के विषय मे है। सच्चे ईश्वर के विषय मे तो किसी का, किसी भी प्रकार से मतभेद हो ही नहीं सकता. क्योंकि वह सबके अनुभव मे आने वाला तत्व है, केवल विश्वास करने-भर की ही वस्तु नहीं है। जिस वस्तु का अस्तित्व होता है वह अवश्य ही अनुभव मे भी आया करती है और जो वस्तु अनुभव मे आती है, उसके ऊपर बिना किसी साधन के स्वयं ही विश्वास हो जाया करता है। बहुत-से ईश्वरवादी लोग कह दिया करते हैं कि ईश्वर अनुभव व मन का विषय ही नहीं है। कितनी अनर्गल बात है कि जो तत्व देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नता से रहित, मन-इन्द्रियादि का अन्तरात्मा है, मन के द्वारा संकल्प-विकल्प, बुद्धि के द्वारा निश्चय कर रहा है, आंखों के द्वारा देख और कानो के द्वारा सुन रहा है,—उसी को अनुभव और मन का अविषय बताया जाता है।

वह प्रत्येक इन्द्रिय को तत्तत् स्वभाव व गुण-कर्म के अनुसार ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति के द्वारा शक्तिशाली और गतिशील बना रहा है, फिर भी उसे अनुभव का विषय नही मानते तो इस बात का ज्ञान ही कैसे हुआ कि वह सबसे परे है? क्या मन-बुद्धि के बिना ही यह बात जानी गई कि वह सबसे परे है?

यदि उपरोक्त ईश्वरवादियो से प्रश्न किया जाय कि आपका ईश्वर कहाँ रहता है और जगत् के साथ उसका क्या सम्बन्ध है?—तो सारे-के-सारे बोल पड़ेगे कि वह तो सारे जगत् का निर्माता, धारण-पोषण करने वाला, सब पर शासन करने वाला और सर्वशक्तिमान् परमात्मा, गॉड, खुदा है जो अधिकतर वैकुण्ठ

या क्षीर-सागर या सातवें आसमान या शून्याकाश में रहता है और यदि अधिक छलांग लगाई तो कहेगे कि वह निराकार, व्यापक है।

अब नास्तिक महोदय आए और कहने लगे कि वह जो कुछ भी हो, इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। हम तो उसे देखना चाहते है। तब तो सारे कहने लगे कि वाह! वह तो मन-बुद्धि से सर्वथा अतीत है, किसी भी साधन का विषय ही नहीं है। वह कहीं देखने की वस्तु है? यदि देखना चाहते हो तो इतना-इतना जप-तप, भक्ति-योग आदि नाना प्रकार के साधन करो, तब उसे देखने के योग्य हो सकते हो!

यदि कोई हठ ही कर बैठे कि मैं तो उसे केवल देखना ही चाहता हूँ और सब बाते आप लोग स्वयं कर लेना, तब श्रीमान् जी कहने लग जायेगे कि यदि जगत्-पिता को जानना चाहते हो तो श्रुति-माता पर ही विश्वास करना होगा, क्योकि पिता को जानने के लिए माता जिसको भी अँगुली उठाकर कह दे, उसी को अपना पिता स्वीकार करना होता है। उसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि गर्भाधान के समय कोई बालक अपने पिता को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। परन्तु यह सारी युक्तियां तभी तक काम करती थीं जब तक कि संसार मे विज्ञान का चमत्कार नहीं था।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि माता ने चोरी से अपने विवाहित पति के अतिरिक्त किसी अन्य महानुभाव से गर्भाधान करवा लिया हो और लोक-लज्जा के भय से अपने विवाहित पति को ही लड़के का पिता कह रही हो,—तो क्या वास्तव मे वह उस लड़के का पिता हो सकता है?—कदापि नहीं। तब केवल

माता की बात पर ही क्यों विश्वास किया जाय ? क्या इस बात के लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं रहा ? विज्ञान ने तो इसका सर्वथा भंडाफोड़ यानी पर्दा फाश ही कर डाला है। मुझे एक प्रत्यक्ष घटना का ठीक-ठीक पता है।

एक सेठ जी (जिनका नाम व पता लिखना उचित न होगा) की दो स्त्रियाँ थीं। बडी स्त्री को जब एक मास का गर्भ हुआ तो उसे सेठ जी ने त्याग दिया। वह बेचारी अपने पिता के घर चली गई। वहां उचित समय पर उसके एक पुत्र हुआ। उसके पिता तथा अन्य सम्बन्धी मिलकर जिलाधीश के पास प्रार्थना-पत्र व डैपुटेशन लेकर पहुँचे और उस लड़के तथा उसकी माता के लिए खर्चा व हिस्सा दिलाने की प्रार्थना की।

कलक्टर साहब ने टेलीफोन से सेठ जी को बुलाया और कहा कि अपनी पत्नी तथा लड़के के लिये खर्चा बांधो या कुछ हिस्सा दो।

सेठ जी ने साफ इन्कार कर दिया कि यह हमारा लड़का ही नहीं है। अब क्या किया जाय ? यह तो सारा गुड़ गोबर हो गया। परन्तु वाह रे विज्ञान ! साहब ने आज्ञा दे दी कि लड़के व सेठ जी का डॉक्टरी परीक्षण होगा। निश्चित् समय पर वह लड़का, उसकी माता व सेठ जी उपस्थित हुए।

उस समय वहां कई यूरोपीय व भारतीय सिविल सर्जनों का कमीशन आया हुआ था। उन्होंने सेठ जी व उस लड़के का रक्त निकालकर प्रथम अलग-अलग किसी यन्त्र के द्वारा परीक्षा की, फिर मिलाकर और अन्त मे अग्नि में भी गरम करके परीक्षा की। तीनों परीक्षणों मे दोनों के जीवाणु परस्पर एक रूप मिले। वह सेठ जी का ही पुत्र सिद्ध हुआ। डॉक्टरो ने प्रमाण-

पत्र लिख कर दे दिया कि यह लडका सोलहो आने चौंसठ पैसे सेठ जी का ही है। विवश होकर सेठ जी को हिस्सा देना ही पड़ा।

इतना होने पर भी यह कहना कि केवल माता की बातों पर ही विश्वास करो, कोई महत्व नहीं रखता। आप लोग सोचिये कि जिस वस्तु का अस्तित्व होगा, भला उसका प्रत्यक्ष न होगा ? केवल शब्द-प्रमाण को ही क्यो प्रधानता दी जाय जब कि अनुभव की कसौटी विद्यमान् है ?

यहां एक और छोटा-सा दृष्टान्त देना उचित होगा। किसी व्यक्ति ने अपनी स्त्री को किसी दूसरे पुरुष के साथ व्यभिचार करते हुए देखा तो कहने लगा कि तुमने ऐसा अनुचित कर्म क्यों किया ? स्त्री ने साफ इनकार कर दिया कि मैंने कुछ भी नहीं किया। पति ने कहा कि मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखो से देखा है। स्त्री ने उत्तर दिया कि वाह ! आप अपनी छोटी-छोटी दो आँखों पर तो इतना विश्वास करते है, परन्तु मेरे इतने वड़े शरीर पर कोई विश्वास ही नहीं ?

यही दशा है केवल शब्द-प्रमाणवादी भगवद्भक्तो की ! वे कहते है कि ईश्वर को देखने व अनुभव करने की बात ही क्यों करते हो ? केवल शब्द-प्रमाण पर ही सन्तोष क्यो नही कर लेते ?

यह भी एक अटल नियम है कि कोई भी क्रियावान् या रूपवान् शरीरधारी ही कर्ता हो सकता है.—निराकार नही हो सकता। अच्छा, जिस समय जगत् के निर्माता निराकार ईश्वर ने जगत् की रचना प्रारम्भ की, उस समय वह कहां खडा या बैठा हुआ था अर्थात् जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व देश-काल या

या नही ? यदि था, तब तो वह भी जगत् के अन्तर्गत ही है,—फिर बनाया क्या ? यदि यह कहो कि देश-काल इत्यादि कोई भी तत्व नही था —तब जगत् के निर्माता ईश्वर ने कहाँ और किस समय जगत् को बनाया ?

यदि कोई यह कहे कि देश-काल सहित सारे जगत् को ईश्वर ने अपने संकल्प से एक ही काल मे स्वप्नवत् बना डाला तो जो मनुष्य थोड़ी-सी भी बुद्धि रखता होगा, वह भी इस बात को अवश्य सोचेगा कि विना मन के संकल्प नही हो सकता और मन भी शरीर के सम्बन्ध के विना संकल्प-विकल्प नही कर सकता। तो फिर निराकार ईश्वर ने स्थूल शरीर के सम्बन्ध के विना सकल्प कैसे किया ?

इस बात का ज्ञान ही कैसे हुआ कि ईश्वर ने ही जगत् का निर्माण किया है ? क्या जगत् को बनाते समय ईश्वर महोदय ने अपने अनुयायियो को परामर्श करने के लिये बुलाया था ? यदि यही नियम सर्वथा अनिवार्य है कि विना बनाये कोई वस्तु बनती ही नही, तब फिर प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर को किसने बनाया ? यदि कहो कि वह तो स्वयंभू है, तो फिर जिस प्रकार ईश्वर स्वयभू हो सकता है, उसी नियम के अनुसार जगत् भी स्वयंभू हो सकता है।

इतने से ही आप लोग समझ गये होंगे कि निराकार ईश्वर ने जगत् को कैसे बनाया ?

यहाँ एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। विभाजन से प्रथम एक बार लाहौर में ईसाइयो का सम्मेलन हो रहा था। मैं भी दो-चार सज्जनों के साथ वहाँ गया तो उस समय एक पादरी साहब का व्याख्यान हो रहा था और वह बोल

रहे थे कि ईश्वर ने सारे जगत् को छ दिन मे बनाकर कम्पलीट कर दिया। अन्त मे सातवें दिन सूर्य को बनाया, इसीलिए इस दिन का नाम सण्डे (रविवार) पड़ा। ईश्वर बरावर सात दिन से परिश्रम करते हुए थक गया था, इसलिए इस दिन उसने विश्राम किया था। तभी से हमारे यहां रविवार को छुट्टी मनाई जाती है। देखिये, हमारा मज़हब कैसा युक्तियुक्त और दार्शनिक है!

यह बात सुनकर मैंने अपने साथियो द्वारा ५ मिनट का समय लिया और वक्ता महोदय से प्रश्न किया कि ईश्वर ने छ दिन मे जगत् बनाने के पश्चात् ही सातवे दिन सूर्य को बनाया, तो फिर इस बात का पता कैसे चला कि जगत् छ दिन मे ही बना, जब कि सूर्य बना ही नहीं था? क्योकि रात्रि-दिन तो बिना सूर्य के हो नही सकते।

उपरोक्त बातो से ज्ञात होता है कि ईश्वर के विषय मे साम्प्रदायिक लोग बालको की भांति कैसी अनर्गल कल्पनाये करते रहते है।

अब रही बात जगत् के धारण, पोषण तथा शासन करने की! प्रश्न यह है कि क्या कोई भी निराकार तत्त्व, किसी रूपवान्, साकार एवं स्थूल पदार्थ को कभी भी, किसी भी प्रकार से धारण कर सकता है? यदि नही, तो निराकार ईश्वर ने स्थूल जगत् को कैसे धारण कर रखा है?

निराकारवादी फौरन ही बोल पडेगे 'हां, जिस प्रकार निराकार आकाश ने चारो भूतो सहित सारे जगत् को धारण किया हुआ है।" फिर तो ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नही, क्योकि इस काम को तो आकाश महोदय ने ही सम्हाल लिया है।

आकाश किसी भी वस्तु को धारण नही करता वरन् रहने या ठहरने के लिये अवकाश देता है। उपादान कारण (अधिष्ठान)

ही कार्य को धारण कर सकता है, अन्य-कोई भी नहीं,—जैसे भूषणों को स्वर्ण ही धारण कर सकता है, दूसरा कोई नही। इसलिये प्रकृति ने ही जगत् को धारण कर रखा है।

यदि कहो कि प्रकृति को किसने धारण किया है ? तो साथ ही यह भी प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर को किसने धारण किया है ? आप कहेंगे कि अजी, वह तो निराधार है ! तब क्या प्रकृति निराधार नहीं हो सकती ? यदि कहो कि नही,—वह तो जड़ है ! तो फिर चेतन कहाँ रहता है ?

यहाँ चेतन (वास्तविक ईश्वर) का निषेध नही किया जा रहा, केवल कपोल-कल्पित ईश्वर का विवेचन किया जा रहा है।

अब जग पालन-पोषण करने वाले जगत्-पिता को भी देखिये कि निर्दोष भेड़ो, बकरियो गौओ, भैंसो, मछलियों, मुर्गियों इत्यादि की कसाइयों द्वारा कैसी उत्तम रीति से किस प्रकार रक्षा करा रहा है ! इसी प्रकार सिंह इत्यादि हिंसक पशुओं से अन्य पशुओं और बाज इत्यादि पक्षियो से अन्य निर्दोष पक्षियों की कैसी दयालुता से रक्षा करवाता है। इसी प्रकार से भूख, बेकारी दुर्भिक्ष, महामारी या नाना प्रकार के रोगों से निर्धन, दीन, हीन, असहाय तथा गरीब आदि अपने परमप्रिय भक्तों की कैसी सुन्दर रक्षा करता है।

अब अन्त मे इस न्यायकारी ईश्वर का 'शासन-विधान' भी देख लें कि वह किस पद्धति से सारे जगत् का शासन करता है। किसी देश का शासन-कर्ता कोई राजा, बादशाह या और किसी प्रकार की 'सरकार' होती है तो वहाँ अनुशासन (डिस्सीप्लिन) अवश्य होता है। किन्तु इस जगत् में तो सब कुछ अनुशासन के विरुद्ध ही दिखाई पड़ता है। कहीं भूकम्प आता है तो नगर के नगर नष्ट-भ्रष्ट कर जाता है। खेती पकी खड़ी है, कटने वाली

है, – ओले बरसे और सब साफ कर गये। किसान बेचारे रोते-चिल्लाते और हाथ मलते ही रह गये।

कही वायु का तूफान सारे इलाके के मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्षों इत्यादि के ऊपर झाड़ू फेर जाता है। कही वर्षा इतने जोर से आई कि गाँव के गाँव बहा ले गई, तो कही चार-चार वर्ष तक पानी की बूँद भी नही पडी। क्या उपरोक्त देशो तथा अरब की मरुभूमि मे पानी छिडकने के लिए खुदाबन्द ताला की म्युनिसिपैलिटी मे पानी ही समाप्त हो जाया करता है? अभी-अभी भारत के विभाजन मे दोनो ओर के लाखो निर्दोप मनुष्य मारे गये तथा गुण्डो का बाल भी बांका न हुआ।

अब आप लोग उस योग्य स्वामी की शासन-पद्धति को भी समझ गए होगे। यदि कोई कहे कि रात्रि-दिन, सर्दी-गर्मी, बसन्त-वर्षा, जन्म-मृत्यु का नियमित होना तथा चन्द्र, बुध, मंगल आदि ग्रहो का परस्पर मे नियमबद्ध होकर सूर्य के चारो ओर चक्कर काटना क्या ईश्वरीय अनुशासन नही है? तो इसका उत्तर यह है कि ये सब तो प्राकृतिक, अनादि, अटल और स्वाभाविक नियम हैं। इसे आप ईश्वरीय विधान भी कह सकते है, किन्तु ईश्वर शक्ति-विशेष है, व्यक्ति विशेष नही कि जो किसी राजा या बादशाह की भांति किसी देश विशेप मे बैठकर शासन कर रहा हो।

उपरोक्त सभी विचारो का तात्पर्य यही है कि सत्-चित्-आनन्दस्वरूप सर्वशक्तिमान् ईश्वर को प्रकृति, जगत् व जीव से भिन्न न मानकर, इनसे अभिन्न, सभी मे पूर्ण, सब की सत्ता या सर्व-रूप समझे। तभी सर्वशक्तिमान् मनुष्यो (ईश्वर) द्वारा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एव सारे विश्व की उन्नति, प्रगति, विकास तथा अभ्युदय संभव हो सकता है।

# जगत् का स्वरूप

हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, आस्तिक-नास्तिक इत्यादि सब मतावलम्बियो के जितने भी दर्शन-शास्त्र हैं, वे सब कारण-कार्य सहित इस जगत् का निर्णय व विवेचन करने में ही लगे हुए हैं।

यह जगत् क्या है? इसे किसने बनाया? क्यों बनाया? इसका कारण क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है?— इत्यादि प्रश्नो का विचार विश्व के सभी विद्वान् हमेशा से करते आये हैं किन्तु अभी तक इस जगत् का यथार्थ निर्णय नही हो सका। इसकी वास्तविकता का यथार्थ निर्णय हो गया होता तो इसके स्वरूप व प्रकार के विषय में संसार मे जितने भी मत-भेद हैं, वे सभी समाप्त हो गये होते। जिस प्रकार सूर्य के अस्तित्व व स्वरूप मे किसी का कोई विशेष मतभेद नही है क्योकि वह सभी देश, समाज तथा मतावलम्बियो को एक जैसा ही अनुभव हो रहा है, इसी प्रकार जगत् भी सभी को एक जैसा अनुभव तो अवश्य हो रहा है, किन्तु इसे एक जैसा मानने मे बड़ा मतभेद देखने मे आ रहा है। गम्भीर दृष्टि से विचार करने मे यही ज्ञात होता है कि इसके अस्तित्व से तो कोई भी इनकार नही कर सकता, सारे मतभेद इसकी उत्पत्ति और अन्त के विषय में ही है।

दार्शनिको ने इस संसार की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से मानी

है, किन्तु किसी का भी मत अनुभव व तर्क की कसौटी पर पूरा नही उतरता। जब तक इसकी उत्पत्ति मानी जायगी, तब तक इसका ठीक-ठीक यथार्थ निर्णय कभी नही हो सकेगा। ईश्वर-वादी इसकी उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा हुई मानते हैं और अनीश्वर-वादी इसकी उत्पत्ति प्रकृति से हुई मानते है, किंतु अभी तक कोई भी दार्शनिक इस बात का उत्तर नही दे सका कि प्रथम बीज हुआ कि वृक्ष ? अर्थात् इन दोनो मे से कारण कौन है और कार्य कौन ? बाध्य होकर अन्त मे यही मानना पड़ता है कि दोनो परस्पर एक दूसरे के कारण-काय है। यदि ईश्वर व प्रकृति को जगत् का कारण माने तो समष्टि नाम-रूप क समूह को ही जगत् कहते है। समष्टि नाम-रूप को समाप्त कर दिया जाय तो ईश्वर एवं प्रकृति,—ये दोनो नाम तथा इन दोनो का कोई-न-कोई माना हुआ रूप ही शेष नही रहता।

तात्पर्य यह है कि जगत् के कारण जिन ईश्वर व प्रकृति की हम मन व बुद्धि के द्वारा कल्पना करते है, वे मन एवं बुद्धि की ही उपज है और मन एव बुद्धि जगत् का ही एक अशमात्र है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर व जगत् मे कौन कारण और कौन कार्य है ? इस बात का कोई भी दार्शनिक सन्तोषजनक निर्णय नही कर सकता। इससे बाध्य होकर यही मानना पडता है कि यह जगत् प्रवाह रूप से अनादि है। ऐसा मानने से ही इस जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सब मतभेद समाप्त हो सकते है।

कुछ महानुभाव इस जगत् की उत्पत्ति इस प्रकार से मानते है कि यह पृथिवी सूर्य से भिन्न होकर कालान्तर मे शीतल होती गई और इस पर क्रमशः स्थावर-जगम रूप सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। तब यह प्रश्न आ जाता है कि सूर्य से पृथिवी को पृथक्

होते किसने देखा ? किसी मनुष्य ने अथवा ईश्वर ने ? यदि यह कहें कि अवश्य ही इन दोनों में से किसी ने सूर्य से पृथिवी को पृथक् होते देखा होगा, तो फिर वही पहिले वाला प्रश्न पुन: उपस्थित हो जायगा कि मनुष्य व ईश्वर दोनों तो समष्टि नाम-रूप के अन्तर्गत ही हैं और नाम-रूप की समष्टि को ही जगत् कहते हैं, तो फिर किसी प्राणी का प्रादुर्भाव अर्थात् किसी भी प्रकार की सृष्टि होने से पूर्व पृथिवी को सूर्य से पृथक् होते किसने देखा और दीखने वाली सृष्टि विना पृथिवी के कैसे हो गई ? सूर्य की उष्णता पाँच करोड डिग्री मानी जाती है। उसमें से पृथक् हुआ भाग भस्म के अतिरिक्त समुद्र एवं वनस्पतियुक्त सृष्टि के योग्य कैसे हो सकता है ? इसलिये इस जगत् को कारण-कार्य से रहित अनादि धारा-प्रवाह ही मानना पड़ेगा।

अब 'अनादि' शब्द के विषय में कुछ विचार किया जाता है। अन्+आदि=अनादि अर्थात् जिसका आदि, उत्पत्ति, आरम्भ न हो, उसी को अनादि कह सकते हैं। समष्टि नाम-रूप का आदि-अन्त नहीं है। जिस प्रकार कुछ मनुष्य तो जन्मते व मरते देखने में आते हैं, किन्तु एक ही काल में संसार के सारे मनुष्य न जन्म ले सकते हैं और न मृत्यु को ही प्राप्त हो सकते हैं। किसी वस्तु का प्रादुर्भाव होने से पूर्व उसका उपादान कारण पहिले से ही विद्यमान् रहता है तथा नष्ट हो जाने पर वह वस्तु फिर अपने उस कारण में ही लय हो जाया करती है। अत: किसी भी वस्तु का समष्टि व कारण स्वरूप से नष्ट नहीं हुआ करता। कारण का कार्य-रूप हो जाना ही वस्तु का जन्म कहलाता है और उस कार्य के कारण रूप हो जाने को ही उस की मृत्यु या प्रलय कहा जाता है। उत्पत्ति में कहीं से कोई नई वस्तु नहीं

आ जाती तथा मृत्यु मे कही चली नही जाती, प्रत्येक वस्तु का रूपान्तर मात्र होता रहता है।

इससे सिद्ध हुआ कि समष्टि रूप से जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश नही होता, क्योंकि जगत् का स्वरूप अर्थात् कारण 'सत्' है। किसी भी वस्तु के रूप एवं स्वरूप मे बडा अन्तर है। ऊपरी बनावट को नाम-रूप कहते है तथा उसी वस्तु की सत्ता को स्वरूप (अपना निजी रूप) कहते है, जिसे वस्तु का 'कारण' भी कहा जा सकता है।

आइये, देखे कि इस जगत् का वास्तविक स्वरूप यानी कारण क्या है ?

जगत् के प्रत्येक पदार्थ के ऊपर एक परदा होता है जिसको हटा देने से उसके स्वरूप अर्थात् कारण का प्रत्यक्ष हुआ करता है। उसी को वस्तु की सत्ता भी कह सकते है। किसी भी वस्तु के नाम-रूप अर्थात् बनावट को पृथक् कर लेने पर उसका कारण या स्वरूप ही शेष रह जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक भूषण की ऊपरी बनावट (नाम-रूप) को हटा देने पर, उसी भूषण के स्वरूप या कारण भूषण को व्यवहार मे लाते रहने पर भी उसके आदि, अन्त और मध्य मे सदा स्वर्ण ही विद्यमान् रहता है। इसी प्रकार से जगत् के प्रत्येक पदार्थ के ऊपरी पर्दे को 'नाम-रूप' कहते है। इसको हटा देने पर उस वस्तु का स्वरूप या कारण 'सत्-चित्-आनन्द' ही,—जगत् के रहते या व्यवहार करते हुए भी,—सत्ता रूप से त्रिकाल मे विद्यमान् रहता है जिसे ईश्वर, खुदा, ब्रह्म, प्रकृति, आत्मा, मोक्ष, निर्वाण पद इत्यादि नामो से कथन किया गया है।

प्रत्येक नाम-रूप यानी वस्तु की सिद्धि 'है' के द्वारा ही हुआ

करती है। 'है' शब्द के बिना किसी भी वस्तु का होना (अस्तित्व) सिद्ध ही नही हो सकता। यहाँ तक कि 'नास्ति' अर्थात् 'न होना' भी 'है' के द्वारा ही सिद्ध होता है, -यथा 'नहीं है'। यह 'है' शब्द 'सत्' का सूचक है। इस 'है' (सत्) को जाना किसने ? चित् ने अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही भाव तथा अभाव को भी जाना जाता है। अतः वह 'सत्' ही 'चित्' है। जहाँ 'सत्-चित्' ही होगा, वहाँ दुःख नही होगा। वहाँ क्या होगा ? केवल आनन्द ही शेष रहेगा। अतः जो 'सत्-चित्' है. वही आनन्द है। 'सत्-चित्-आनन्द'—ये तीनो सत्ताएँ एक ही वस्तु के स्वरूप है, जैसे द्रवत्व, शीतलत्व, मधुरत्व तीनो एक ही जल के स्वरूप है। इसी प्रकार इस जगत्, ईश्वर एवं प्रकृति का स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' है।

अन्तत यही तात्पर्य निकला कि जगत् का वास्तविक स्वरूप 'सत्-चित्-आनन्द' है तथा नाम-रूप ही सत्-चित्-आनन्द के ऊपर का वह पर्दा है जिसको जगत्, संसार, विश्व, जहान, दुनिया, वर्ल्ड इत्यादि नामो से कथन किया गया है और जो समष्टि नाम-रूप का ही समूह है।



# धर्म का स्वरूप

'धर्म' शब्द 'यण' प्रत्यय लगकर 'धृ' (धारणे) धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है 'धारण करना'। प्रत्येक शब्द के दो अर्थ हुआ करते है,—आधिभौतिक (स्थूल) तथा आध्यात्मिक (सूक्ष्म) अथवा शब्दार्थ और भावार्थ। इसी के अनुसार धर्म शब्द के भी दो अर्थ हो सकते है। धर्म शब्द का आधिभौतिक अर्थ यह हो सकता है कि जिस धर्म को धारण यानी पालन किया जाय, जैसे—सामाजिक नियम अथवा राष्ट्र का शासन-विधान या कानून। इसी सामाजिक नियम (शासन-विधान) को आधिभौतिक धर्म या असाधारण (विशेष) नियम भी कहा जा सकता है जो देश-काल की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। इसका विचार विशेष रूप से आगे किया जायगा। यहाँ धर्म के आध्यात्मिक अर्थ का विचार किया जा जाता है।

'धर्म' शब्द के विषय मे ऊपर कहा जा चुका है कि जिसे धारण (पालन) किया जाय, वह आधिभौतिक धर्म हुआ। इस का आध्यात्मिक अर्थ है—'जो सब नाम-रूपात्मक चराचर जगत् को धारण कर रहा है—वह धर्म।' प्राकृतिक नियम यानी सामान्य धर्म तो प्रत्येक देश, समाज, जाति व सम्प्रदाय के मनुष्यमात्र को एक जैसा पालन (धारण) करना ही पडता है। रात्रि-दिन, सर्दी-गर्मी, वर्षा-वसन्त, जन्म-मरण, खाना-पीना, मल-मूत्र

त्यागना, सुख-दुःख भोगना, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, सन्तानोत्पत्ति, देखना सुनना, बोलना-चालना, भूख-प्यास लगना, हँसना-रोना, सोना-जागना, काम करना, संकल्प-विकल्प करना, श्वास लेना इत्यादि ऐसे ही शारीरिक तथा मानसिक धर्म और कर्म है जिन्हें प्रत्येक शरीरधारी मात्र को पालन करना अनिवार्य है। इन्हें प्राकृतिक (स्वाभाविक) धर्म कहते है।

इसके अतिरिक्त अब स्वाभाविक धर्म की दूसरे प्रकार से व्याख्या की जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि जो सबको धारण करे, उसे धर्म कहते है। सारे चराचर जगत् को कौन धारण कर रहा है? वही,—सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म चेतन, सब का अपना अन्तरात्मा जिसे दूसरे शब्दो में ज्ञानशक्ति या क्रिया-शक्ति भी कह सकते हैं। दार्शनिक विद्वानो ने इसका पुरुष व प्रकृति, चेतन व जड़ शक्ति के रूप मे कथन किया है। यही सूक्ष्म रूप से निमित्त व उपादान कारण मे भी ओत-प्रोत है। ये दोनो स्वरूप से अभिन्न हैं, परन्तु कार्य रूप या क्रिया भेद से दोनो भिन्न-भिन्न है। इन्ही दोनो शक्तियो को अभेद रूप से अपना आत्मा अथवा सारे चराचर जगत् मे पूर्ण अनुभव करने में ही 'धर्म' के आध्यात्मिक अर्थ का तात्पर्य है जिसका अन्वेषण मनुष्य-जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए सबसे प्रथम इस बात का विचार करना परमावश्यक है कि धर्म का प्रादुर्भाव कहाँ से और क्यो होता है? इसी धर्म को रिलीजन, मार्ग, साधन, सम्प्रदाय, मजहब आदि भी कहा जा सकता है जिसका प्रादुर्भाव मनुष्य के जन्म से ही होता है।

संसार की अनित्यता, क्षणभंगुरता या प्राणिमात्र की मृत्यु इस धर्म के प्रादुर्भाव का कारण है। यह मनुष्य अपने जीवन-

पर्यन्त इस बात का अनुभव करता है कि यह सारा जगत् क्षण-क्षण मे बदलता जा रहा है तथा प्राणिमात्र नित्यंप्रति मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे है। यहा कुछ भी स्थायी, स्थिर देखने मे नही आ रहा है। क्या कोई स्थिति या तत्त्व या स्थाई सुख-शान्ति यानी सत्य भी है अथवा मरुभूमि मे जलाभास एव स्वप्न-सृष्टि-वत् सभी कुछ समाप्त ही होता जा रहा है? यह प्रश्न मनुष्य के मन मे स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का विचार ही धर्म की उत्पत्ति मे हेतु (कारण) है। इसलिए मानवमात्र के जन्म से ही धर्म का अन्वेषण प्रारम्भ किया जाता है।

माता के गर्भ से बाहर आते ही बच्चा रोने क्यो लगता है? यह एक बडे रहस्य का विषय है जिसका समझना परमावश्यक है। माता के गर्भ मे वह एक ऐसी विशेष स्थिति मे होता है जहाँ न अपना है न पराया, न अनुकूल है न प्रतिकूल, न राग है न द्वेष, न सुख है न दुःख, न बन्धन है न मोक्ष, न ज्ञान है न अज्ञान, न नाम है न रूप, न शोक है न मोह, न शान्ति है न अशान्ति। कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ विक्षिप्त व क्षुब्ध करने वाला किसी भी प्रकार का जगत-प्रपच नही है। वह तुरीयातीत या निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे स्थित था। ऐसी परम शान्त अवस्था को त्यागकर उदर से बाहर आते ही नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक जगत्-प्रपच को देखकर वह घवडा जाता है और भयभीत होकर रोने लगता है कि 'अब क्या होगा?' कोई पूर्ण योगी निर्विकल्प समाधि में स्थित हो और अचानक किसी कारण से उसे वलात् समाधि से उत्थित होकर बाहर निकलना पडे एवं वह बाहर निकलते ही देखे कि बड़ा ही कोला-हल मच रहा है तो वह योगी ऐसी परिस्थिति को सहसा सहन नही कर सकेगा। यही दशा प्रत्येक नवजात बालक की हुआ

करती है। वह परम शान्त अवस्था से नीचे गिरा दिया जाता है और अपनी खोई हुई स्थिति के लिए तड़पने तथा रोने लगता है।

मनुष्य यहीं से धर्म यानी खोई हुई शान्ति या आनन्द के साम्राज्य को खोजने लगता है जिसकी पूर्ति, सन्तुष्टि, सान्त्वना, एवं मनोरंजन के लिये जीवन-पर्यन्त नाना प्रकार के नये-नये उपचार किये जाते हैं। जब तक वह अपना खोया हुआ स्वत्व पूर्ण-रूपेण पुनः प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक किसी भी प्रकार से उसे सन्तोष नहीं होता। चाहे उसे सारे विश्व के सम्राट् का पद ही क्यों न प्राप्त हो जाय, फिर भी कमी पूरी नहीं होती। निरन्तर कमी की प्रतीति होती ही रहती है।

किसी चक्रवर्ती का राज्य छीन लिया जाय और उसके बदले में उसे एक गांव दे दिया जाय तो इससे भला कहीं उसे सन्तोष हो सकता है? यही दशा इस शरीरधारी सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की है। कहां तो असंख्य ब्रह्माण्डों का नायक, कारणरूप से पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रों का महासम्राट्, शासक और नियामक और कहाँ कार्यरूप से महा दीन, हीन, दुःखी, अशान्त, परिच्छिन्न, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील तथा नाना प्रकार के रोगों और मृत्यु से ग्रस्त यह साढ़े तीन हाथ की शरीररूपी जेल जिस पर पूर्णरूप से कोई अधिकार नहीं! यह नाना प्रकार के अनात्मक उपचार इस के लिए सन्तोषजनक व शान्तिप्रद भला कैसे हो सकते हैं? इसलिये यहीं से 'धर्म' प्रारम्भ होता है।

गर्भ से बाहर आते ही जीव अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन पर पुनः आरूढ़ होने के लिये चिन्तित रहता है जिसको वह भ्रम

से खोया हुआ मानता है। वास्तव में तो वह उस सिंहासन से तिल भर भी नही हटा है, अपने उसी कारण स्वरूप मे ही स्थित है। जैसे कोई सम्राट् अपने राज्य-सिंहासन पर विराजमान् होता हुआ भी निद्रा-दोष से भिखारीपने का अनुभव करता और बहुत व्याकुल एवं दुःखी होता है तो जब तक वह जागता नही, तव तक शोक-सन्ताप से भी मुक्त नही होता क्योकि जाग्रत अवस्था का भोजन स्वप्नावस्था की क्षुधा को कभी निवृत्त नही कर सकता। इसीलिये माता के दूध पिलाने, नाना प्रकार के खिलौने देने, नाना प्रकार की विद्या पढकर बहुत विद्वान् हो जाने, नाना प्रकार की छोटी से लेकर बडी से बड़ी नौकरी करने, नाना प्रकार के व्यापार इत्यादि साधनो के द्वारा बहुत धन एकत्रित करने, सुन्दर से सुन्दर रमणियो के साथ विवाह करके बाल-बच्चे पैदा करने, रहने के लिये नाना प्रकार के सुन्दर से सुन्दर विशाल भवन-निर्माण करने, अधिक-से-अधिक मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने, नाना प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने अथवा भौतिक ज्ञान आदि कोई भी उपचार करने से जीवनपर्यन्त इसका रोना वन्द नही होता। ये सब साधन तो राज्यच्युत सम्राट् को एक गॉव वापिस करने के बराबर ही है। पर वास्तव मे तो वह किंचिन्मात्र भी अपने स्वात्मानन्द के सिंहासन से च्युत ही नही हुआ है। इस विषय पर एक दृष्टान्त दिया जाता है।

किसी देश मे एक स्वतःप्रकाश नाम का राजा राज्य करता था। राजा वडा ही धर्मात्मा, विद्वान्, सत्सगी व प्रजापालक था। सभा के कार्य से निवृत्त होकर रात्रिको दस वजे के लगभग किसी-न-किसी विद्वान् पण्डित के द्वारा नित्यप्रति किसी-न-किसी शास्त्र की कथा सुना करता था। एक वार राजा के पास एक बड़े ही विद्वान् व ज्ञानी महात्मा आये और लगभग एक मास

ठहरे। महात्मा जी का वेदान्त विषय पर नित्यंप्रति उपदेश हुआ करता था। एक दिन महात्मा ने जगत् के स्वरूप की व्याख्या प्रारम्भ की कि यह जगत् स्वप्नवत अनहुआ ही विना किसी देश, काल एवं साधन के प्रतीत हो रहा है। यह वात सुनते ही राजा चौंक पडा और वोला कि आप यह असम्भव वात कैसे कह रहे हैं? जिस जगत् को सारे विश्व के करोडों मनुष्य हमेशा से सत्य मानते आ रहे हैं, जिसमे हर प्रकार की वस्तुयें, देश, काल व कारण-कार्य युक्त सव कुछ सत्य है, उसे आप झूठा कह रहे हैं? यह वात मेरी समझ मे नही आ रही।

महात्मा ने समझाने के वहुत उपाय किये कि स्वप्नावस्था की सारी सृष्टि कारण-कार्य व देश-काल सहित वस्तु रूप से सत्य ही प्रतीत तो होती है, परन्तु वास्तव मे वहाँ केवल एक स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त और कुछ भी नही होता। वह द्रष्टा ही अपने आपको सृष्टि के रूप मे देखता है और वही उस स्वप्न-जगत् मे कारण, कार्य, देश, काल, कर्म, फल, शत्रु, मित्र, जन्म, मरण, सुख, दु.ख, ज्ञान, अज्ञान, वन्धन, मोक्ष, जीव, ईश्वर, अपना, पराया इत्यादि नाना प्रकार के रूप धारण कर लेता है।

स्वप्नद्रष्टा स्वप्न मे यदि अपने आपको किसी नदी मे डूवता हुआ अनुभव कर रहा हो, रक्षा के लिये चिल्ला रहा हो और उसी समय कोई वहाँ जाकर यह कहने लगे कि भाई साहव, आप तो अपने घर मे अपने विस्तरे पर वडे आनन्द के साथ सोये हुए हैं। यह नदी, डूवना, डूवने वाला, यह शरीर और डूवने का यह कष्ट तथा सत्य वात समझाने वाला मैं, यह सारा प्रपच आपने एक ही क्षण मे विना किसी कारण व देश, काल के रच लिया है। इसलिये, जागो-जागो! देखो कि आप कौन हो और कहाँ हो? स्वप्नद्रष्टा इस वात को कदापि सत्य मानने के लिए तैयार

न होगा क्योंकि उसे डूबने का अनुभव प्रत्यक्ष हो रहा है। उसी समय यदि उसके पास कोई नौका लेकर जा पहुँचे और उसका हाथ पकड़ कर नौका में बिठाकर किनारे छोड़ देवे तो इस प्रकार के साधन से वह अपनी रक्षा मानता है। यह भी है तो स्वप्न ही, किन्तु ऐसी परिस्थिति उसके लिये प्रिय है। यदि उस डूबते हुए के ऊपर कोई पत्थरो से प्रहार करने लग जाय तो यद्यपि ऐसी परिस्थिति उसके लिये महाभयंकर है तथापि तत्क्षण ही वह अपने बिस्तरे पर अपने आपको जागा और सारे कष्टों से मुक्त हुआ अवश्य पायेगा।

इसी प्रकार, हे राजन्! मैं अभी कितना भी आपको समझाने का उपाय करूँ, पर प्रत्यक्ष प्रतीत होते हुए इस जगत् को जिसे आपने बिना देश-काल, कारण-कार्य के अनहुआ ही अपने संकल्प से रच लिया है, आप कदापि असत्य मानने के लिए तैयार नही होगे। यदि कोई रोचक या भयानक वाक्यो के द्वारा आपको नाना प्रकार के योग, जप, तप, ज्ञान, ध्यान, भक्ति इत्यादि साधन बतलाकर कहे कि इसके द्वारा आपका सारा कष्ट अवश्य निवृत्त हो जायगा, तो आप उसकी बात सच्ची मानकर अवश्य ही वैसा करना आरम्भ कर देगे। इन उपचारो से वास्तव मे आपका स्वप्न-जगत् तब तक निवृत्त नही होगा, जब तक कि आपके ऊपर वेदान्त के सदुपदेश महावाक्य रूपी पत्थरो की बौछार न होगी, जैसा कि मैं कर रहा हूँ।

इतना कहने पर भी राजा का संशय उसी प्रकार से बना ही रहा और वह यही कहता रहा कि मै जगत् को कभी-भी अपने मन की कल्पना मानने के लिए तैयार नही हू।

महात्मा ने अपने मन मे विचारा कि अब इसको और प्रकार से समझाऊँगा। इतने मे सीमा की ओर से एक दूत ने आकर

राजा को एक पत्र दिया। राजा ने उस पत्र को पढ़ा जिसमें लिखा हुआ था कि दूसरे देश का राजा अपनी सेना को राज्य की सीमा के निकट इकट्ठी कर रहा है, इसलिये आप को भी पहिले से ही अपना ठीक-ठीक प्रबन्ध रखना उचित है।

रात्रि के साढे ग्यारह बज चुके थे, इसलिए सभा विसर्जित कर दी गई। सब उठ-उठ कर अपने-अपने विश्राम-स्थान को चले गये। राजा भी अपने आनन्द-भवन मे जाकर पलंग पर लेटा। प्रथम तो महात्मा जी ने जो उपदेश किया था, उस पर विचार करता रहा। पश्चात् चिट्ठी वाले विषय पर विचार प्रारम्भ किया कि सीमा पर कहाँ-कहाँ की सेना भेजनी है। यही बात सोचते-सोचते कुछ नीद-सी आने लगी तो क्या देखता है कि दूसरे राजा ने बहुत बड़ा आक्रमण कर दिया है और वह बढता ही चला आ रहा है। वह इसके राज्य मे काफी अन्दर तक घुस आया है और इसकी सारी सेना मार खाकर पीछे हटती आ रही है।

जब इसको इस बात का पता चला तो जहाँ-जहाँ जितनी सेना बची हुई थी, सबको एकत्रित करके इसने भी उसी युद्ध-क्षेत्र पर धावा बोल दिया और जाकर शत्रु के मुकाबिले मे भिड़ गया। फिर क्या था, रणक्षेत्र की चण्डी नृत्य करने लगी तथा लोथो (मृतक शरीरो) का ढेर लग गया। रक्त की नदी बह निकली, फिर भी शत्रु का पैर पीछे न हटा, आगे ही आगे बढ़ता गया। तब इस राजा ने बहुत जोर से सिंहनाद करके अपनी सेना को ललकारा—'खबरदार! पीछे कदम मत हटाओ, आगे बढो, आगे बढो!'

निरन्तर चार दिन तक बड़ा भयंकर युद्ध होता रहा। अन्त मे इस राजा की सेना बहुत मारी गई और शेष सिपाही घायल

होकर भागने लगे। इतने में शत्रु की ओर से एक तीर ऐसा सनसनाता हुआ आया कि स्वतःप्रकाश की छाती को आर-पार कर गया और वह मूर्छित होकर नीचे गिर गया। रात्रि के लगभग बारह बजे राजा की मूर्छा खुली तो उस समय युद्ध समाप्त हो चुका था। राजा ने फौरन उठकर अपने सारे वस्त्रों को उतार कर फेंक दिया और किसी सिपाही की धोती बांध ली। घाव के ऊपर भी एक धोती बांधकर वह वहां से भागा। रात्रि भर चलते-चलते कुछ प्रकाश होना प्रारम्भ होने लगा। पक्षियों के बोलने के शब्द भी सुनाई देने लगे। अब राजा की जान में जान आई।

कुछ आगे राजा को एक वाटिका दीख पड़ी। राजा ने बाग के भीतर प्रवेश किया तो आगे जाकर देखा कि एक मन्दिर है और उसके सामने एक चत्वर (चबूतरा) बना हुआ है। उसके निकट ही एक कूप है और चबूतरे के ऊपर एक चटाई बिछी हुई है जिस पर बैठे हुए एक महात्मा कोई पुस्तक विचार रहे हैं। जब निकट जाकर देखा तो वह महात्मा अपने परिचित ही निकले। राजा प्रसन्न हुआ कि मुझे यहाँ कुछ आराम मिलेगा। राजा ने पास जाकर महात्मा को नमस्कार किया और महात्मा ने उसे प्रेम से बैठाया। महात्मा जी मुस्कराकर बोले—'सुनाओ राजन्! आज तो आपने अच्छा स्वाँग धारण किया है। आइये, आपको कुछ ज्ञान, ध्यान की बातें सुनाऊँ।'

राजा ने कहा—'महाराज! आप स्वांग कहते हैं? आज संसार में मुझसे बढ़कर दुखिया कौन होगा? मेरा सारा राज्य गया, सारे कुटुम्ब-परिवार और विभूति का नाश हो गया, सारी सेना मारी गई, मेरा शरीर घावों से छलनी हो रहा है। एक

सप्ताह से न कुछ खाया, न कुछ पिया, मारे भूख के तड़प रहा हूँ। ज्ञान-ध्यान सुनाने के पहले खाने को दो रोटी दीजिये।'

महात्मा जी ये सारी बाते सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े और कहने लगे - 'हे राजन्! न तो तेरा राज्य किसी ने हरण किया है और न तेरी सेना ही मारी गई है। न तेरे शरीर में कही कोई घाव है और न तुझे भूख-प्यास है। तूने बिना ही किसी देश, काल व कारण के क्षण भर मे अपने संकल्प से यह सब एक नाटकमात्र रच लिया है। तू इस समय अपने आनन्द-भवन मे पलग पर बडे सुखपूर्वक सोया हुआ यह स्वप्न देख रहा है।'

महात्मा की ऐसी बाते सुनकर राजा बडा ही दुःखी हुआ और कहने लगा—'हे महात्मन्! क्या भूल गये कि जिस समय आप हमारे यहाँ एक मास ठहरे थे, मैंने कितनी सेवा की थी! आज हमारे ऊपर आपत्ति आ गई है तो ज्ञान की बातें सुना रहे है तथा जिन बातो को मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ, उन्हे मन की कल्पना बताकर मेरा उपहास कर रहे हैं? एक महात्मा के लिए इतनी निर्दयता उचित नही। बस, अब जल्दी कीजिये। अब मुझसे बोला नही जाता। भूख के मारे प्राण निकल रहे है,—शीघ्र ही दो रोटी दे दीजिये।'

महात्मा जी यह सुनकर मुस्कराकर फिर बोले 'जो कुछ मैं कह रहा हूँ, बिल्कुल सत्य ही कह रहा हूँ, परन्तु आप जब तक जागेगे नही, तब तक मेरी बात कभी भी सत्य नही मानेंगे।'

राजा ने कहा—'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि आप बैठे है और मुझसे बातें कर रहे हैं। यह मन्दिर, बाग, कुआँ इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ, तब मैं आपकी बात सत्य कैसे मान

लूँ कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ? यह तो आँख मे नितान्त धूल झोंकना है।'

महात्मा ने कहा—'मैं बिल्कुल यथार्थ कह रहा हूँ कि न मै हूं और न बाग, कुआँ, मन्दिर और पुस्तक है! आपका यह भूखा-प्यासा शरीर इत्यादि जो कुछ भी आप देख रहे है,—यह सब केवल आपके मन की कल्पनामात्र ही है, इसमे किंचित् भी सन्देह नही है।'

इतना सुनते ही राजा को क्रोध आ गया। उसने झट उठ कर महात्मा की पुस्तक पकड ली और कहने लगा कि वेदान्त के पढने वाले सब के सब पागल होते है। इन लोगो की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। ला, मै तेरी इस पुस्तक को अभी इसी कुएँ मे डालता हूँ जिससे तू फिर किसी को ऐसा धोखा न दे सके।'—ऐसा कह कर राजा पुस्तक को जोर से खीचने लगा।

महात्मा जी मुस्कराकर अन्त में फिर बोले—'अरे मूर्ख! तू अभी मेरी बातो को झूठी ही मान रहा है, परन्तु जागकर पश्चात्ताप करेगा और सोचेगा कि वास्तव मे जैसे यह स्वप्न-सृष्टि मिथ्या है, केवल इसका द्रष्टा ही सत्य है, शेष सब प्रपंच कल्पनामात्र है, वैसे ही जाग्रत अवस्था की सृष्टि भी केवल द्रष्टा अर्थात् चेतन रूप ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नही है।'

इतना कह कर महात्मा ने पुस्तक छोड दी। राजा ज्यों ही झटका खाकर पीछे गिरा कि सिर मे चोट लगते ही चौंक पड़ा तो क्या देखता है कि न तो कोई महात्मा है, न कही कोई बाग, कुआं या मन्दिर ही है और न भूखा-प्यासा घावयुक्त वह शरीर ही है कि जिसके कारण वह नाना प्रकार के दु:ख का अनुभव कर रहा था। करवट लेते समय सिर पलंग के पाये के साथ

टकरा गया था, इसलिये नींद खुल गई। घड़ी पर दृष्टि गई तो देखा कि अभी लेटे हुए केवल आधा घंटा ही हुआ था।

राजा उठकर बैठ गया और आश्चर्य के समुद्र में डूब गया। कुछ देर के पश्चात् सोचने लगा—'ओह! बड़े आश्चर्य की बात है कि मैंने आधे घंटे मे ही क्या-क्या अनुभव कर लिया? क्या यही दशा इस जाग्रत संसार की भी है? स्वप्नावस्था मे तो मैं यह बात मानने के लिये किंचित् मात्र भी तैयार नही था कि उस समय का प्रत्यक्ष सत्य अनुभव होने वाला जगत् केवल कल्पना या स्वप्नमात्र ही था। इस बात का यथार्थ बोध तो जागने पर ही हुआ कि वह केवल कल्पना मात्र ही था। यही दशा इस जाग्रत-जगत् की भी है जिसे हम लोग सत्य मानकर नाना प्रकार के अनर्थ करने लग जाते है।'

जिसके द्वारा यह मनुष्य भवसागर से नौकावत् पार हो जाया करता है, उसी का नाम वास्तविक धर्म है। धर्म नाना प्रकार के दुःखो, विक्षेपो व चिन्ताओ से पार करने के लिये ही हुआ करता है, आयु भर मुर्दा की भांति सिर पर रखकर घसीटने के लिये नही हुआ करता। जिन कपोल-कल्पित धर्मों मे नौका जैसी शक्ति नही है, वे केवल भार रूप ही है। उन्हे तिलांजलि दे देनी चाहिये।

प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ कि धर्म (नियम) दो प्रकार के होते है। उनमे से एक की व्याख्या हो चुकी जिसे 'प्राकृतिक धर्म' भी कहा गया है। अब दूसरे सामाजिक धर्म की व्याख्या की जाती है।

सामाजिक धर्म प्रत्येक देश, समाज, जाति, सम्प्रदाय या वर्णाश्रम इत्यादि मे विभिन्न है। नाना प्रकार के मतभेद, कलह, विद्वेष, संघर्ष और रक्तपात पाशविक प्रवृत्ति अथवा मूर्खतावश ही

हुआ करते है। वास्तव मे विचार करके देखा जाय तो किसी विशेष देश, काल अथवा परिस्थिति के अनुसार ही समाज के संगठन, नियमन, अनुशासन तथा शान्ति-स्थापन के लिए विद्वान् एवं बुद्धिमान् लोग आपस मे मिलजुलकर सामाजिक धर्म की स्थापना कर लिया करते है जो देश-काल की परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। जो लोग ऐसे मनुष्यकृत कृत्रिम नियम को स्थायी या ईश्वरीय धर्म मानकर परस्पर में नाना प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध किया करते है, उन लोगो को केवल धर्म-द्रोही ही कहा जा सकता है, धर्मात्मा या मनुष्य नही।

कोई भी धर्मावलम्बी अपने धर्माचार्यों की पुस्तको को प्रमाण रूप मानते हुए भी प्रायः उन्हे व्यवहार मे नही लाता। किसी भी धर्मग्रन्थ में यह बात कही नही लिखी कि निर्दोष प्राणियो के ऊपर नाना प्रकार के अत्याचार या अन्याय और एक-दूसरे के शत्रु बने रह कर परस्पर नाना प्रकार के लडाई-झगडे किये जाये। यदि कही इस प्रकार के अनर्थ करने के लिये लिखा हुआ भी हो तो समझलो कि वह कोई धर्म नही है, किसी स्वार्थी नराधम का लेखमात्र है।



# कर्म का स्वरूप

मन, इन्द्रिय एवं प्राणों के द्वारा जो कुछ भी व्यापार हो रहा है, उसी को 'कर्म' कहते हैं अर्थात् प्राणिमात्र के शरीरों में विद्यमान् वह क्रियाशक्ति जिसे विशेष चैतन्य भी कह सकते हैं और जो सारे जड़वर्ग को गतिशील बना रही है। कोई भी एञ्जिन या मशीन जब क्रिया करती है यानी जब उसमें गति का संचार होता है तो वहाँ दो प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता होती है, एक तो उसमें गति उत्पन्न करने वाली क्रिया शक्ति और दूसरी उस गति और मशीन का नियन्त्रण करने वाली चेतना शक्ति। अभिप्राय यह है कि क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति दोनों के द्वारा ही हम लोगों के शरीर, मन, इन्द्रियां अथवा सारा जड-वर्ग विभिन्न चेष्टाएँ कर रहा है।

उदाहरणार्थ एक रेल के एञ्जिन को लीजिये। उसकी स्टीम ही उसे गतिशील बनाने वाली क्रियाशक्ति है और उस शक्ति का नियन्त्रण करने वाला ड्राइवर उसकी ज्ञानशक्ति है। परन्तु जब एञ्जिन में स्टीम समाप्त हो जाती है, तब ड्राइवर के रहते हुए भी एञ्जिन न तो चल सकता है और न बोल ही सकता है,—बिलकुल गतिहीन हो जाता है। इसे एञ्जिन की 'मृत्यु' भी कह सकते हैं। ठीक इसी प्रकार हम लोगों के शरीर एञ्जिन के तुल्य हैं, श्वास या प्राण 'स्टीम' के तुल्य हैं तथा ज्ञानशक्ति (चेतन आत्मा) ड्राइवर के तुल्य है। जिस समय इस शरीर की मृत्यु हो जाती है

तो केवल इस का श्वास (प्राण) रूपी स्टीम ही समाप्त होता है। चेतन आत्मा तो ड्राइवरवत् ज्यो-का-त्यो विद्यमान् रहता है। वह कही भी आता-जाता नही, जैसे कि घट के टूट जाने पर वहाँ का आकाश कही नही आता-जाता और न उसका कुछ बनता-बिगडता ही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सविशेष चेतन या क्रियाशक्ति को कर्म कहते है तथा निर्विशेष चेतन या ज्ञानशक्ति को आत्मा कहते है। वास्तव मे ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए जो कर्म को जड कहते है, वे स्वयं जड़ है। यहाँ तक कि मन व बुद्धि के द्वारा जो आत्मानुसन्धान, ब्रह्मविचार या ध्यान करते हैं, वह भी 'कर्म' ही है। सुख-दु:ख व हानि-लाभ भी मनुष्य के कर्म के ही परिणाम है। कर्म की सफलता व असफलता मे एक विशेष हेतु उसी कर्म मे गर्भित रहता है। जब हम किसी भी प्रकार के कर्म को आरम्भ करते है, तब स्थूल कर्मेन्द्रियो के द्वारा कर्म आरम्भ होने के पूर्व मन व बुद्धि मे उस कर्म का विचार उत्पन्न होता है, जैसे कि किसी भवन को स्थूल रूप मे खडा करने से प्रथम कागज के ऊपर सूक्ष्म रूप में उसका चित्र अङ्कित किया जाता है। तत्पश्चात् उसी नक्शे के अनुसार वह बिल्डिङ्ग निर्माण की जाती है।

जब से किसी कर्म का बीज अन्तःकरण मे बोया जाता है अर्थात् उसे करने का विचार किया जाता है, उस समय से लेकर कार्य की समाप्ति-पर्यन्त हमारे अन्तःकरण मे दो प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष या क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। एक वृत्ति तो कहती है 'कार्य मे सफलता होगी' और दूसरी कहती है—'नही होगी।' अब इनमे यदि सफलता की वृत्ति की शक्ति ज्यादा बढ़ गई तो सफलता वाली वृत्ति असफलता की वृत्ति को

पी जायगी और कार्य अवश्यमेव सफल हो जायगा। पर यदि असफलता की वृत्ति का बल अधिक हो गया तो वह सफलता की वृत्ति को समाप्त कर देगी और वह कर्म परिणाम-शून्य होगा। उदाहरणार्थ जब लोग रस्सा-खिचाई करते हैं, तब दोनो ओर बराबर ही मनुष्य लगते है। जिस पार्टी मे शक्ति अधिक होती है, वह विरोधी पार्टी को अपनी ओर खीच लाती है। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य के लिये ऐसा अटल, पूर्ण एवं दृढ निश्चय हो जाय कि फिर उसमे किञ्चित् मात्र भी संशयांकुर न निकलने पावे, उसी की सिद्धि होती है। विरोधी वृत्ति के दमन का नाम ही अभ्यास (साधन) है। इस साधन को ही दूसरे शब्दो मे 'कर्म' भी कह सकते है।

कर्म तीन प्रकार का कथन किया गया है—कर्म, विकर्म और अकर्म। कर्म उसे कहते है कि जिसका परिणाम 'सुख' हो अर्थात् शुभकर्म। विकर्म उसे कहते है कि जिसका परिणाम दुःख हो अर्थात् निषिद्ध (पाप) कर्म। अकर्म उसे कहते हैं जो किसी भी प्रकार के फल (बन्धन) से रहित हो, जैसे कि तत्त्ववेत्ता का कर्म। फलासक्ति एवं कर्त्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित होने से ही 'अकर्म' होता है।

उपरोक्त जो कर्म तथा विकर्म का स्वरूप बतलाया गया है, उसमे सबसे अधिक विचार करने की बात यह है कि किसी भी कर्म मे,—चाहे वह स्वरूप से पाप हो या पुण्य, शुभ हो या अशुभ,—स्वयं किसी प्रकार के सुख व दुःख रूपी फल उत्पन्न करने की शक्ति नही है। शास्त्रकारो ने जिन कर्मों का धर्म (पुण्य) नाम से कथन किया है, देश-काल की परिस्थिति एवं कर्त्ता के अनुसार वही पुण्य कर्म पाप भी बन जाया करते हैं और

जिसे पाप या अधर्म रूप कथन किया है, वही देश-काल की परिस्थिति एवं कर्त्ता के अनुसार पुण्य (धर्म) हो जाया करता है।

अब इसका अन्य प्रकार से विचार किया जाता है। एक गौ के कीड़े पड़ गये है। यदि गाय की रक्षा की जाती है तो हजारों कीड़े मरते है और यदि कीड़ों की रक्षा की जाती है तो गाय मरती है। इधर वेद एवं बुद्ध भगवान् यह आज्ञा देते है—'अहिंसा परमो धर्मः'—अर्थात् मन, वाणी व शरीर के द्वारा किसी की हिंसा नही करनी या किसी को भी पीड़ा नही पहुँचानी चाहिये क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म या पुण्य है। ऐसी परिस्थिति मे क्या करना चाहिये ? ऐसी समस्या आ जाने पर कर्म आरम्भ करने से पूर्व परिणाम देखना चाहिये कि देश या समाज को गाय की रक्षा होने से लाभ पहुंचता है अथवा कीडों की रक्षा होने से।

विचार करने से ज्ञात होगा कि यदि एक गाय की रक्षा होती है तो उससे सम्पूर्ण जीवन मे कितनी सन्तति होगी ? कम से कम पाँच बच्चे भी मान लिये जायँ और उनमे से यदि तीन बछिया (मादा) मान ली जायँ, तो फिर उन तीन गायो की सन्तति आगे न जाने कितनी होगी ? फिर सन्तति की सन्तति और कितनी होगी ! इस प्रकार सोचने या ध्यान देने से पता लगता है कि एक ही गौ कालान्तर मे लाखो गाय एवं बैलो की जननी बन सकती है तथा उससे देश को बहुत लाभ पहुँच सकता है। बैलो के द्वारा ही खेती होती है। खेती से नाना प्रकार के अन्न, फल, शाक, भाजी, रुई इत्यादि का उत्पादन होता है तथा इन्ही खाद्य पदार्थों एवं वस्त्रो के ऊपर मानवमात्र का जीवन निर्भर है। साथ ही उनके घी-दूध से कितना लाभ पहुचता है ! उनके गोबर से जलाने के लिये कण्डे व खेत मे डालने के लिए

खाद इत्यादि कितनी होगी ? मरने पर चमड़ा कितना उपयोगी हो जाता है ? उसकी हड्डियों की खाद एवं फॉसफोरस बनता है जो कि बहुत ही उपयोगी वस्तुएँ हैं। इतने विचार से यह बात स्पष्ट हो गई कि देश व समाज के लिये गौ ही परम उपयोगी वस्तु है।

अब उन कीडो की ओर ध्यान दीजिये कि उनकी रक्षा करने से कितनी हानि होगी ? उन से किसी को किंचित् मात्र भी कोई लाभ नही होगा। इस प्रकार परिस्थिति व कर्म के परिणाम को देखते हुए बिल्कुल निस्संकोच होकर, धर्म व पुण्य मानते हुए, गौ की रक्षा के लिए हजारो कीडो का विनाश कर देना चाहिये।

अब यहां पर वेद व महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त के विरुद्ध हिंसात्मक महान् पाप ही धर्मरूप महान् पुण्य बन रहा है। हजारो यज्ञो के करने से भी जो पुण्य नही मिल सकता, वही यहाँ हजारो जीवों (कीड़ो) का वध करने से प्राप्त हो रहा है। ऐसी परिस्थिति मे अशुभ (पाप) कर्म ही शुभ (पुण्य) बन रहा है।

जब मैं स्कूल मे पढ़ता था, तब समाचार-पत्रो मे एक बड़ी विचित्र घटना छपी थी। उसे यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

इलाहाबाद के निकट दस मील की दूरी पर एक ग्राम है। वहां के एक सूबेदार मेजर इलाहाबाद शहर से पैन्शन लेकर घर वापिस जा रहे थे। मार्ग मे लगभग बीस कसाई दो सौ गौएँ लिए जा रहे थे। सूबेदार ने पूछा कि तुम कौन हो और इन गौओं को कहाँ लिये जा रहे हो ? उन लोगो ने उत्तर दिया कि हम लोग कसाई है और इन गौओ को बूचड़खाने ले जा रहे हैं। सूबेदार ने कहा कि आप लोग तो व्यापारी हैं, आप को तो केवल मुनाफे से ही तात्पर्य है, इसलिये जितना भी मुनाफा उचित

समझे, वह ले लें और इन गौओं को छोड़ दें। घर पर चलिये, अभी चुकता कर देता हूं। कसाइयों ने हठ करके कहा कि चाहे आप चौगुना मूल्य दे तो भी हम इन गायों को नही छोड़ेंगे।

सूबेदार साहब ने बहुत समझाया-बुझाया। जब सारे उपाय व्यर्थ गये तब अन्त मे वे अपने मन में सोचने लगे कि इन कसाइयो का तो यही व्यापार है। यदि ये जीते रहे तो इनके द्वारा लाखों गौओं, भेडों व बकरियों की हिसा होगी। इन कसाइयों से आगे लाखो-करोडों सन्तति होगी और उनके द्वारा भी भविष्य मे असख्य निर्दोष पशुओ का बध होगा। इस प्रकार देश व समाज के लिए इन कसाइयो का जीवित रहना हानि के अतिरिक्त किसी भी लाभ का नही. इसलिए इन लोगो का बध कर देना ही अति उत्तम होगा। ऐसा निश्चय करके उस ने रिवाल्वर निकालकर बीसो कसाइयो को शूट कर दिया तथा गौओ को हाँक कर अपने गाँव मे ले गया। वहाँ जिस-जिस ने ली, उन्हें-उन्हे गौ देकर शेष गौओ को गौशाला मे पहुचा दिया और उनको पालने के लिए रुपये भी दिए।

पुलिस को पता लगा तो सूबेदार साहब गिरफ्तार कर लिए गये और संशन मे केस चल पडा। उन्होने स्पष्ट स्वीकार कर लिया और कहा कि मैं क्षत्रिय हूँ। किसी प्राणी पर अन्याय (जुल्म) हो रहा हो तो उसकी रक्षा करना मेरा परम धर्म है। मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। अब शासन-विधान के अनुसार आपका जो कर्तव्य हो, उसे आप पालन कीजिये। उन्हे मृत्यु-दण्ड दिया गया।

उन्हें फाँसी के तख्ते पर खडा किया गया, गले मे फासी की डोरी लगाई गई और नीचे से तख्ता खीचा गया। परन्तु

सूबेदार महोदय का गला बिल्कुल खाली का खाली रहा। दूसरी बार बड़ी सावधानी से ठीक-ठाक करके डोरी गले में लगाई गई और तख्ता नीचे से खींच लिया गया, पर इस बार भी पूर्ववत् वही अद्‌भुत दृश्य रहा! फिर तीसरी बार फांसी लगाई गई, परन्तु इस बार तो डोरी ही टूट गई।

ऐसी अपूर्व घटना को देखकर जज एवं डाक्टर साहब की बुद्धि चिन्ता-सागर में डुबकी लगाने लगी और बाध्य होकर सूबेदार महोदय को मृत्यु-दण्ड से मुक्त करना पड़ा। यह घटना सन् १९११ की है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि किस प्रकार पाप कर्म भी पुण्य हो जाता है।

अब यह बात बतलाता हूँ कि शुभ कर्म भी अशुभ (पाप) कर्म कैसे बन जाया करता है। दान देना, सत्य भाषण या किसी पर दया करना इत्यादि स्वरूप से तो पुण्य अवश्य है, किन्तु परिस्थिति के अनुसार इनमे भी पाप गर्भित रहता है। किसी व्यभिचारी, शराबी मांसाहारी देश एवं समाज के घातक, जनता से द्रव्य एकत्रित करके अग्नि मे फूंकने वाले, अनेक प्रकार के पक्षपातपूर्ण एवं साम्प्रदायिक प्रचार करने वाले, पारस्परिक फूट, लड़ाई-झगडा कराने वाले अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ युक्त, हिंसक इत्यादि को देने से दान जैसा शुभ कर्म भी महान् अनर्थ एवं पाप उपस्थित कर देता है।

किसी वन मे एक महात्मा निवास करते थे। वे बडे ही शान्तात्मा तथा सिद्ध पुरुष थे। एक दिन एक वधिक उन महात्मा की कुटिया पर जा निकला और कहने लगा कि मुझे भूख लगी है; कुछ खाने को दो। महात्मा ने उसे खाने को दे दिया। वहाँ एक रुपया पड़ा था। जाते समय महात्मा ने व्याध से कहा कि इस रुपये को भी उठा ले जाओ। व्याध ने उस रुपये

को ले जाकर उससे लोहे की सींके खरीदीं और बहुत से तीर बनाये। उन्ही तीरों से उसने सैकड़ों निर्दोष पक्षियों व पशुओं का बध किया। इधर महात्मा की सारी सिद्धि मिट्टी में मिल गई और उनका चित्त एक पापी की भांति अत्यन्त विक्षिप्त हो गया। इस लोहे से बधिक ने जितने भी पशु-पक्षियो का बध किया, उसके निमित्त कारण तो महात्मा जी ही बने। ऐसी परिस्थिति मे शुभकर्म भी अशुभ बन गया।

इसी प्रकार वन मे एक योगिराज महात्मा के निकट ही दो-तीन कसाई एक गौ का बध कर रहे थे। गौ शक्तिशालिनी थी, छुडाकर उन्ही महात्मा के पास होकर भागी। भागते समय महात्मा ने उसे देखा। उन्हे इस बात का भी पता था ही कि गौ कसाइयों से छूट कर भागी है। किन्तु महात्मा सत्यवादी थे! कसाइयो के पूछने पर उन्होने बतला दिया कि गौ इधर गई है। कसाइयो ने जाकर गौ पकड ली और उसका बध कर दिया। उसी दिन महात्मा की कुटिया मे आग लग गई और सब कुछ स्वाहा हो गया।

इसलिए कोई भी कर्म--चाहे वह धर्म हो या अधर्म, पाप हो या पुण्य, विहित हो या निषिद्ध,--प्रारम्भ करने से प्रथम देश, काल की परिस्थिति एव उसके परिणाम को अवश्यमेव विचार लेना चाहिये। किसी भी पक्ष का अन्धविश्वासी या लकीर का फकीर नही बनना चाहिए क्योकि जिन शुभ गुणो व कर्मों को शास्त्रकारो ने विहित, धर्मरूप एवं पालन करने के योग्य कथन किया है,—वे भी कर्ता व परिस्थिति के अनुसार निषिद्ध या सर्वथा त्याज्य हो जाया करते है। इसके विपरीत जिन कर्मों व गुणो को अधर्म रूप, निषिद्ध तथा सर्वथा त्याज्य कथन किया है,--जैसे मिथ्या-भाषण, हिंसा, चोरी, डाका तथा

व्यभिचारादि,—वे भी धर्म व शुभ के द्योतक हो जाया करते हैं। इस प्रकार का विवेकी कर्ता वही हो सकता है जो सर्वथा निष्काम, परोपकारी तथा स्वार्थ-अभिमान से सर्वथा मुक्त हो। ऐसे ही कर्म-कर्ता के लिए भगवान् श्री कृष्ण ने उचित निर्णय दिया है—

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

अर्थात् जिस मनुष्य की बुद्धि सांसारिक पदार्थों में लिप्त नही है यानी व्यक्तिगत स्वार्थ एवं कर्ता-भोक्तापने के अभिमान से सर्वथा रहित है,—वह यदि सारे विश्व का भी हनन कर डाले तो भी किंचित्मात्र भी पाप से लिप्त नही होगा। मनुष्य के द्वारा जितने भी अनर्थ होते है, वे किसी न किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या अभिमान को ही लेकर हुआ करते है। इसलिए जो व्यक्ति इन दोनो दोषो से मुक्त है उसके द्वारा देश व समाज को हानि पहुँचाने वाला कोई भी अनुचित व्यवहार हो ही नही सकता। इसीलिए कहा भी है—'स्वार्थी दोषान्न पश्यति।'

कर्म के उपरोक्त विचार के विषय मे ही श्री कृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लोक १६-१७ मे यहा तक कहा है—'कर्तव्य व अकर्तव्य क्या है, धर्म व अधर्म क्या है?—इस विषय मे कवि (विद्वान्) पुरुष भी मोहित है। तुझे कर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध होना चाहिये, क्योकि कर्म की गति बड़ी गहन यानी दुर्बोध्य है। इसलिये मैं तुझे उस कर्म के वास्तविक रहस्य को बतलाऊंगा जिससे तू इस अशुभरूप ससार व कर्म-बन्धन से मुक्त हो जायेगा।'

कर्म के इस रहस्य को इसी अध्याय के १८वें श्लोक में खोलते है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ।।

अर्थात् जो व्यक्ति कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वही मनुष्यो मे बुद्धिमान्, युक्त और सब कर्मो का वास्तविक कर्ता है ।

यहाँ पर दो प्रकार के कर्मों का वर्णन किया है,—एक कर्म, दूसरा अकर्म। जो कर्म परिणाम (फल) से युक्त हो, वह कर्म कहलाता है और जो कर्म परिणाम या फल से रहित हो उसे अकर्म कहते है अर्थात् जो कर्ता व्यक्तिगत स्वार्थ और कर्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित हो, उसी कर्ता द्वारा किया हुआ कर्म अकर्म रूप होता है। इन दोनो दोषो से कौन-सा मनुष्य मुक्त हो सकता है ?—वही, जिसने कर्म के वास्तविक स्वरूप और अपने आप (आत्मा) को भली प्रकार से जान (अनुभव कर) लिया हो। वही सारे मनुष्यों में वास्तविक कर्ता अर्थात् महा-कर्ता एवं महाभोक्ता होता है, क्योकि उसने अपने व्यष्टि 'कर्ता-भोक्ता' (शरीर, मन, इन्द्रियों के परिच्छिन्न एव अनात्म अभिमान) को समष्टि 'कर्ता-भोक्ता' (विराट् परमात्मा) मे मिलाकर एक कर दिया है ।

वह बुद्धिमान् इसलिये है कि कर्म मे भी अकर्म अर्थात् जगत् को भी चेतन आत्मा यानी पूर्ण ब्रह्म के रूप मे ही देखता है। तात्पर्य यह है कि कार्य को कारण से पृथक् नही देखता, स्वर्ण व मृत्तिका में भूषण व घटवत् अपृथक् देखता है। उसके विचार मे तीनों प्रकार के (संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध) कर्म तथा उनके फल जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष इत्यादि केवल कल्पना-मात्र, आरोपित, आकाश मे नीलिमावत् है। परन्तु अन्य लोग

ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष, कर्म-फल, स्वर्ग-नर्क, सुख-दुःख, ईश्वर-जीव, जगत्-ब्रह्म आदि को अपने आत्मा या चेतन सत्ता से पृथक् मानकर इनसे मुक्त होने या अभीष्ट प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के साधन करके बहुत ही दुःखी व व्याकुल होते है। आत्मदर्शी इन सारी बातो को बालको की क्रीड़ा ही समझता है, इसीलिये ऐसे कर्ता को बुद्धिमान् कहा है। वह कभी किसी भी बात से घबड़ाता नही।

उसे ही 'युक्त' भी कहा है। जैसे घर नगर से, वृक्ष बाग से, पुष्प फुलवाड़ी से, बर्फ जल से, वस्त्र रुई से एवं प्रकाश सूर्य से त्रिकाल मे भी कभी पृथक् नही हुए, उसी प्रकार ये मनुष्य, प्राणिमात्र कभी भी उस सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म से पृथक् नहीं हो सकते। ऐसी दशा मे संयोग-वियोग कैसा ? ये सब बातें केवल स्वप्नवत् अभिनय मात्र है। ऐसा जानने के कारण ही वह मुक्त भी है।

वह अकर्म मे कर्म कैसे देखता है ? अकर्म कहते है कारण-रूप चेतन सत्ता को और कर्म कहते है कार्यरूप शरीर व जगत् को। जो सूर्य मे प्रकाश तथा समुद्र मे तरंगवत् कारणरूप चेतन सत्ता मे कार्यरूप जगत् या शरीर इत्यादि को एकरूप देखता है, वास्तव मे वही युक्त व बुद्धिमान् मनुष्य सब प्रकार के कर्मों का कर्ता होते हुए भी उनके बन्धन के भ्रम से मुक्त है। यहाँ एक दृष्टान्त दिया जाता है जिससे स्पष्ट होगा कि संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्म केवल कल्पनामात्र है। यथार्थतः इन सब रूपो मे केवल अपना आत्मा ही विलास कर रहा है।

चन्द्रप्रताप नाम का एक चक्रवर्ती राजा था जो राजा जनक की भाँति ही बड़ा विद्वान् और चरित्रवान् वेदान्ती था। एक

दिन वह किसी महात्मा के साथ गीता के श्लोक पर विचार कर रहा था—

'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'

अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि से उसके तीनो प्रकार के कर्म दग्ध हो जाते है।

राजा ने कहा कि महाराज! यह तो ठीक है कि आत्मज्ञान हो जाने पर सञ्चित तथा आगामी कर्म अवश्य निवृत्त हो जाते है, किन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोग लेने से ही शान्त होते हैं। श्रुति भी इस बात को मानती है कि प्रारब्ध कर्म भोग लेने पर ही शान्त होता है। प्रत्यक्ष देखने मे भी आता है कि ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी सुख-दुःख भोगना ही पड़ता है। यदि ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म भी समाप्त हो जाय तो शरीर ही नही रह सकता, इसलिए बाध्य होकर मानना ही पड़ेगा कि प्रारब्ध कर्म ज्ञान हो जाने पर भी निवृत्त नही होता। अतएव गीता का यह वाक्य कि 'ज्ञान के द्वारा सब (तीनो) प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं'—मेरी समझ मे नही आता।

महात्मा ने कहा—राजन्! जिस प्रकार से वेदान्त ने सारे जगत् को मन की कल्पनामात्र वतलाया है, उसी प्रकार जगत् के अन्तर्गत होने से प्रारब्ध कर्म का भोग भी कल्पनामात्र ही है। श्रुति ने तो अज्ञानियो को समझाने के लिए प्रारब्ध कर्म के भोग को मान लिया है, पर यह उसका वास्तविक तात्पर्य नही है। जब आप स्वप्न देखते है तो स्वप्न के सुख-दुःख को भोगने (अनुभव करने) के लिये नित्यप्रति नवीन शरीर बन जाया करता है। जिस प्रकार स्वप्न का शरीर एवं उसके प्रारब्ध आदि तीनो प्रकार के कर्म जाग्रत होते ही एक ही काल मे निवृत्त हो जाया करते है और जाग्रत होने पर स्वप्न की कोई भी वस्तु देखने व

अनुभव करने में नहीं आया करती, इसी प्रकार अपने स्वरूप मे जाग जाने पर इस जाग्रत अवस्था की सारी सृष्टि भी चेतन आत्मा मे ही विलीन हो जाती है। यदि ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी कोई प्रारब्ध कर्म व उसके भोग को मानता है तो समझ लो कि अभी उसकी स्वरूप मे स्थिति ही नही हुई। यदि स्वप्नावस्था का कोई दुःख जाग्रत अवस्था मे भी प्रतीत हो रहा हो तो निश्चित् है कि वह अभी नीद मे ही है और जागने का दृश्य भी स्वप्न मे ही देख रहा है। कई बार स्वप्नकाल मे ऐसा भी भान होता है कि मैं अब जाग्रत हो गया हूं, किन्तु ऐसा जागरण भी स्वप्न ही होता है।

महात्मा के इस प्रकार समझाने पर भी राजा का सन्देह दूर न हुआ। तब महात्मा ने कहा कि अच्छी बात है, मैं इसी बात को आपको अन्य प्रकार से समझाऊँगा।

उसी दिन जब राजा अपने आनन्द-भवन मे सो रहा था, तब उसने स्वप्न मे एक ऐसे गरीब निर्धन के घर जन्म ले लिया जिसके पास रहने के लिये केवल एक टूटी-फूटी झोंपड़ी ही है तथा खाने-पीने का भी कोई ठिकाना नही है। जब उस बालक की आयु १० वर्ष की हुई तो उसके माता-पिता भी मर गये। वह लडका अनाथ होकर दीन-हीन हुआ। बहुत ही रोने-चिल्लाने लगा। एक सेठ को उस पर बडी दया आई। उसने उस बालक को आश्वासन दिया कि तुम घबडाओ नही, हमारे साथ चलो। हमारे यहाँ रहो. तुम्हे कोई कष्ट नही होने पावेगा। इस प्रकार वह लडका सेठ जी के यहां बडा होता रहा। जब उसकी आयु लगभग बीस वर्ष की हो गई तब किसी निर्धन, गरीब कन्या के साथ उसका विवाह भी हो गया। जिस प्रकार उसका पिता

टूटी-फूटी झोंपड़ी में रहता तथा मजदूरी करता था, उसी प्रकार वह भी पत्नी सहित झोपडी बनाकर रहने लगा।

इसी भाँति रहते लगभग ३० वर्ष हो गये, किन्तु न तो उसके कोई सन्तान ही हुई और न दरिद्रता ही दूर हुई। दोनो पति-पत्नी रोगी रहा करते थे। एक दिन वे दोनो बहुत ही दुःखी होकर रो रहे थे कि क्या संसार की सारी आपत्तियां व दुःख विधाता ने केवल हमारे लिए ही बनाये है? बाल्यावस्था में ही माता-पिता मर गये, न खाने का ठिकाना, न पीने का, न वस्त्र का, न झोंपड़ी का। ओह! हमने पूर्व जन्म में कितने महान् पाप किये है कि जिनका फल भगवान् हमे दे रहे है! हम से बढकर संसार मे और कोई भी दुःखी नही होगा।

वे इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे कि इतने मे उनका एक मित्र आ गया। उनकी दर्द भरी कहानी सुनकर मित्र ने बहुत ही दुःख अनुभव किया और आश्वासन देते हुए कहने लगा कि आप घबरायें नही। दिल्ली मे एक पण्डित हवेलीराम ज्योतिषी रहते है। उनके पास भृगुसंहिता है जिसके द्वारा वे चार जन्म आगे तथा चार जन्म पीछे की दशा बतलाते है। आप उनके पास जाइये। देखें, वे आपको क्या बतलाते है? दरिद्र दम्पत्ति ने कहा कि हमारे पास तो विष खाने के लिये भी पैसा नही है, ज्योतिषी की फीस २० रुपये हम कहाँ से देंगे? तब मित्र ने कहा कि अच्छी बात है, मैं कही से आपको २० रुपये उधार ला दूंगा।

उसने उन्हे २० रुपये लाकर दिये। उस दरिद्र पुरुष ने पैदल ही दिल्ली को प्रस्थान किया। वहा पण्डित जी के पास पहुँचा, उनकी फीस २० रुपये सामने रक्खी एवं ज्योतिष लगाने के लिए प्रार्थना की। उन्होने अपनी भृगुसंहिता खोली तथा

उसके पिछले जन्मों का वृत्तान्त बतलाना प्रारम्भ किया कि आप ने पूर्व जन्मो मे बडे-बड़े पाप किये है अर्थात् ब्रह्महत्या, गौहत्या, स्वर्ण-चोरी, विश्वासघात, कृतघ्नता इत्यादि जो-जो भी जगत् में महान् से महान् पाप है, वे सब आपने किये हैं। अतः इस जन्म मे तो क्या, अभी आपको आठ जन्म तक इसी प्रकार दुःख भोगने हैं।

इन बातो को सुनकर वह बहुत ही घबडाया और पूछने लगा कि महाराज! किसी प्रकार से इसका प्रायश्चित्त भी हो सकता है? ज्योतिषी जी ने बतलाया कि प्रायश्चित्त मे तो हजारो रुपये लगेंगे। आप प्रायश्चित्त कैसे कर सकते है? हाँ, एक मन्त्र आपको बतलाता हूँ। इसका एक लाख जप करने से वर्तमान दुःख कुछ कम हो जायगा।

मन्त्र का उपदेश लेकर वह वहाँ से लौटा। जब अपने ग्राम के निकट पहुँचा तो भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। निकट ही एक बाग मे कुआँ था, उससे प्यास बुझाई। वहीं वृक्ष के नीचे एक महात्मा विश्राम कर रहे थे। उसने जाकर महात्मा जी को नमस्कार किया तथा बैठकर रोने लगा। महात्मा जी उठकर बैठ गए और उसे रोते देखकर मुस्कराने लगे। इस बात को देखकर उसे और भी अधिक क्लेश हुआ और वह फूट-फूट कर जोर-जोर से रोने लगा।

महात्मा ने कहा - सुनाओ राजन्! आज तो आपने बहुत ही मनोरजक स्वाग धारण किया है। कहिये, आज आपको क्या पुरस्कार दूँ।

यह सुनकर वह कहने लगा कि आज तक तो मैंने यही सुना था कि महात्मा लोग बड़े ही दयालु हुआ करते है, परन्तु आप मे तो इतनी निर्दयता देखने मे आ रही है! आपको तो मेरी इस

दीन-हीन दशा पर तरस खाकर शान्ति का उपदेश करना तथा आशीर्वाद देना चाहिये था जिससे मेरे दु:ख मे कुछ कमी होती! इसके विपरीत आप तो हँसी कर रहे है।

महात्मा ने कहा—मैंने तो प्रथम ही आप से कह दिया कि आपके आज के अभिनय को देखकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए जो कुछ इनाम मांगो, मैं देने के लिए प्रस्तुत हूँ। इसमे निर्दयता कैसी ?

उसने कहा – महाराज! आप तो बार-बार स्वांग धारण करने की बात कह रहे है। इससे तो यदि मेरी मृत्यु ही हो जाय तो मैं इस महान् नरक से तो छूट जाऊँ। आपकी यह हँसी की बात मेरी समझ मे नही आ रही।

महात्मा ने उत्तर दिया—बिना जागे मेरी बातो को समझ ही कैसे सकते हो ?

उसने कहा—महाराज! तो मैं क्या सो रहा हूं ?

महात्मा ने कहा हाँ, यदि सोये न होते तो पण्डित हवेलीराम के पास धक्के क्यो खाते ?

उसने कहा—अरे महाराज जी! आपको यदि मेरे दु:ख का पता होता तो कदापि ऐसी निर्दयता की बाते न करते।

महात्मा ने कहा—पता है तभी तो कह रहा हूँ कि आप राजा चन्द्रप्रताप अपने आनन्द-भवन में बडे ही चैन से सो रहे है। आपका गरीब के घर जन्म लेना, बाल अवस्था मे ही अनाथ हो जाना, किसी सेठ का कृपा-पात्र बनना, किसी निर्धन दरिद्री कन्या के साथ विवाह करना, सन्तानहीन होना, दोनो का सदा रोगी रहना, मित्र से बीस रुपये लेकर पण्डित हवेलीराम के पास जाना और अपने अगले-पिछले जन्मो व कर्मों के फल भोगना, उसका किसी भी प्रकार से प्रायश्चित्त न हो सकना,

फिर निराश होकर भूखे-प्यासे यहाँ आना तथा मुझसे वार्तालाप करना, तुम्हारा यह चिथड़ो मे लिपटा हुआ कर्मों का कर्ता-भोक्ता रोगी शरीर तथा मेरा शरीर इत्यादि जो कुछ भी जन्म से लेकर अब तक तुम अनुभव कर रहे हो,—यह सब तीनो प्रकार के कर्म तथा उनके फल आपने एक ही काल मे बिना किसी कारण और कर्म इत्यादि के क्षणमात्र मे अपने संकल्प से ही रच लिये है। इस समय दृष्टा-दर्शन-दृश्य, कर्ता-कर्म-क्रिया, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय इत्यादि जितने भी त्रिपुटीरूप जगत् प्रपंच का आप प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं, यह सब आपका संकल्पमात्र ही है।

राजा ने कहा—नाना प्रकार के जिन कर्मों और उनके फल सुख-दु खो को मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हू, उन्हे आप स्वप्न व मन की कल्पना कह रहे है? आपकी यह बात सच्ची कैसे मान लू ?

महात्मा ने कहा—मैंने तो प्रथम ही आप से कह दिया कि बिना जागे मेरी बातो को कदापि सत्य नही मान सकते। यदि किसी को दिग्भ्रम हो जाय तो फिर उसे चाहे कितना भी समझाया जाय कि जिस ओर सूर्य उदय होता है, वह पूर्व है और जिस ओर अस्त होता है वह पश्चिम है, पर वह स्वयं समझने के बजाय उल्टा समझाने वाले से ही कहता है कि श्रीमान् जी! जो कुछ आप कह रहे हैं, यह सब 'गुर' मैं पहले से स्वयं ही जानता हूं। सारी बातें जानते हुए भी स्वय अनुभव किये बिना उसके दिग्भ्रम की निवृत्ति कदापि नही हो सकती।

इसी प्रकार स्वप्नावस्था मे किसी को कितना भी समझाया-बुझाया जाय कि आप स्वप्न देख रहे हैं, पर वह इस बात को कदापि सत्य नही मान सकता जब तक कि उसका मन जाग्रत

अवस्था में न आ जाय। इसलिए सावधान हो जाइये, अब मैं आपको जगाता हूँ। आपका दीन-हीन, दुःखी, चिथड़े लिपटा यह शरीर जिसकी उत्पत्ति व सुख-दुःख भोगने मे आप निश्चय-पूर्वक प्रारब्ध कर्म को ही हेतु मानते है और यह निश्चय कर चुके है कि प्रारब्ध कर्म बिना भोगे निवृत्त ही नही होता, आपके ही संकल्प से उत्पन्न हुआ यही शरीर और इसका कारण प्रारब्ध क्षणमात्र मे फिर आपके संकल्प मे ही लीन होने जा रहे हैं। अब आप प्रत्यक्ष अनुभव एवं दृढ निश्चय कर लें कि आपका मताध्यास कितना भ्रामक है।

इतना कहकर महात्मा ने वही पड़ी हुई लाठी उठाकर उसके सिर पर जोर से खीचकर मारी। लाठी लगते ही वे चौंक पड़े तो देखा कि जाग्रत होते ही वह महा दीन-हीन दुःखी शरीर और उसके समस्त (तीनो) कर्म अर्थात् कारण-कार्य सहित शरीर एवं प्रारब्ध सब समाप्त हो गये। केवल दृष्टा ही शेष रह गया और समस्त कार्यवर्ग उसी मे विलीन हो गया। राजा को पूर्ण रूप से निश्चय हो गया कि कर्म व शरीर इत्यादि सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच संकल्पमात्र या सर्वदृष्टा चेतन स्वरूप ही है।

शून्य या जीरो स्वयं अपने आप कुछ भी नही, किन्तु यदि इसे किसी अंक (१, २, ३, ४ आदि) के वाद रखते जाये तो यह उस अङ्क के मूल्य को सैकडो, हजारो, लाखो, करोडो गुना करता जाता है। पर यदि इसी शून्य को किसी अङ्क के वाद के वजाय पहिले रखते जावें तो संख्या वही रहेगी और शून्य का कोई महत्व न होगा। ठीक इसी प्रकार कर्म स्वय शून्य रूप है, पर जव इस का सम्बन्ध किसी देहात्मवादी अज्ञानी के साथ हो जाता है तो फल भी बराबर बढता ही जाता है और जव इसी कर्म का

सम्बन्ध किसी तत्त्ववेत्ता आत्मज्ञानी के शरीर, मन व इन्द्रियों से होता है तो यह फल व भोग से रहित हो जाता है अर्थात् ज्ञानवान् का किया हुआ कर्म अकर्म रूप हो जाता है। अब इसका चित्र भी देख लीजिये—

कर्म

| तत्त्ववेत्ता का | अज्ञानी का |
| --- | --- |
| ००००० १ | १००००० |

आकाश मे दो प्रकार के शब्द होते है,—एक वह शब्द जो रिकार्ड मे कैद हो जाता है और दूसरा वह जो स्वतन्त्र ही रहता है। रिकार्ड किया हुआ शब्द जब भी ग्रामोफोन पर चढ़ाया जायगा, तभी ज्यो-का-त्यो बाहर निकलेगा।

देहाभिमानी अज्ञानी के द्वारा किया हुआ कर्म उसके सूक्ष्म शरीर मे रिकार्ड हो जाया करता है जो स्थूल शरीररूपी मशीन का सम्बन्ध होते ही सुख-दु:ख के भोग का कारण बन जाता है। परन्तु ज्ञानियों का कर्म स्वतन्त्र रहता है। उनका कर्म किसी भी प्रकार से रिकार्ड अर्थात् बन्धन का हेतु नही हो सकता। कर्म स्वत: किसी के बन्धन या दु:ख का हेतु नहीं होता वरन् जगत् मे किसी के भी बन्धन, दु:ख, अशान्ति तथा विक्षेपादि का कारण केवल उसकी आसक्ति एवं ममता ही होती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को इनसे ही बचना चाहिये। ये दोनो दीर्घ-भ्रम रोग स्वरूप मे स्थित होने से ही निवृत्त होते हैं।



# सत्यान्वेषण

## व्यावहारिक सत्य

श्रुति कहती है—'सत्यमेव जयते नाऽनृतं' और 'सत्य प्रतिष्ठायाम क्रियाफलाश्रयत्वम्' – योग दर्शन का सूत्र है अर्थात् जो मनुष्य सत्य का आश्रय लेता है, जिसके मन-वाणी-कर्म मे सत्य की प्रतिष्ठा होती है, उसी के कार्य, साधन एवं पुरुषार्थ सफल एवं सिद्ध होते हैं। वर्तमान काल मे देश व समाज मे प्रचलित झूठ, असत्य, मिथ्या, मिलावट, असल की नकल को देखकर स्थूल बुद्धि वाला विवेकहीन मनुष्य मानता और कहता है कि वर्तमान युग मे यदि सचाई के साथ व्यवहार किया जाय तो हानि के सिवाय किंचित् मात्र भी लाभ नही। अमुक-अमुक व्यापारी व शासक चोरबाजारी, मिलावट या घूसखोरी आदि भ्रष्टाचार करके ही फल-फूल रहा है, लाखो-करोडो रुपया कमाकर धनवान् बन गया, बड़ी उन्नति की और समाज मे भी मान-प्रतिष्ठा बढ़ गई। अतः इस कलियुग मे सत्य व धर्म की कोई आवश्यकता नही है। येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक धन कमाना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है जिससे हर प्रकार के सांसारिक सुख एवं भोग प्राप्त हो सकते है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उपर्युक्त झूठ, कपट, छल-छिद्र, मिलावट और घूस आदि का भी आधार सत्य ही है। कोई भी व्यापारी या आफिसर समाज के सामने यह

बात मानने व कहने को तैयार नही हो सकता कि मै झूठ बोलता हूँ या मिलावट, चोर-बाजारी करता हूँ अथवा घूस लेता हूँ। वह ऊपर से यही प्रलाप करता है कि मैं बड़ा ईमानदार, धर्मात्मा एव सत्यवादी हूँ, हमारी हरएक चीज असली है। इन परिस्थितियो को देखने से यह ज्ञात होता है कि झूठ को भी सत्य का आश्रय लेना पडता है। सत्य का प्रदर्शन किये बिना झूठ भी फलीभूत नही होता अर्थात् उसे सत्य के मुलम्मे (पालिश) से अलकृत कर के ही समाज के सम्मुख खड़ा किया जाता है, तभी लोग उसे सत्य के रूप मे स्वीकार करते है।

जब नकली सत्य इतना फल-फूल और अपना चमत्कार दिखा सकता है तो मनसा-वाचा-कर्मणा यथार्थ रूप मे सत्य को अपनाने से कितना लाभ, सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है? अमेरिका, रूस, जापान, जर्मनी आदि देशो की उन्नति, प्रगति, विकास और अभ्युदय का प्रधान कारण यही है कि वे लोग व्यावहारिक जीवन में सत्य को अधिक आदर देते है। किसी भी भ्रष्टाचारी समाज व राष्ट्र को सत्य के अनुसरण में थोड़ी-सी कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु इसका परिणाम सुख व शान्तिप्रद होता है। इसी बात को एक ऐतिहासिक घटना के द्वारा समझाता हूँ।

सुकेशिनी नाम की एक सुन्दरी कन्या थी। एक ब्राह्मण-कुमार सुधन्वा एवं प्रह्लाद का पुत्र विरोचन दोनो ही उस कन्या को पत्नि रूप मे वरण करना चाहते थे। उस सुन्दरी कन्या ने निर्णय दिया कि आप दोनो मे जो स्वभाव, गुण व कर्म से उत्तम एवं कुलीन हो, मैं उसी का वरण करूँगी। अब इस बात का निर्णय कौन करे कि इन दोनों में उत्तम कौन है? ब्राह्मण-कुमार ने विरोचन से कहा कि तुम्हारे पिता प्रह्लाद जो भी निर्णय कर

देगे, वही हम दोनो को मान्य होगा, किन्तु यह शर्त है कि जो उत्तम नही सिद्ध नही होगा, उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।

सुकेशिनी की सम्मति से ऐसा निर्णय करके वे दोनों प्रह्लाद के समीप पहुँचे और अपना मन्तव्य कह सुनाया। प्रह्लाद के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। एक ओर तो पुत्र का मोह और दूसरी ओर धर्म-संकट! यदि सत्य का पक्ष लेता है तो पुत्र की मृत्यु निश्चित् है और यदि विरोचन का पक्ष लेता है तो अधर्म, असत्य एवं ब्राह्मण-कुमार का श्राप सामने विद्यमान् है। ऐसी भयंकर परिस्थिति मे प्रह्लाद ने एकनिष्ठ होकर यही निश्चय किया कि पुत्र चाहे रहे या न रहे, पर सत्य व धर्म का त्याग नही करूँगा। दृढता व निर्भयता-पूर्वक उसने यही निर्णय दिया कि स्वभाव, कुल, विद्या, योग्यता एवं गुणो मे विरोचन से ब्राह्मण-कुमार ही उत्तम है। प्रह्लाद के न्याय एवं सत्य-परायणता को देखकर ब्राह्मण-कुमार ने विरोचन को प्राणदण्ड से मुक्त करके जीवनदान के साथ ही साथ सुकेशिनी को भी उसी को दे दिया। सत्य के प्रभाव से विरोचन को जीवन एवं सुन्दरी कन्या दोनों प्राप्त हो गये।

एक लकड़हारा जंगल मे लकडी काटने गया। दैवयोग मे किनारे खडे वृक्ष पर चढ़कर लकड़ी काटते समय उसकी कुल्हाडी नदी मे जा गिरी। लकड़हारा बहुत दु.खी हुआ और कातर स्वर में रोते हुए ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभो! मैं बहुत गरीब हूँ, मेरी आजीविका केवल लकड़ी बेचकर ही चलती है। कुल्हाड़ी बिना अब मैं क्या करूँगा? मेरा जीवन-निर्वाह कैसे होगा? कृपा करके मेरी कुल्हाड़ी वापिस कर दीजिये।

नदी मे अदृश्य प्रभु ने गम्भीर वाणी मे कहा—'लो अपनी

कुल्हाडो !'—और सोने की कुल्हाड़ी लिये एक हाथ जल से बाहर निकला।

लकडहारे ने कहा—'प्रभो ! यह कुल्हाड़ी मेरी नही है।'

दूसरी वार चाँदी की कुल्हाड़ी निकली। इस बार भी उसने इन्कार कर दिया कि यह भी मेरी नही है, मेरी कुल्हाड़ी तो लोहे की है। इसके पश्चात् नदी मे गिरी लोहे की वही कुल्हाडी आई तो लकड़हारे ने हाथ वढाकर ले ली और प्रसन्न हो गया। उसकी ईमानदारी व सच्चाई देखकर प्रभु ने सोने और चाँदी की वे दोनों कुल्हाडियाँ भी उसे पुरस्कार मे दे दी।

इस घटना को उसी गाँव के एक आदमी ने सुना तो उसके मन मे आया कि यह तो सोने और चाँदी की कुल्हाड़ी प्राप्त करने का सहज उपाय है। मैं भी लकडी काटने जाता हूँ। वह एक लोहे की कुल्हाडी लेकर उसी स्थान पर पहुँच गया और उसी वृक्ष पर लकडी काटने चढ गया। उसने जान-बूझकर अपनी कुल्हाड़ी नदी मे गिरा दी और रोने-चिल्लाने लगा – 'प्रभो ! मैं भूखा मर जाऊँगा, मेरी कुल्हाड़ी वापस कर दीजिये।'

प्रभु वड़े कौतुकी हैं। उन्होने आवाज देकर कहा—'अपनी कुल्हाड़ी लो !'—और वही लोहे की कुल्हाड़ी ऊपर आ गई।

उसने कहा—'प्रभो ! यह मेरी कुल्हाड़ी नही है।'

दूसरी बार चाँदी की निकली तो उसको भी इनकार कर दिया कि यह भी मेरी नही है। तीसरी वार सोने की कुल्हाड़ी वाहर निकली। वह प्रसन्न होकर कहने लगा—'प्रभो, यही मेरी है' और नदी मे जाकर कुल्हाड़ी लेने के लिए हाथ वढ़ाया, पर वह उसके हाथ से चार अंगुल दूर रह गई। वह ज्यो-ज्यों कुल्हाड़ी पकडने के लिए हाथ आगे वढ़ाता रहा त्यों-त्यो गहरे जल में

पैठता गया और अन्ततः डूबने लगा तो चिल्लाया—'प्रभो बचाओ, बचाओ ! मैं मरा, मुझे कुल्हाड़ी नहीं चाहिए, मेरी प्राण-रक्षा करो !' रोते-चिल्लाते वह किनारे तो लग गया, पर वह कुल्हाड़ी अदृश्य हो गई और गाँठ की लोहे की कुल्हाडी भी पानी में गई। वह पश्चात्ताप करते खाली हाथ घर आ गया।

झूठ, छल, कपट, बेईमानी, भ्रष्टाचार से कमाये हुए धन का भी ऐसा ही परिणाम होता है। ऐसा कमाऊ व्यक्ति या तो स्वयं ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है और या उसके देखते-देखते धन नष्ट हो जाता है। केवल जीवन की काली करतूतें ही शेष रह जाती है।

## आध्यात्मिक सत्य

यदि विवेक एवं अनुभव की कसौटी पर कस कर देखा जाय तो सत्य वास्तव मे ही सब का अपना ही स्वरूप एवं आत्मा है। यह बात ध्रुव सत्य है कि ज्ञान-चेतना के बिना सत्ता, सत्य. चेतन, आनन्दपूर्ण व्यापक कारण, अधिष्ठान, ईश्वर, गॉड, खुदा, परमात्मा, ब्रह्म, माया, प्रकृति, जीव, जगत् आदि किसी की भी सिद्धि हो ही नही सकती। जिस प्रकार समस्त स्थावर-जंगम चराचर दृश्य जगत् सूर्य के जिस प्रकाश से दिखाई पड़ता है, वह दृश्य जगत् से प्रथम ही प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है, प्रकाश के बिना किसी दृश्य को नही देख सकते, इसी प्रकार वह कौन-सी शक्ति है जो प्रकाश से भी पहिले प्रकट एवं प्रत्यक्ष है और जो प्रकाश की भी प्रकाशक (देखने वाली) है। वह है—'चेतना या ज्ञान !' जिस ज्ञान से इस प्रकार का ज्ञान या निश्चय होता है, उसी ज्ञान को ज्ञान या सत्य कहते है। वह सत्य ही सबका अपना आपा स्वयं आत्मा है। इस अनुभूति को ही पारमार्थिक सत्यान्वेषण कहते है।



# योग-साधन

ध्यान एक ऐसा व्यापक साधन है जिसके विना किसी भी साधन की सार्थकता एवं सिद्धि नही हो सकती। यहां तक कि जितने भी व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक साधन हैं, उन सब मे ध्यान की ही प्रधानता होती है।

मनुष्य की बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक का कोई भी ऐसा कार्य जिसके द्वारा किसी प्रकार की सफलता एवं सिद्धि प्राप्त होती है, ध्यान के विना सम्पन्न नही हो सकता। यदि विद्यार्थी प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा तक ध्यान-पूर्वक लेखन या अध्ययन नही करेगा तो असफल हो जायेगा। वडे-वडे राष्ट्रपतियो, मन्त्रियो एवं आफिसरो से लेकर साधारण से साधारण क्लर्क तक यदि लिखते पढते, सोचते समय ध्यान से काम न ले तो असफलता ही हाथ लगेगी। यदि व्यापारी व्यापार के समय ध्यान से चूक जायेगा तो उसे हानि की संभावना है। नाना प्रकार के भोजन वनाने वाले पाचक-गण खाद्य-सामग्री वनाते समय यदि ध्यान से चूक जायें तो रोटी, चावल, दाल, साग जल जायेगे अथवा कच्चे रह जायेंगे अथवा नमक, मिर्च, मसाले आदि कम या अधिक हो जायेंगे और भोजन का सारा स्वाद विगड जायेगा।

सैनिकों का आधार भी ध्यान ही है। वे यदि क्षण भर को भी ध्यान से चूक जाये तो निशाना चूक जायेगा, दुश्मन हावी

हो जायेगा और हार खाकर पीछे भागना अथवा मौत के घाट उतरना पड़ेगा। यदि वाहनों के चालक ध्यान से चूक जाते है तो बड़ी से बड़ी भयंकर दुर्घटनायें हो जाती है और जन, धन, माल की क्षति होती है। यह तो व्यावहारिक जीवन का थोडा-सा भौतिक दिग्दर्शन है। संसार के बडे-बडे वैज्ञानिक नये-नये यन्त्रो, मशीनरियो, वस्तुओ का आविष्कार करते है। राकेट, उपग्रह, अणुबम, हाइड्रोजन, आक्सीजन आदि अणु शक्तियाँ, वायरलैस, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, टेलीग्राम, एक्स-रे, अन्तरिक्षयान, वायुयान, हैलीकोप्टर, जलपोत, रेल, मोटर आदि सभी वस्तुयें उन वैज्ञानिकों के ध्यान के ही चमत्कार है। ध्यान से मन की एकाग्रता होती है। मन की एकाग्रता से बुद्धि का प्रक्षालन एवं विकास होता है और बुद्धि के विकास ने नवीन, अद्भुत से अद्भुत ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है जिसके प्रकाश की छत्रछाया में उपर्युक्त आश्चर्यजनक वस्तुओं का आविष्कार होता है।

ध्यान-योग से अद्भुत सिद्धि एवं ज्ञान की प्राप्ति क्यो होती है?—इसका एक वैज्ञानिक रहस्य है। विद्युत् शक्ति के द्वारा चलने वाले जितने भी कूलर, रेफ्रिजरेटर, मोटर, पंखा, बल्ब, रेडियो, टेलीविजन, बडी-बड़ी फैक्ट्रियो, प्रोजेक्ट तथा मिलो की मशीनों आदि के सक्रिय होने मे विद्युच्छक्ति की प्रधानता है जिसके बिना यह सब मशीनरियाँ ठप्प हो जाती है, चल ही नही सकती। वह कौन-सा सर्वप्रथम अनिवार्य साधन है जिसके बिना विद्युत् शक्ति एवं मशीनरी ठीक-ठाक होते हुए भी सुचारु रूप से नही चल सकती? विद्युच्छक्ति को सक्रिय एवं सभी मशीनरियो के साथ उसे सम्बद्ध करके चलाने वाला वह अनिवार्य साधन 'स्विच' है। स्विच को ऑन किया जाता है तो

सभी मशीनरी सक्रिय हो जाती है और ऑफ कर दिया जाता है तो वन्द हो जाती है। विद्युत् शक्ति का सारा रहस्य स्विच के ऑन एव ऑफ करने मे छिपा हुआ है। स्विच ऑन करने से नैगेटिव एव पॉजिटिव शक्ति वाहक दोनों तारो का सयोग हो जाता है, शक्ति प्रत्यक्ष हो जाती है और वह मशीनरी सक्रिय एवं सशक्त हो जाती है अर्थात् विद्युच्छक्ति अपना कार्य विशेष रूप से करने लग जाती है। यदि स्विच ऑफ कर दिया जाय तो दोनो शक्तियो एवं मशीनरियो का डायरैक्ट सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, अतः मशीनरी वन्द हो जाती है।

हमारे ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का भी यही रहस्य है। विद्युत्-स्विच मन है। ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता करना स्विच को ऑन करना है। मन के एकाग्र होने से वुद्धि रूपी वल्ब विशेष ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है और उस विशेष ज्ञान के प्रकाश मे जो भी समस्या हल करनी हो उसका उपाय सिद्ध ज्ञान के रूप मे प्रत्यक्ष एवं प्रकट हो जाता है जिससे हर प्रकार की समस्या हल हो जाती है। यही प्रत्येक प्रकार की सफलता एवं सिद्धि का रहस्य है।

जिस प्रकार भौतिक कार्यों की सफलता एवं सिद्धि के साधनों एवं कारणो पर ऊपर विचार किया गया, इसी प्रकार अव आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर विचार किया जाता है। यद्यपि शरीर, इन्द्रियं, मन एवं वुद्धि आदि द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जो कुछ साधन होता है, वह भी एक प्रकार से इन्द्रिय-व्यवहार एवं व्यापार ही है। जप, तप, पूजा, पाठ, स्वाध्याय, श्रवण, मनन, चिन्तन, विचार, यम नियम, आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—अष्टाँग योग, शुभेच्छा, तनुमानसा, विचारणा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी, तुर्या—ज्ञान की सप्त भूमिकाये सत्संग, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन अर्थात् सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य (स्वामी-सेवक) भाव, सखा-भाव, आत्म-निवेदन—नवधा भक्ति,—ये सभी मन-इन्द्रियों के ही द्वारा होने वाले है। ये ध्यान के बिना कभी सफल एवं सिद्ध हो ही नही सकते।

सभी साधनों मे ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता न हो तो ये जीवन पर्यन्त बोझा ढोने के बराबर ही है और साधको के जीवन का भार बन जाते है। यही कारण है कि अधिकांश साधको को जीवन पर्यन्त पूर्ण-रूपेण सफलता एवं सिद्धि अर्थात् शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति नही होती। जो साधन ध्यान एवं ज्ञानपूर्वक किया जायेगा, वही सफलता एवं सिद्धिदायक बनेगा। इस सिद्धि का रहस्य वही होगा जो कि स्विच ऑन करने से सभी यन्त्रो के चलने एवं आफ करने से बन्द होने का

---

अष्टाँग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा —ये छ. साधन वहिरंग हैं। ध्यान एवं समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं।

ज्ञान की सात भूमिकाओ मे शुभेच्छा, तनुमानसा, विचारणा, सत्वापत्ति, असंसक्ति—ये पांच भूमिकाएं बहिरङ्ग हैं। पदार्थभावनी एवं तुर्या अन्तरंग साधन हैं।

नवधा भक्ति मे आत्म-निवेदन को छोड़कर शेष प्रथम आठ प्रकार की भक्ति बहिरङ्ग साधन हैं। आत्म-निवेदन, अनन्य भक्ति, पराभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति आदि पर्यायवाची हैं, इनका अर्थ एक ही है। नवधा भक्ति मे एक यही अन्तरङ्ग साधन है।

होता है। एकाग्र मन के द्वारा ही साधना की सिद्धि होती है और मन की एकाग्रता ध्यान से ही होती है।

मन-इन्द्रियां स्वयं ही व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक हैं, तब इनके द्वारा होने वाला साधन भला परमार्थिक एवं आध्यात्मिक कैसे हो सकता है? परमार्थ, अध्यात्म, आत्मा-परमात्मा, ईश्वर-परमेश्वर, ब्रह्म-परब्रह्म,—ये सभी शब्द पर्यायवाची है। इन सभी का लक्ष्यार्थ इन्द्रियातीत, मनोतीत, विचारातीत है अर्थात् मन-इन्द्रियों आदि का विषय नही है। हमारा मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि उसको ग्रहण नही कर सकते। यह विचार का एक पहलू है।

अब दूसरे पहलू पर विचार किया जाता है। जिस प्रकार एक ही सिक्के के दो पहलू होते है, इसी प्रकार एक ही सत्य परमात्मा के व्यवहार एवं परमार्थ, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक संसार एवं परमात्मा, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि दो पहलू हैं। जब एक परमात्मा ही व्यवहार एवं परमार्थ के रूप मे प्रगट एवं प्रत्यक्ष है तो जिस पक्ष का व्यवहार के रूप में कथन किया जा रहा है, वह क्या सत्य परमात्मा से पृथक् है?—कदापि नही, एक ही है।

शास्त्र दो पक्षो को लेकर विचार करता है—व्यतिरेक एवं अन्वय। निषेधात्मक पक्ष को व्यतिरेक और समन्वयात्मक पक्ष को अन्वय कहा जाता है। निषेधात्मक पक्ष समझने-समझाने का एक साधन मात्र है और इसका अन्तिम फल अर्थात् परम सिद्धि एवं सफलता ही अन्वय पक्ष है। इस प्रकार अन्वय पक्ष को लेकर ही सिक्के के दोनो पहलूवत् संसार एवं परमात्मा, व्यवहार एव परमार्थ एक है।

अब साधन को लेकर विचार प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम

जिस मन की चंचलता एवं बहिर्मुखता को निवृत्त करके एकाग्र एवं अन्तर्मुख किया जाता है, उस मन का स्वरूप क्या है? महर्षि पतञ्जलि ने मन का स्वरूप—'संकल्प विकल्पात्मकं मनः' —बतलाया है अर्थात् संकल्प एवं विकल्प की खिचडी का नाम ही मन है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसका बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है—

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई,
जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

दो रस्सियो को मिलाकर गांठ दे दी जाय और किसी से कहा जाय कि रस्सी को नही छूना, केवल गाँठ को ही पकड़ो और खोलकर दिखलाओ तो ऐसा करना असम्भव होगा, क्योकि रस्सी ही तो गाँठ के रूप मे दिखाई पड़ रही है। यह मन ही चेतन की ग्रन्थि है। चेतन संकल्प के रूप में व्यक्त होता है। अज्ञान एवं अभिमान के कारण संकल्प और विकल्प की एकता दिखाई पड़ती है। इस एकता का नाम ही मन है। विकल्प ही मन का दोष है जो चंचलता एवं बहिर्मुखता के रूप मे प्रगट होता है।

प्रायः सभी साधक मन की चंचलता, बहिर्मुखता, अशांति, विक्षेप, शोक, मोह, चिन्ता, भय आदि विकारो से परेशान रहते है। इन लोगो की बारम्बार यही शिकायत होती है कि हमारा मन बड़ा चचल और अशान्त है। किन्तु यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि जिस मन से आप परेशान हैं, क्या कभी आपने उसको देखा है? सभी का उत्तर मिलेगा—'नही!' यदि जीवन मे एक ही बार किसी साधक द्वारा देख लिया जाय तो मन की सारी चंचलता एवं बहिर्मुखता समाप्त होकर वह निर्विकार एवं निर्दोष हो जाय।

भीड़-भड़क्के में प्रायः लोगों की जेबें कटती हैं। जेब काटने वाला पास मे ही खड़ा होकर, अंग से अग सटाकर जेब काटता है, किन्तु फिर भी कटवाने वाले पाकिटमार को देख नहीं पाते। जेब कटने से पहिले यदि पाकिटमार को देख एवं पहिचान लिया जाय तो जेब नही कट सकती। ठीक यही समस्या मन की है। जब जल का तापमान शून्य पर पहुँच जाता है तो वही जल जमकर बर्फ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अपनी अभिलाषाओं एवं इच्छाओं को साकार रूप मे फलती-फूलती देखना और प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं तो मन को सकल्प-विकल्प, बहिर्मुखता, चिन्तन-मनन, विचार आदि से रहित करके सर्वथा शून्य बना देना चाहिये। तब वही मन कल्पवृक्षवत् सत्य संकल्प हो जायगा।

वास्तव मे ध्यान किया नही जाता, अपितु स्वयं होता है। इस विषय मे मुझे एक घटना याद आती है।

एक बार जापान के सम्राट् एक बौद्ध-आश्रम देखने गये। एक बौद्ध भिक्षु आश्रम के प्रत्येक स्थान को दिखाता जा रहा था और समझा रहा था कि इस झोपड़े मे भिक्षु लोग स्नान करते है, यहाँ भोजन करते हैं, यहाँ विश्राम करते हैं आदि। उन झोपड़ो के मध्य एक बड़ा ही सुन्दर भवन था। नरेश ने पूछा—'सब ठीक है, समझ गया। परन्तु वह जो सामने बड़ा-सा भवन है, उसमें भिक्षु क्या करते है ?' वह भिक्षु इस बात को ही टाल गया। सम्राट् आश्रम देखकर सिंहद्वार पर आ गये, पर भवन के विषय मे उन्हे कोई उत्तर नही मिला।

सम्राट् क्रोध से भर गया। उसने घोडे पर बैठते हुए कहा—'या तो तुम पागल हो या मैं पागल हूँ ! मैं तुम्हारा आश्रम देखने आया था, पर तुमने झोपडे ही दिखाये कि यहाँ भिक्षु यह

करते है, वहाँ वह करते है। इन सब को दिखाने की क्या आवश्यकता थी ? मध्य मे जो भवन है, उसके विषय मे मैंने कई बार पूछा भी, पर तुम इस तरह मौन हो मानो वह है ही नही।'

भिक्षु खिलखिला कर हँस पडे। सम्राट् और अधिक क्रोध से भर गया। उसने फिर पूछा—'तुम उस भवन मे क्या करते हो, बताते क्यों नही ? क्या सुनाई नही पडता ?'

भिक्षु ने कहा—'क्षमा करें सम्राट् ! आपका प्रश्न ही गलत है तो मैं उत्तर कैसे दूँ ? गलत प्रश्न का उत्तर भी गलत हो जायगा। उस भवन मे हम कुछ भी नही करते। जब आपने पूछा कि हम वहाँ क्या करते है तो मैं समझ गया कि आप करने की ही भाषा समझते है और इसलिये मैंने बताया कि यहाँ हम स्नान करते है, यहाँ भोजन करते है आदि। आप पूछते हैं कि हम भवन मे क्या करते है तो मुझे चुप रह जाना पड़ता है।'

सम्राट् ने कहा—'कुछ नहीं करते ? कुछ तो करते होंगे, यदि इसमे कुछ करते ही नही हो तो बनवाया किसलिये है ?'

सन्त ने कहा—'क्षमा करें, आप फिर कभी पधारिये ! हमने बनाया अवश्य है, पर यदि मैं आपसे कहूँ तो शायद आप समझ भी न पायेगे कि वास्तव मे हम वहाँ कुछ नही करते। वह तो हमारा ध्यान-भवन है।'

नरेश ने कहा—'तो यों क्यो नही कहते कि उसमे हम ध्यान करते है।'

सन्त ने कहा—'यही तो कठिनाई है। स्नान किया जा सकता है, भोजन किया जा सकता है, व्यायाम किया जा सकता है परन्तु ध्यान नही किया जा सकता। कुछ न करने का नाम ही तो ध्यान है।'

अब इसे प्रकारान्तर से समझाया जाता है। आटा, दाल, चावल, शाक, नमक, मिर्च, मसाला, घी, तेल, लकडी, कोयला, अग्नि, वर्तन और रसोइया (पाचक)—इन सभी वस्तुओं को एकत्रित करके भोजन तैयार करा लिया जाता है, थाली मे परोसकर, सामने रखकर, हाथ से ग्रास उठाकर, मुँह मे डाल और दातों से चबाकर निगल लिया जाता है। यहाँ तक भोजन का बहिरङ्ग साधन है। निगलने के पश्चात् भोजन का अन्तरङ्ग साधन पाचन-क्रिया, सप्त धातु का निर्माण, सप्तधातु से सूक्ष्म तत्व बनकर उसकी मन-बुद्धि-प्राण के रूप में परिणति,—ये सभी अन्तरग साधन है जो किये नही जाते। ठीक इसी प्रकार पेट की सफाई, आसन, प्राणायाम, जप, तप, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, विचार, निदिध्यासन, पूजा-पाठ, नवधा-भक्ति (नौ प्रकार की भक्ति), अष्टांग योग, ज्ञान की सप्त भूमिका आदि सभी बहिरंग साधन है जो किये जाते है। जब ये सम्पन्न हो जाते हैं तो अन्तरंग ध्यान एवं ज्ञान स्वयं होता है, किया नही जाता। इसीलिये समाधि से प्रथम ध्यान आता है।

महर्षि पतञ्जलि ने 'ध्यानम् निर्विषयम् मनः'—(साँख्य) ध्यान का स्वरूप बतलाया है। जिस समय मन मे किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प, चिन्तन, मनन, विचार आदि कोई विषय न रहे और मन शून्य या खाली हो, तब आनन्द सिन्धु, ज्ञान सिन्धु, अमृत सिन्धु, शक्ति-सिन्धु अर्थात् पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण शक्ति स्वरूप सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होता है। सूर्य का दर्शन तभी हो सकता है जब दृष्टि शून्य आकाश को पार कर जाय। किसी भी भरी हुई बोतल या बर्तन मे कोई पदार्थ तभी भरा जा सकता है जबकि पहले उस को खाली कर लिया जाय। ठीक इसी प्रकार यदि मन को

शांति, आनन्द, शक्ति, ज्ञान आदि से भरना चाहते है तो उसे खाली या शून्य करना पडेगा। जिस साधन से मन खाली या शून्य हो जाता है, उसी का नाम ध्यान है।

ध्यान तीन कोटि का है--उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ।

१---उत्तम--मन मे किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प, मनन, चिन्तन, विचार आदि न उठें। मन की ऐसी खाली या शून्य अवस्था ही उत्तम कोटि का ध्यान है।

२---मध्यम--मन जहां जाय, जाने दो, जिस किसी भी वस्तु का चिन्तन करे, करने दो। उसे जाने एवं चिन्तन करने से मत रोको, बिलकुल स्वतन्त्र छोड दो। पर जहां भी जाय और जिस वस्तु का भी चिन्तन करे, वही, उसी वस्तु में ईश्वर की सत्ता का ध्यान करे।

समुद्र की मछली ऊपर, नीचे, चारों ओर कितनी भी दूर तक दौड़े-भागे, पर वह जल या समुद्र को छोड़कर कही बाहर नही जाती। ठीक नाना प्रकार के वस्त्रो मे रुई या ऊनवत्, नाना प्रकार के भूषणों में स्वर्णवत् या नाना प्रकार के वर्तनो में धातु-वत् परमात्मा भी प्रत्येक देश, काल, वस्तु मे ओतप्रोत या व्याप्त है। वही चैतन्य सत्ता अर्थात् परमात्मा यावन्मात्र स्थावर, जंगम, चराचर नामरूपात्मक समस्त विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सर्वत्र है तो इस सिद्धान्तानुसार मन क्या है? चंचलता एवं बहिमुर्खता मे उसने किस वस्तु का चिन्तन किया और कहाँ गया? इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता के दशवें अध्याय मे कहा है—'इन्द्रियाणाम् मनश्चास्मि।'

कोई पक्षी आकाश में कितना भी भ्रमण करे, वह आकाश से बाहर कहाँ गया? इसी प्रकार से मन पूर्ण, व्याप्त, सर्वरूप

परमात्मा से दूर या बाहर कैसे, कहाँ जा सकता है ? यह वेदान्त समस्त विचारात्मक ध्यान है।

३—कनिष्ठ ध्यान - साधारण साधक जो कोई भी साधन करने में असमर्थ है, उनके लिए ध्यान की विधि बतलाई जाती है। महर्षि पतञ्जलि ने रहस्य बतलाया है - 'यथाभिमतध्यानाद्वा'—अर्थात् जो जिसका अभिमत हो, वह उसी का ध्यान करे। यदि कोई मनुष्य मन की एकाग्रता एवं शान्ति तो चाहता है, किन्तु किसी भी प्रकार का साधन करने में असमर्थ है, उसके लिए ध्यान का यह बड़ा ही सरल एवं सुगम साधन बतलाया गया है। इस विषय पर एक उदाहरण दिया जाता है।

एक योगी महात्मा शान्ति एवं समाधि के साधकों को वृत्ति-निरोध का साधन एव ध्यान सिखाया करते थे। उनके पास एक नवयुवक भी ध्यान सीखने आया। जब महात्मा ने साधन बतलाना एव सिखलाना प्रारम्भ किया तो उसने अपनी असमर्थता प्रगट करते हुए कहा कि मैं इन सभी साधनों को करने में असमर्थ हूँ। महात्मा ने उससे पूछा कि तुम ठीक-ठीक सत्यतापूर्वक बताओ कि तुम्हारा सब से अधिक प्रेम व अनुराग किस में है ? उसने प्रसन्नतापूर्वक बताया कि मेरे नगर में एक अविवाहिता नवयुवती है, उसी में मेरा अत्यधिक प्रेम है।

महात्मा ने कहा—'ठीक है। पेट की सफाई, आसन, प्राणायाम आदि बहिरंग साधन से निवृत्त होकर एकान्त स्थान में स्वस्तिक आसन में बैठकर उसी युवती का ध्यान करो।' नवयुवक यह बात सुनते ही प्रसन्नता से उछल पड़ा।' उसे तो मनचाहा वरदान मिल गया था। अन्धे को क्या चाहिये, दो आँखें। महात्मा का आदेश लेकर वह घर चला गया। उसने अपने घर में इस कार्य के लिए एक छोटी-सी कोठरी चुन ली। प्रातः तीन

बजे उठकर, शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर सर्वांग आसन, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन आदि दो-चार उपयोगी आसन कर के और दोनो प्रकार के भस्त्रिका एवं कुम्भक आदि प्राणायामो से निवृत्त होकर उसने स्वस्तिकासन से बैठकर उसी युवती का ध्यान प्रारम्भ कर दिया।

यह एक वैज्ञाकि, दार्शनिक रहस्य है कि जिसका जिस वस्तु में प्रगाढ प्रेम होगा, वह उस वस्तु का ध्यान बडी सरलता से अनायास ही कर सकेगा क्योकि मन बार-बार अत्यधिक राग वाले पदार्थ मे स्वतः ही जाता है, उसे उधर लगाना ही नही पड़ता अर्थात् ध्यान करना नही पड़ता वरन् स्वतः होने लगता है और यही ध्यान के लिए अभीष्ट है।

इस प्रकार नित्यप्रति युवक को ध्यान होने लगा। थोडे ही दिनो में उसका मन इतना एकाग्र एवं तन्मय होने लगा कि वह तीन-चार घंटे तक एक ही आसन से बैठकर उस युवती का ध्यान कर सकता था, उसका मन इधर-उधर कही भी जाता ही नही था।

इस प्रकार ध्यान करते हुए जब उसको अधिक समय व्यतीत हो गया तो महात्मा ने किसी साधक से पूछा कि वह नवयुवक एक ही दिन आया था, फिर आया ही नही। उसके क्या समाचार है? वह कुछ साधन करता है या नही। किसी ने केवल इतना ही बताया कि वह तो कई-कई घटे कोठरी मे बैठा रहता है। महात्मा जी ने स्वयं जाकर परिस्थिति का अध्ययन करने का निश्चय किया और एक साधक को साथ लेकर वही जा पहुँचे। उस समय वह ध्यान मे बैठा हुआ था। महात्मा जी कोठरी के द्वार पर जाकर बार-बार उच्च स्वर से उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे, किन्तु वह ध्यान मे इतना तन्मय था कि महात्मा

की पुकार सुन ही नही सका। जब सन्त ने अन्दर जाकर उसके सिर को पकड़कर हिलाया तब उसकी वृत्ति कुछ बहिर्मुख हुई। महात्मा ने हाथ पकडकर उसे खड़ा किया, कोठरी से बाहर निकाला और नगर से बाहर एकान्त स्थान मे ले जाकर जिस युवती के ध्यान मे उसकी वृत्ति का निरोध हुआ था, उसी मे परमात्मा का साक्षात्कार करा दिया।

यह एक अकाट्य नियम है कि संसार की जिस किसी भी नाम-रूपात्मक वस्तु या व्यक्ति का ध्यान करने मे वृत्ति एकाग्र या अन्तर्मुख हो जाय, उसी के नाम-रूप का बाध कर देने अर्थात् पर्दा हटा देने से उसमे व्याप्त चैतन्य सत्ता अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

## त्रिकुटी में ज्योति-दर्शन

पुराणों में त्रिवेणी-स्नान का बड़ा माहात्म्य है। यदि जीवन मे एक बार भी त्रिवेणी मे स्नान कर लिया जाय तो आवागमन का चक्कर छूट जाता है और परम कल्याण हो जाता है। वह कौन-सी त्रिवेणी है? वह क्या यह प्रयाग वाली त्रिवेणी ही है जिसमे लाखो नर-नारी प्रत्येक वर्ष स्नान करते है और उनका कोई कल्याण देखने में नही आता? उसी जल में असंख्य जल-जन्तु भी रहते है, उनका भी कोई कल्याण या उद्धार देखने में नहीं आता। तो वह कौन-सी त्रिवेणी है? वह त्रिवेणी है—'त्रिकुटी, आज्ञाचक्र जहाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों अर्थात् गंगा-जमुना और सरस्वती नदियो का संगम है। इसी स्थान को त्रिवेणी कहते हैं। जीवन मे एक बार भी इस त्रिवेणी मे डूब जाय अर्थात् समाधिस्थ हो जाय तो कल्याण होने मे कोई संशय नही।

इस त्रिवेणी मे स्नान अर्थात् ध्यान करने की विधि बतलाई

जाती है। सर्वप्रथम इस त्रिवेणी की तीनो धाराओ अर्थात् नदियों या नाड़ियों के सगम को भली प्रकार समझ लेना चाहिये। इडा, पिंगला और सुषुम्ना को ही गंगा, यमुना तथा सरस्वती भी कहते है। मस्तिष्क के जिस स्थान पर इन तीनो नाड़ियो का संगम है, उसी को आज्ञा-चक्र, त्रिकुटी या त्रिवेणी कहते है। इडा, गंगा या सूर्य स्वर एक ही नाड़ी के नाम है। पिंगला, यमुना या चन्द्रस्वर ये तीनो एक ही नाड़ी है। सुषुम्ना अर्थात् सरस्वती ज्ञान नाड़ी है। इन तीनो नाड़ियों का भृकुटि के मध्य में जहाँ संगम होता है, उसी स्थान का नाम त्रिकुटी या त्रिवेणी है।

इसका एक वैज्ञानिक रहस्य भी है। जो शरीर के अन्तर्गत काम कर रही है, उस समष्टि अग्नि से सम्बन्धित जितनी भी नाड़ियां है, उन सबकी प्रधान नाडी का नाम इडा या सूर्यस्वर है। इस प्रकार शरीर के अन्दर जितने भी जल तत्व है, उन सभी से सम्बन्धित समस्त नाडियाँ जिस एक नाड़ी के साथ सम्बद्ध है, उस प्रधान नाड़ी का नाम पिगला या चन्द्रस्वर है। इन दोनो नाड़ियो अर्थात् सूर्यस्वर एवं चन्द्रस्वर के द्वारा समस्त शरीर के अग्नि एवं जल तत्व का पोषण होता है। सुषुम्ना नाडी का सम्बन्ध मस्तिष्क के समस्त छः लाख तेरह हज़ार ज्ञान-तन्तुओ (सैल्स) से है। इसको ज्ञान नाडी भी कहा जाता है। गंगा-जमुना के सगम स्थान त्रिवेणी पर सरस्वती अदृश्य हो रहती है। इसी प्रकार त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी अर्थात् आज्ञाचक्र मे सुषुम्ना अर्थात् ज्ञान नाडी का संगम है। इस स्थान पर ध्यान करने से सूर्यस्वर की क्रियाशक्ति, चन्द्रस्वर की जीवनी शक्ति और सुषुम्ना की ज्ञानशक्ति प्रत्यक्ष होती है। इसी आज्ञा चक्र मे प्रकाश-बिन्दु

का ध्यान करने से मन की एकाग्रता, वृत्तिनिरोध और समाधि का अनुभव बड़ा सरल, सहज एवं सत्वर होता है।

## ध्यान की विधि

पेट की सफाई, स्नान, आसन, प्राणायाम आदि बहिरंग साधनो से निवृत्त होकर स्वस्तिक आसन मे बैठकर भृकुटी के मध्य अर्थात् आज्ञाचक्र मे प्रकाश-विन्दु का ध्यान करें। ज्यों-ज्यो वृत्ति एकाग्र होने लगेगी, त्यो-त्यो प्रकाश-विन्दु बढ़ने लगेगा। एक घन्टे की एकाग्रता मे वह प्रकाश सारे मुख-मण्डल पर छा जायगा। यही एकाग्रता जब और अधिक बढ़कर दो घन्टे की हो जायेगी तो सारा शरीर प्रकाशमय दिखलाई देगा। जब एक आसन से तीन घन्टे की एकाग्रता हो जायेगी तो सारा ससार प्रकाशमय दिखलाई पडेगा और इसके पश्चात् वृत्ति-निरोध हो जायेगा। यही ध्यान उत्तरोत्तर एक आसन से तीन घन्टे से भी अधिक होने लगेगा तो वृत्ति निरोध के पश्चात् समाधि होने लग जायेगी। समाधि की स्थिति ही त्रिवेणी में स्नान करना है।

## बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधन

मन-इन्द्रियो का विषय यह जितना भी नाना प्रकार का नाम-रूपात्मक भौतिक जगत् है, सारे का सारा मूर्ति है। किसकी मूर्ति है? चेतन ब्रह्म की! तात्पर्य यह है कि जगत् मे कोई भी ऐसा शरीरधारी नही होगा जो मूर्तिपूजक न हो। पूजने का तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार से इस नाम-रूप को मानना, व्यवहार करना अथवा आदर-सत्कार करना। संसार के अन्तर्गत मन-इन्द्रियो के प्रयोग मे आने वाली ऐसी कोई भी वस्तु न होगी जो अमूर्त हो अर्थात् सब मूर्तिमान् ही हैं।

मन्दिर, मसजिद, गिरजा (चर्च), किसी भी प्रकार की पुस्तक अथवा दिशा, अग्नि, सूर्य, जल, फोटो इत्यादि को मानना मूर्ति-पूजन ही है। माता, पिता, गुरु, स्त्री, बच्चे, अपना शरीर, घर, वस्त्र, भोजन आदि का सेवन या व्यवहार करना भी मूर्ति-पूजन ही है। सारांश यह है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरधारी प्राणी मन-इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म कर रहे हैं, वह सब मूर्तिपूजन ही है। कोई भी शरीरधारी प्राणी निराकारवादी कदापि हो ही नही सकता, क्योकि सभी भाव-पदार्थ साकार ही हो सकते है। निराकार तो वही वस्तु हो सकती है जिसका त्रिकाल मे अभाव हो, जैसे असत् वन्ध्यापुत्र, बेत के फल-फूलादि।

जिस सत्-चित्-आनन्द सत्ता को निराकार कहा जाता है, वह भी किसी मूल तत्व का सूक्ष्म आकार या स्वरूप ही तो है। यदि कोई यह कहे कि निराकार ब्रह्म तो कल्पनातीत एवं मन-इन्द्रियो से परे है, तो फिर यह ज्ञान कैसे हुआ कि वह मन-इन्द्रियो का विषय ही नही है ? यदि अतीत होने का ज्ञान हुआ, तब तो वह वृत्ति का विषय हो ही गया और यदि यह कहो कि उसका ज्ञान नही हो सकता, तो फिर यह बात जानी कैसे कि वह कल्पनातीत है ? फिर तो ये वेद-शास्त्र व्यर्थ ही होगे।

यदि वह तत्व मन-इन्द्रियो से परे है, तो फिर यहाँ कौन है ? इसलिये जो तत्त्व सर्वत्र व्यापक या पूर्ण हो उसमे परे. उरे अथवा विषय, अविषय का कोई प्रश्न ही नही बन सकता। फिर वह निराकार कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

बाध्य होकर निराकार शब्द का लक्षण यही करना पड़ेगा— 'निर्गतः आकार यस्मात् स निराकारः' अर्थात् 'निकले है सारे आकार जिससे, वह निराकार।' इससे यह बात सिद्ध हुई कि

चेतन ब्रह्म ही सूक्ष्म रूप से निराकार एवं स्थूल रूप से साकार जगत् है। किन्तु प्रत्येक व्यवहार साकार, स्थूल में ही हो सकता है, निराकार सूक्ष्म मे कदापि हो नही सकता जब तक कि सूक्ष्म का सम्बन्ध स्थूल से न हो जाय। जैसे—निराकार अग्नि व विद्युत से व्यवहार या क्रिया तभी हो सकती है जबकि साकार मनुष्य, लकड़ी, यन्त्र, तार आदि का सम्बन्ध हो जाय अथवा जैसे मनुष्य का सूक्ष्म शरीर जब तक स्थूल से सम्बन्धित न हो, तब तक किसी भी प्रकार का व्यवहार नही हो सकता। इसलिये मन-इन्द्रियो के द्वारा जितने भी व्यवहार हो रहे हैं, वे सब मूर्ति-पूजा ही हैं। अस्तु !

ईश्वर की प्रसन्नता किस प्रकार के मूर्ति-पूजन से हो सकती है ? उसका वास्तविक रूप या प्रकार इस प्रकार से है,—स्नान, शृंगार, धूप, दीप, आरती, नैवेद्य या भोग आदि,—ये मूर्ति-पूजन के अंग हैं।

(१) स्नान—जिस देश-काल मे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियो के पीने, स्नान करने, वस्त्रादि धोने के लिये जल की कमी हो, वहाँ पर्याप्त मात्रा मे जल का प्रबन्ध कर देना ही भगवान् को स्नान कराना है।

(२) शृंगार – किसी भी वस्त्र-रहित मनुष्य को वस्त्र बनवा कर उसकी कमी को पूरा कर देना अथवा अपने मन को नाना प्रकार के शुभ गुणो से सजा देना ही भगवान् का उत्तम शृंगार है।

(३) धूप—किसी भी नगर, ग्राम, घर, गली आदि मे किसी भी प्रकार की गन्दगी, दुर्गन्ध आदि कारणो से वायु-मण्डल दूषित हो गया हो कि जिससे नाना प्रकार के रोगो का भय हो, तो ऐसे स्थानो की गन्दगी को दूर करके, दुर्गन्ध को मिटाकर,

दूषित वायु-मण्डल को शुद्ध करने वाले फिनायल, डी० डी० टी० आदि कीटाणुनाशक द्रव्यों का प्रयोग ही भगवान् को धूप देना है।

(४) दीप—जिस देश-काल में अन्धकार के कारण जनता-जनार्दन को कष्ट हो रहा हो, ऐसे स्थानों को अथवा अज्ञान को निवृत्त करके नाना प्रकार की विद्याओं या आत्मज्ञान से अन्तःकरण को प्रकाशित करना ही भगवान् को दीप देना है।

(५) आरती—मानव-समाज मे कही भी यदि अविद्या या अज्ञान का अन्धकार फैल रहा हो जिसके कारण जनता विद्या व प्रचार-शक्ति से वञ्चित रहती हो, तो नाना प्रकार के विद्यालयों, विद्याओं एवं आध्यात्मिक उपदेशों की व्यवस्था करके ऐसी अशिक्षित जनता-जनार्दन की व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक अविद्या को दूर करना ही भगवान् की आरती उतारना है।

(६) नैवेद्य—जिस देश-काल मे जनता क्षुधा (भूख) से पीडित हो, वहाँ उसको अथवा घर पर आये हुए भूखे प्राणी या मानव-भगवान् की जठराग्नि मे भोजनादि की आहुति देकर उस की भूख शान्त करना ही भगवान् को भोग लगाना है।

इस प्रकार का मूर्तिपूजन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की परम प्रसन्नता का परम साधन है अर्थात् इस जनता को ही जनार्दन का रूप समझकर यथा शक्ति सेवा करना मूर्तिपूजा का वास्तविक तात्पर्य है।

मूर्तिपूजन एक प्रकार से परमहस वृत्ति (भावना) है। दो प्रकार के तत्त्ववेत्ता हुआ करते हैं,—एक 'हस', दूसरे 'परमहंस' अर्थात् विवेकी एवं ज्ञानी। दूसरे शब्दो मे एक द्वैत मतानुयाई सांख्यवादी और दूसरे अद्वैतवादी वेदान्ती।

हंस—मिले हुए दूध एवं जल को पृथक्-पृथक् करके जो दूध

को ग्रहण कर ले और जल का त्याग कर दे। तात्पर्य यह है कि जो इस जड़-चेतन(पुरुष-प्रकृति)मय जगत् को विचार द्वारा विभक्त करके, चेतन तत्त्व को अपना आत्मा मानकर, मन-बुद्धि-प्राण-शरीरादि के संघात से चेतन आत्मा को असंग, नित्यमुक्त निश्चय करे अथवा चेतन के अतिरिक्त सारे संघात को जड़ प्रकृति निश्चय करे, उसे विवेकी या हंस कहते हैं।

परम हंस—अभी तक जिस जड़ तत्त्व, प्रकृति या माया की सत्ता को चेतन तत्त्व से भिन्न मानते थे, अब उस को भी चेतन सत्ता मे लय करके केवल एक चेतन ब्रह्म को ही सर्वरूप अनुभव करना, जैसे जल को दूध मे ही लय कर देना अर्थात् जल-दृष्टि को ही समाप्त कर देना ही परमहंस का लक्षण है। तात्पर्य यह निकला कि अभी तक जिन पाषाणादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष में जड़ देखते थे, अब उन्हीं को,—वर्फ को जलरूपवत्,—चेतन तत्त्व ही अनुभव करने वाला परमहंस कहा जाता है।

हिन्दू, जैनी एवं बौद्ध समाज मे जिस प्रकार की मूर्ति-पूजा प्रचलित है, ऐसे पूजन या भावना से जड़त्व निवृत्त न होकर और भी अधिक दृढ हो जाता है, क्योंकि इसमे प्रत्यक्ष चेतन का तिरस्कार किया जाता है। यदि मन्दिर में कोई पशु, पक्षी या भूखा मनुष्य चला जाय तो उसे मार-पीट कर बाहर निकाल दिया जाता है जबकि मन्दिर को भगवान् का निवास-स्थान माना जाता है और वहाँ हर प्रकार के प्राणी को जाने का अधिकार होना चाहिये। क्या यह बात किसी से छिपी हुई है कि एक बार एक कुत्ता सूखी रोटी लेकर भागा तो श्री नामदेव घी की कटोरी लेकर यह कहते हुये उसके पीछे-पीछे भागे कि प्रभो! रोटी चोपड़ देने दो? इन बातो से यह सर्वथा सिद्ध

हो गया कि इन मूर्ति-पूजको में भक्त नामदेव जैसी चेतन-भावना होनी चाहिये।

प्रत्यक्ष में भासने वाला यह नाम-रूपात्मक स्थूल जगत् ही सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म का स्थूल शरीर या मूर्ति है और हम लोगो के स्थूल शरीर ही मन्दिर हैं। इन शरीरों में चलने वाला श्वास ही प्राण-प्रतिष्ठा है और इनमे विराजमान् चेतन आत्मा ही साक्षात् ईश्वर है। सारांश यह है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का निश्चय ही परमहंस वृत्ति है। कविराय गिरधर लिखते है:—

परमहंस की वारता सुन ले मेरे यार,
जैसे उसको वैश्या तैसे ठाकुरद्वार।
तैसे ठाकुर द्वार, रंच ना राखे राई,
अर्जुन को उपदेश दियो यहि कृष्ण कन्हाई॥
कहि गिरधर कविराय जिन माना
एकहि कृष्ण और कन्स।
सच्चा सोई ज्ञानवान और पूरा ओही परमहंस॥

## योग-साधन

परमहंस वृत्ति की प्राप्ति के लिये योग एक प्रशस्त साधन है। मूर्ति-पूजन का वास्तविक उद्देश्य चेतनानुभूति की उत्तरोत्तर वृद्धि है। योग-साधन मे समाधि द्वारा इसी लक्ष्य की सिद्धि होती है, अतः यहाँ योग के विषय मे थोड़ा विचार उपयुक्त होगा।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—चित्त की वृत्तियों का निरोध कर देना ही 'योग' है। सब प्रकार की सफलताओ की एकमात्र

यही कुञ्जी है। प्रत्येक कार्य, फल, संकल्प एवं इच्छा की पूर्ति या सिद्धि इसी साधन के द्वारा सुगमता तथा शीघ्रतापूर्वक हो सकती है। यह तथ्य युक्ति, अनुभव, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक कसौटियो पर पूरा उतर चुका है। अतएव इस बात का विचार किया जाता है कि 'चित्त वृत्ति निरोध' का क्या तात्पर्य है?

इसका विचार योगदर्शन की पद्धति से नहीं किया जायगा, स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्त:करण की एक ही वृत्ति जब सकल्प-विकल्प करती है तब मन*, जब निश्चय या विचार करती है तब 'बुद्धि', जब चिन्तन करती है तब 'चित्त' तथा जब 'अभिमान' (मैं-पन की भावना) करती है तब 'अहकार' के नाम से कही जाती है। वृत्ति के इन सभी व्यापारो के समाप्त हो जाने को ही 'वृत्तिनिरोध' कह सकते है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वृत्ति में चंचलता ही क्यों है जिसका निरोध करने की आवश्यकता है?

किसी रोग की चिकित्सा करने से प्रथम उसका निदान (कारण का निश्चय) कर लेने से सरलता व शीघ्रतापूर्वक रोग की निवृत्ति हो सकती है।

---

*मन का दूसरे प्रकार से लक्षण—संकल्प व विकल्प,—दो प्रकार की वृत्तियो के सयोग का नाम ही 'मन' कहलाता है। सङ्कल्प चेतन का अंश है, इसलिये पहिले-पहिले शुद्ध और सार्थक ही उठता है। विकल्प जड का अंश है, इसलिये बाद में बार-बार अशुद्ध एवं व्यर्थ ही उठता रहता है। अत: मन के 'विकल्प दोष' को निवृत्त करना ही अन्त:करण की शुद्धि है। विचार द्वारा 'विकल्प दोष' को जड़ प्रकृति मे तथा संकल्प को चेतन मे लय कर देने से मन की सत्ता ही नहीं रहेगी।

यदि मन का स्वभाव ही चंचल हो तो वह किसी भी साधन से कदापि निरुद्ध नहीं हो सकता। जैसे, अग्नि का स्वभाव ऊष्ण है, अतः अग्नि के रहते हुए उसकी ऊष्णता (दाहकता) अवश्यमेव रहेगी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि किसी चंचल पदार्थ के संयोग से ही मन मे चंचलता आई है। इसीलिये शास्त्र-कारों ने मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक माना है।

मन का अपना स्वरूप केवल संकल्प अर्थात् वृत्ति रूप है। विषयों व चंचल इन्द्रियों के संयोग से मन में विकल्प-दोष प्रवेश कर जाता है अथवा दूसरे प्रकार से यह भी कह सकते है कि चंचल (क्रियात्मक) प्राणो के संयोग से मन चंचल हो जाता है।

इस चंचलता का निरोध करने के लिये दो प्रकार के योग को प्रधानता दी गई है, – राजयोग और हठयोग।

राजयोग से विचार, ध्यान इत्यादि साधनो द्वारा विकल्प-दोष निवृत्त होकर मन शुद्ध तथा एकाग्र हो जाता है। हठयोग से आसन, प्राणायामादि साधनों द्वारा प्राण का निरोध हो जाने से मन की चंचलता निवृत्त हो जाती है, क्योकि मन तथा प्राण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अर्थात् मन के रुकने से प्राण रुक जाता है और प्राण के रुकने से मन रुक जाता है। ऐसे ही प्राण के चलने से मन चंचल होता है और मन के चंचल होने से प्राण भी चलायमान होता है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के योग-साधनो का विचार करने से प्रथम मन की एकाग्रता तथा निरोध के रहस्य, महिमा व परि-णाम का विचार करना अत्यावश्यक होगा।

यदि किसी वस्तु को कच्चे सूत्र से बांधना चाहें तो बँधने से पहले सूत्र ही टूट जायगा। उसी सूत्र-गुच्छ को एकत्रित करके

यदि एक मोटा रस्सा बना लिया जाय तो उससे बलवान् हाथी तक को भी बाँधा जा सकता है।

इसी प्रकार हमारे चित्त (मन) की वृत्तियाँ नाना प्रकार के सांसारिक पदार्थों के चिन्तन या इच्छाओं के कारण कच्चे सूत्र की भाँति छिन्न-भिन्न हो रही है। इन्ही बिखरी हुई वृत्तियों को ध्यान के द्वारा यदि किसी एक लक्ष्य पर एकाग्र (केन्द्रित) कर दें तो मनोबल के बढ जाने से इच्छापूर्ति एवं कार्य या संकल्प की सिद्धि हो जाती है।

इसी बात को वैज्ञानिक ढंग से विचारा जाता है। जिस प्रकार विद्युत् करेण्ट (नैगेटिव-पोजेटिव पाइन्ट) बल्ब में रहते हुए भी तब तक क्रियात्मक होकर प्रकाश के रूप मे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जब तक कि दोनो पॉइन्ट्स का संयोग न हो जाय। इसी प्रकार मन व आत्मा का संयोग होने से ही मन शक्तिशाली होकर सारे सकल्पो को सिद्ध (पूर्ण) कर सकता है।

ध्यान से एकाग्रता होती है, एकाग्रता से आत्मा और मन का संयोग होता है और आत्म-मन-संयोग से मन शक्तिशाली होता है।

दूसरी युक्ति से भी इस बात का विचार किया जाता है। माचिस के ऊपर वही मसाला लगा होता है जो सीक या तीली (शलाका) मे होता है किन्तु जब तक उस तीली में लगे मसाले को डिब्बी के ऊपर लगे मसाले से संयोग करके घिसा न जाय, तब तक उसमे रहने वाली अग्नि प्रत्यक्ष होकर अपना कार्य नहीं कर सकती।

इसी प्रकार आत्मा मे जो चेतन तत्त्व है, मन मे भी वही चेतन तत्त्व है। जब मन विकल्प से रहित होकर एकाग्र हो जाता है, तभी इसका संयोग आत्मा से होता है। फिर वही

चैतन्य संकल्प-सिद्धि या शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे प्रत्येक संकल्प या कार्य की सिद्धि होती है।

एक बड़े रहस्य की बात यह है कि संसार के किसी भी पदार्थ मे वृत्ति एकाग्र हो जाय तो उस पदार्थ मे व्यापक चेतन (ईश्वर) आत्मरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है, -और ईश्वर का आत्मरूप से अनुभव हो जाना ही मोक्ष या कल्याण है।

## हठयोग

उपरोक्त दोनों प्रकार के योग-साधन करने के लिये कुछ संयम तथा नियम पालन करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम साधक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि पेट मे मल व वायु की अधिकता होगी तो अभ्यास मे बैठने पर शरीर मे आलस्य, नीद, थकावट आदि का अनुभव होने लग जायगा, वृत्ति चंचल हो जायगी और रुकेगी नही। इसलिये साधक को रेचक औषध अथवा आसनादि उपचारो के द्वारा पेट को अवश्य साफ कर लेना चाहिये।

रेचक औषध:—गुलाब के फूल, सौफ, मुलहठी,—तीनो समभाग लेकर, इनको कपडछान करके इस चूर्ण का चतुर्थांश सोडा-बाई-कार्ब मिला ले। कुल चूर्ण का आधा भाग देशी चीनी इसमे मिलाकर शीशी मे रख ले। रात को सोते समय, प्रकृति के अनुसार, छः माशे से डेढ तोले तक, एक गिलास ताजे जल के साथ लेवे तो प्रातः ४ वजे उठते ही पेट साफ हो जायगा।

साधक को दो अथवा तीन बजे अवश्य उठ जाना चाहिये। अभ्यास में बैठने के पहिले पाँच मिनट का पश्चिमोत्तान आसन अवश्य कर लेना चाहिये। इस आसन से शरीर के आलस्य, थकावट आदि साधन के विघ्न नही आयेगे। इसके साथ-साथ

चन्द्र स्वर का जल तत्व अवश्य चला दे, क्योंकि जिस मन को रोकना है, उसका देवता चन्द्रमा है। *चन्द्रस्वर के द्वारा शांत, शीतल स्वभाव वाले चन्द्रमा से मन का सीधा सम्बन्ध हो जाने के कारण मन मे शीतलता व शान्ति आ जाती है।

रेचक आसन·—प्रातःकाल शौच से प्रथम दो गिलास पानी पीकर भूमि पर शव-आसन से लेट जाय। कमर को न उठने दे। पैर की एडी से लेकर जंघा तक के भाग को सीधा रखते हुए ही धीरे-धीरे पृथिवी से ऊपर उठावे। दो फिट तक ऊपर उठाकर फिर धीरे से एडी को भूमि पर टिका दे। इसी प्रकार से दोनों पैरो को ऊपर ले जावे तथा नीचे लावे। तीन बार हो जाने पर खड़ा हो जाय। इसके बाद शौच जाने पर पेट अच्छी तरह साफ हो जायगा।

अभ्यास करने के स्थान, आसन इत्यादिः—अगरबत्ती, पुष्प आदि से सुगन्धित व सुसज्जित एकान्त कुटीर मे नित्यप्रति एक ही स्थान पर कुशासन, गद्दी, कम्बलादि बिछावे। आसन पर स्वस्तिक (सुख) आसन से बैठे। इस आसन की विधि इस प्रकार है कि बाये पैर की एडी गुदा और उपस्थ के मध्य को केवल छूती रहे। फिर उसी पर दाहिना पैर रखे। कमर, पीठ और ग्रीवा सीधी रखे। अभ्यास-कुटी मे अन्य किसी को आने-जाने न दे ताकि कुटी के पवित्र परमाणु दूषित न होने पावे।

---

* स्वर चलाने की विधि—जिस स्वर को चलाना हो उस स्वर को ऊपर करके अर्थात् उसके विपरीत करवट से लेट जाय। फिर अन्दर की सारी वायु को नाक के द्वारा बाहर निकालकर ३-४ बार बाह्य कुम्भक करने से अभीष्ट स्वर चलने लगेगा। इस प्रकार से कोई-सा भी स्वर चला सकते हैं।

# ध्यान की विधियाँ

१—प्रत्येक शरीरधारी प्राणी के अन्दर से बाहर जाने वाले श्वास से 'हम्' की तथा भीतर आने वाले श्वास से 'सो' की ध्वनि निकल रही है जिसका अर्थ है—'सो' अर्थात् व्यापक चेतन ब्रह्म और 'हम्' अर्थात् अपना आपा (आत्मा)। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शरीरधारी को श्वास-प्रश्वास द्वारा यह प्राकृतिक सूचना दी जा रही है कि हे शरीरधारी प्राणी ! तू यह शरीर नही है, व्यापक चेतन है। इसी प्रकार अपने प्रत्येक श्वास का ध्यान करे। इस प्रकार से एक घण्टा ध्यान करने से वृत्ति एकाग्र होने (रुकने) लग जायगी। जब दो घण्टे का ध्यान होगा तव वृत्ति निरुद्ध होने लगेगी। जब एक ही आसन से तीन घन्टे ध्यान होने लगे तो समाधि का अनुभव होने लगेगा।

२—उपरोक्त प्रकार से अर्थ सहित 'ॐ' का ध्यान करने से भी एकाग्रता, वृत्तिनिरोध एवं समाधि का अनुभव हो सकता है।

३—'यथाभिमत ध्यानात् वा'—अर्थात् जो उपरोक्त एवं भिन्न-भिन्न अन्य साधनों में असमर्थ है, उसका जिस वस्तु मे सबसे अधिक राग हो, वह उसी का ध्यान करे। राग वाले पदार्थ का ध्यान करने से सरलता व शीघ्रतापूर्वक वृत्ति का निरोध हो जाता है। जिसका ध्यान करने से वृत्ति निरुद्ध हो गई है, उसी में व्यापक ईश्वर चेतन आत्म रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर का आत्म रूप से प्रत्यक्ष हो जाना ही मोक्ष या कल्याण है।

जिस प्रकार नैगेटिव-पॉजिटिव पाइन्ट का जव, जहाँ, जिस मशीनरी, पंखे या बल्बादि मे संयोग होगा, वही, उसी समय और उसी वायर मे विद्यमान् विद्युत शक्ति क्रियात्मक रूप से प्रत्यक्ष हो जायगी अर्थात् विद्युत शक्ति का जिस मशीनरी से सम्बन्ध होगा, वही काम करने लग जायगी। इसी प्रकार प्रत्यक्ष

हुई आत्मिक शक्ति से जिस इच्छा या संकल्प का सम्बन्ध होगा, वही कार्य सिद्ध हो जायगा।

## सर्वोत्तम राजयोग

४—इसको लय योग भी कहते है। वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मनोनिग्रह एवं सर्वात्मभाव के दृढ़ एवं अपरोक्ष अनुभव के लिये यह साधन सर्वोत्कृष्ट है। इसकी विधि इस प्रकार है— उपयुक्त आसन से वैठकर इस वात का ध्यान रक्खे कि मन में किसी भी प्रकार का कोई भी शुभाशुभ संकल्प या चिन्तन न होने पावे। मन को सर्वथा शून्य (कल्पना रहित) कर दे। मन की यह स्थिति जव तक रहे, रहने दे। जव किसी भी प्रकार का चिन्तन होने लग जाय तो मन को स्वच्छन्द छोड़ दे, जहाँ जाय जाने दे तथा जिस (वस्तु) का चिन्तन करे करने दे,—परन्तु मन जिस वस्तु का भी चिन्तन करे, उसी मे ईश्वर की भावना करे।

आकाश मे पक्षी कितना भी इधर-उधर उड़े, परन्तु आकाश को छोडकर जायगा कहाँ? समुद्र मे मछली कितना भी इधर-उधर भागती फिरे, परन्तु समुद्र को छोडकर कहाँ जा सकती है? इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ईश्वर सव जगह, सब समय एवं सव मे व्यापक या पूर्ण है, तव क्या मन सहित समस्त चिन्तनीय पदार्थों मे भी वही नही है? यदि है, तो उसी का चिन्तन भी हुआ।

तात्पर्य यह है कि सभी नाम-रूपात्मक दृश्यमान् पदार्थ जिनका मन चिन्तन करता है, अधिष्ठान् (ईश्वर) में अध्यस्त है। अधिष्ठान् से अतिरिक्त अध्यस्त की सत्ता न होने से वे सव अधिष्ठान् रूप ही है। अतः जिस ज्ञानी, योगी एवं भक्त की वृत्ति जितनी ही अन्तर्मुख होगी, वह उतना ही अधिक सुखी व शान्त होगा।



# त्रिदोषों की अचूक औषध

मनुष्य के जीवन मे पतन (गिरावट) स्वाभाविक है। नाना प्रकार के दोष, दुर्गुण, विकार उसमे स्वयं ही उसी प्रकार आ जाते है जिस प्रकार कि प्राय: घरो या कमरो में नाना प्रकार का कूड़ा-करकट-धूल आदि आ जाते है जिनकी सफाई के लिये नाना प्रकार के साधन एवं प्रयत्न करने पडते हैं। शरीर में नाना प्रकार के रोग स्वयं ही आ जाते है, परन्तु उनकी निवृत्ति के लिये नाना प्रकार के साधन एवं प्रयत्न करने पड़ते है।

जैसे समस्त ससार की नदियाँ हजारो मीटर ऊँचाई से बिना किसी साधन के स्वयं ही बहती एवं गिरती हुई चली आ रही है, इसी प्रकार मानव-समाज मे नाना प्रकार के दुर्गुण, दोष, अत्याचार, अनाचार, पापाचार, व्यभिचार आदि गिरावटे देखने में आ रही है। ये गिरावटे स्वत: आती है, इनके लिये किसी प्रकार का कोई प्रयत्न या साधन नही करना पडता।

चोरी, डकैती, व्यभिचार, शराब, जुआ, अन्य नशीली चीजें, झूठ, कपट, दम्भ, पाखण्ड, छल-छिद्र, मिलावट, घूसखोरी आदि नाना प्रकार के पापाचार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, राग, द्वेष, नाना प्रकार के पक्षपात, अहंता, ममता, वासना आदि अन्त:-करण के विकारों को सिखाने के लिये किसी भी राष्ट्र या देश में कोई स्कूल, कालेज या ट्रेनिंग सैन्टर खुला हुआ नही है जहां इनका अभ्यास कराया, पढाया या इनकी शिक्षा दी जाती हो।

ये सभी दुर्गुण, दोष, विकार आदि जो मनुष्यों मे स्वाभाविक ही देखने मे आ रहे है;—क्यो है ? इसका वैज्ञानिक रहस्य है पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Gravity) या गुरुत्वाकर्षण जिसका स्वभाव प्रत्येक वस्तु को पतन की तरफ खीचना है।

यदि कोई पत्थर का टुकड़ा आकाश मे फेका जाय तो पृथ्वी उसे अपनी ओर खीच लेती है। यदि कोई वस्तु पृथ्वी से ४०० मील तक भी ऊपर चली जाय तो भी पृथ्वी उसे अपनी ओर खीच लेती है क्योकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की सीमा ४०० मील है। इसी कारण जितने भी पार्थिव स्थूल पदार्थ हैं, उनमें गिरावट स्वाभाविक है। गिरी हुई वस्तु को ऊपर उठाने के लिये बड़े-बड़े प्रयत्न एवं साधन करने पड़ते हैं। मनुष्य के उत्थान एवं पतन का यह भी एक रहस्य है। पतन स्वाभाविक है, उत्थान पुरुषार्थ-साध्य है। पाप स्वाभाविक है, पुण्य साधन-साध्य है। दोष-दुर्गुण, विकार स्वाभाविक हैं, निर्दोष, सद्‌गुणी और निर्मल बनना साधन-साध्य है ।

काम, क्रोध, लोभ, पाँच प्रकार के विषय और तीन प्रकार के गुणों का जब तक मनुष्य जीवित है, तब तक त्याग नहीं कर सकता। हाँ, इनका संयम और सदुपयोग किया जा सकता है। इसी मे लाभ है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंता, ममता आदि दोष अन्तःकरण की वृत्तियाँ है। काम, लोभ एवं क्रोधाकार सूक्ष्म वृत्तियां मन से उदय होती हैं और स्थूल उग्र रूप धारण करके व्यवहार (क्रिया) मे आने पर मनुष्य को बड़ी-बड़ी भयंकर आपत्ति, विपत्ति, दुःख एवं मृत्यु तक का शिकार बना देती है। यदि इन वृत्तियो को शरीर, व्यवहार एवं मन में अनुचित उग्र रूप धारण करने से प्रथम ही संयत कर लिया जाय

तो साधन से धीरे-धीरे इन दोषों पर विजय प्राप्त हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में कहा भी है—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।'

'बुद्धि, मन, इन्द्रियों, शरीरादि का पतन एवं विनाश करने के लिये काम, क्रोध, लोभ आदि नरक (दुःख) के दरवाजे है, इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।'

भगवान् ने काम, क्रोध, लोभ,—इन तीनो को नरक का द्वार बतलाया है। नरक नाना प्रकार के दुःखों को और द्वार प्रवेश करने के मार्ग को कहते है। जिस दरवाजे से अन्दर प्रवेश किया जाता है, उसी से बाहर भी निकल सकते हैं। प्रवेश करने एवं निकलने का प्रायः एक ही द्वार होता है। जब मकान के अन्दर की ओर मुँह करके द्वार मे प्रवेश करेंगे तो भीतर चले जायेंगे। इसके विपरीत पीठ अन्दर और मुँह बाहर की ओर करके बडी सरलता एवं सुगमता से घर से बाहर निकल आयेंगे। सारांश मे नरक के इन तीन दरवाजो से बाहर निकलने के लिये इन्ही तीनो का सहारा लीजिये जिनके द्वारा कि प्रवेश किया था अर्थात् महाकामी, महाक्रोधी, महालोभी बनने से इन तीनो नरक के द्वारो अर्थात् सभी दुःखो से मुक्त हो जायेगे।

### काम

काम के दो अर्थ होते है, प्रथम कामना एवं द्वितीय राजस प्रेम के द्वारा स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से सन्तानोत्पत्ति। यदि मनुष्य कामना एवं सन्तानोत्पत्ति के कारण काम (सैक्स) को समाप्त कर दे तो उसका व्यवहार एव शरीरधारी प्राणियो की सृष्टि ही समाप्त हो जायेगी। इस काम को उचित रूप मे प्रयोग मे लाया

जाय तो यह सुख-समृद्धि का साधन बन सकता है, पर यदि इस का दुरुपयोग किया जाय तो विनाश एवं घोर नरक (दु ख) का भी साधन बन सकता है। अर्थात् इसके सदुपयोग एवं दुरुपयोग मे ही सारा रहस्य है। जैसे भोजन में अमृत होते हुए भी यदि सग्रहणी, पेचिश आदि रोगों मे दूध और घी का सेवन रूपी दुरुपयोग किया जाय तो भयंकर दुःख एवं मृत्यु का कारण बन सकते है जबकि ये सामान्यतया पौष्टिक, बलवर्धक, आरोग्य-दायक एवं अमृत रूप है। इसी प्रकार हर प्रकार की सुख-सुविधा के लिये विद्युतशक्ति का प्रयोग होता है, किन्तु दुरुपयोग से यही शक्ति भयंकर दु खो एवं मृत्यु तक का कारण बन जाती है।

मोक्ष. समाधि, ईश्वर, अन्तःकरण की शुद्धि आदि की इच्छाये भी एक प्रकार की कामनायें ही हैं, किन्तु ये कामनाये शेष सब कामनाओ के बन्धन से छुड़ा देती हैं। जहाँ यह काम पत्नी के राजस प्रेम द्वारा सुख एवं सन्तानोत्पत्ति का कारण है, वही दूसरी ओर भयंकर अपकीर्ति, दु ख, विक्षेप एवं मृत्यु का कारण भी बन जाता है। अब काम के प्रथम अर्थ का विशद रूप से विवेचन किया जाता है।

कामना, इच्छा, वासना आदि पर्यायवाची शब्द हैं, इनका अर्थ एक ही होता है। इस कामना के बिना किसी की, कभी भी, कहीं भी, किसी भी प्रकार के कार्य में प्रवृत्ति नही हो सकती। हर प्रकार की शुभाशुभ प्रवृत्ति का हेतु, यहाँ तक कि मोक्ष एवं भगवद्प्राप्ति की इच्छायें भी कामनाओ के ही अन्तर्गत हैं। इसके बिना संसार मे किसी भी प्रकार की कोई भी प्रवृत्ति नही हो सकती। ईश्वर भी इससे रहित नही है। वेदों मे यह वर्णन आया है कि जब यह सृष्टि नही थी तो ईश्वर ने कामना की — 'एकोऽहम् बहुस्याम प्रजायेय', —'मैं एक से अनेक हो जाऊँ।' जब

इस सारे चराचर जगत् का उपादान कारण ही कामना (इच्छा) है तो भला इसके बिना कोई भी प्राणी जीवित कैसे रह सकता है ?

समाधि, सुषुप्ति एवं तुर्या आदि अवस्थाओं मे मन इच्छा से रहित अर्थात् अमन होता है, किन्तु व्यावहारिक जीवन मे कामना के बिना कोई भी शुभाशुभ व्यवहार नही हो सकता। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो कामना ही संसार है। जब तक कोई व्यक्ति संसार मे है और उसे संसार की अनुभूति हो रही है तो यह बात निश्चित् रूप से समझ लेनी चाहिये कि उसमे कामना अवश्य है। कामना और संसार पर्यायवाची है।

नाना प्रकार की इच्छायें, वासनाये, कामनाये, दोष, दु.ख, विकार, व्याधि, उपाधि, पापाचार, अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचार, शम, दम, सन्तोष, विवेक, वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, सहानुभूति, दया, उदारता, सहनशीलता, समता, सेवा, शान्ति, त्याग, विद्या, भक्ति, ज्ञान, योग आदि अनन्त शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ कहाँ और किसमे हैं ? कहना पडेगा कि संसार अर्थात् परमात्मा मे है। ये सभी शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ (कर्म) जिन व्यक्तियो तथा प्राणियो मे होती हैं, वे सभी कहाँ रहते है ? कहना पड़ेगा कि पृथ्वी पर। पृथ्वी कहाँ है ? आकाश मे। आकाश कहाँ है ? महातत्व मे। महातत्व कहाँ है ? प्रकृति मे। प्रकृति कहाँ है ? ईश्वर मे। ईश्वर कहाँ है ? परमेश्वर मे। इससे सिद्ध हुआ कि समष्टि, व्यष्टि, सृष्टि, दोष, दुर्गुण, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित सभी परमात्मा मे ही है। वह पूर्ण एवं व्याप्त है, इसलिये इन सबका उसके अन्दर होना स्वाभाविक ही है। इनके साथ युद्ध एवं संघर्ष न करके इनमे से केवल अपने कर्तृत्व अभिमान को ही निवृत्त करना है। इसके

अतिरिक्त परम कल्याण का अन्य कोई दूसरा साधन नही है, क्योकि जिन भक्ति, ज्ञान एवं योग से कल्याण माना गया है, यदि कर्तृत्व अभिमान निवृत्त न हुआ तो वे सब भी निरर्थक हो जाते हैं।

आप अपने सामने दो प्रकार के वाक्य लिखकर विचार कीजिये। पहला वाक्य—'हो रहा है।' दूसरा वाक्य—'कर रहा हूँ।' यद्यपि दोनो वाक्यो में कर्त्ता एवं कर्म एक ही है, किन्तु एक वाक्य मे कर्त्तापन का अभिमान विद्यमान् है और दूसरे वाक्य मे कर्त्तापन के अभिमान से रहित कर्म स्वाभाविक हो रहा है। जब कोई किसी भी प्रकार के कर्म का कर्त्ता बनेगा, तो वैधानिक रूप से उसे उसका भोक्ता भी बनना पड़ेगा। एकमात्र यही सिद्धान्त कर्मफल और कर्मबन्धन का कारण है।

दूसरे प्रकार की परिस्थिति मे जो भी कर्म हो रहे हैं, वे बिलकुल इसी प्रकार स्वाभाविक हैं, जैसे हवा चल रही है, नदी बह रही है, पृथ्वी घूम रही है, सूर्य प्रकाशित हो रहा है। निद्रावस्था मे समस्त क्रियायें, रक्त का संचार, नाडियो का फड़कना, प्राणो का गमनागमन, पेट की पाचन-क्रिया इत्यादि कर्त्ता के प्रयत्न बिना स्वाभाविक ही होती है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था मे भी बिना किसी कर्त्ता के क्रियायें स्वाभाविक होती हैं, किन्तु मिथ्याभिमान के कारण मनुष्य स्वयं को कर्त्ता मान बैठता है। आखें देखती है तो कहता है—'मैं देख रहा हूँ।' कान सुनते है तो कहता है—'मै सुनता हूं।' वाणी बोलती है तो कहता है—'मै बोल रहा हूँ।' हाथ कार्य करते हैं तो कहता है—'मैं कार्य कर रहा हूँ।' पैर चलते है तो कहता है कि मैं चलता हूँ। मन संकल्प-विकल्प करता है तो कहता है कि मैं संकल्प-विकल्प

करता है तो कहता है कि मैं संकल्प-विकल्प करता हूं। बुद्धि विचार करती है तो कहता है कि मैं विचार करता हूं। यदि इन्द्रियों की इन सहज-स्वाभाविक क्रियाओं के साथ 'मैं' का सम्बन्ध न जोड़ा जाय तो भी बडे सुन्दर सुचारु रूप से उत्तमतम व्यवहार होगा। इनके साथ कर्त्तापन के अभिमान का सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य व्यर्थ ही मुसीबतों का शिकार बन जाता है। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता के तीसरे अध्याय मे कहा है—

'प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥'

—'मनुष्य के मन, वाणी शरीर आदि संघात द्वारा जितने भी शुभाशुभ कर्म होते है, वे सभी प्रकृति एवं उसके गुणो के द्वारा किये जाते है। अहकार एवं अज्ञान से आच्छादित बुद्धि वाला स्वयं (आत्मा) को ही कर्त्ता मान लेता है।'

'तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयो:।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥'

—'किन्तु जो तत्ववेत्ता ज्ञानवान् पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को आकाशवत् सर्व संघात से अलग एवं असंग जानते है, वे इस बात को भली प्रकार से समझते है कि सभी मे अपने गुण एवं स्वभाव के अनुसार चेष्टायें हो रही है। वे किसी मे आसक्त नही होते अर्थात् बधते नही।'

अभिमान तीन प्रकार के होते है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण। स्थूल शरीर के सुख-दु.ख रूप समस्त व्यवहार क्रियायें और इससे सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, माता पिता, परिवार, दुकान, मकान, द्रव्य, जमीन, सम्पत्ति आदि के अभिमान को स्थूल अभिमान कहते है। शुभाशुभ कामनायें, सुख-दुःख स्वर्ग-नरक, लोक-परलोक, राग-

द्वेष, हानि-लाभ, शान्ति-अशान्ति, ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, शीत-उष्ण, बन्धन-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान आदि अन्तःकरण से सम्बन्धित दोषों एवं गुणों में जो अभिमान है, उसको सूक्ष्म अभिमान कहते हैं। स्थूल एवं सूक्ष्म दोनो अभिमानों में निरभिमानता के अभिमान को कारण अभिमान कहते हैं।

व्यावहारिक रूप मे इस कारण अभिमान से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि वाणी और व्यवहार मे जिस अभिमान का उपयोग हो, उसे भी एक प्रकार से अन्तःकरण का ही धर्म या वृत्ति समझें, क्योकि उसका ज्ञाता ज्ञानस्वरूप आत्मा उससे पृथक् एवं स्वतः सिद्ध असंग है।

भक्ति-मार्ग के साधक के शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण आदि सभी भगवान् के हो जाते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि उस भक्त की वाणी से मैं (अभिमान) का प्रयोग होता हुआ देखने मे आता है तो वह भगवान् का ही अभिमान है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भक्ति के साधक आत्म-समर्पण कर देने पर भी अभिमान से नही छूटते, सूक्ष्म रूप से अभिमान को पकड़े ही बैठे रहते हैं। अवसर पाकर यही छिपा हुआ अभिमान प्रगट हो जाता है और अपने सूक्ष्म रूप मे भगवद्प्राप्ति में प्रतिबन्ध बना रहता है जिसका साधक को पता ही नही लगता। इस विषय को साधकों को समझाने के लिये दृष्टान्त दिया जाता है।

गंगा किनारे एक बडे ही उच्च कोटि के भक्त सन्त रहते थे और वहाँ से कुछ ही दूरी पर एक भगवान् का मन्दिर था। ये उस मन्दिर मे नित्य प्रातः भगवान् का दर्शन करने जाते थे। भगवान् बडे कौतुकी हैं। भगवत्-दर्शन मे प्रतिबन्ध उसके सूक्ष्म अभिमान की निवृत्ति के लिये भगवान् ने एक बड़ा उत्तम तरीका निकाला। जब ये महात्मा दर्शन के लिये मन्दिर मे पहुँचते तो

भगवान् इनकी ओर पीठ कर लेते थे और ये रुदन करके वापिस अपनी कुटिया पर चले आते थे। इसका कारण यह था कि रास्ते में गलित कुष्ट से पीड़ित एक दुःखी मनुष्य रहता था। जब ये सन्त मन्दिर में दर्शन के लिये जाते तो वह नित्य इनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता था कि भगवन् ! या तो मुझे इस रोग से मुक्त कर दीजिये या इस जीवन को समाप्त कर दीजिये। सन्त उसको यही आश्वासन देते थे कि भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगे। पर उसका रोग ज्यों का त्यो बना रहा।

एक दिन वह कुष्टी महात्मा के पैर पकड़कर रोने-गिड़गिड़ाने लगा कि मेरे जीवन को समाप्त करके गंगा मे डाल दीजिये, अब मैं इस से तंग आ चुका हूँ। महात्मा के मुँह से अचानक निकल गया--'जाओ, ठीक हो गए !' ऐसा कहते ही वह मनुष्य तत्क्षण सर्वाङ्ग सुन्दर निरोग हो गया। तत्पश्चात् वे दोनो भगवान् के दर्शनों के लिए मन्दिर में पहुँचे तो भगवान् मुस्कराते एवं दोनों हाथ फैलाये सन्त की प्रतीक्षा मे खडे थे। जैसे ही सन्त पहुँचे भगवान् ने उन्हें छाती से लगा लिया।

महात्मा इस अपूर्व सुखद दृश्य को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने प्रभु से पूछा--'प्रभो आज आपकी यह कैसी विचित्र लीला देखने में आ रही है ?'

भगवान् ने कहा—'यह लीला नही, ध्रुव सत्य है। अभी तक तुम अपने मन, बुद्धि. अन्तःकरण, प्राण आदि संघात को मेरा न मानकर कृत्रिम अभिमान से संयुक्त भिन्न मानते रहे, इसीलिए मै सामने नही होता था क्योकि दोनो के मध्य मे आप अभिमान का पर्दा खड़ा कर देते थे और इस कुष्ट रोगी को यह कह कर टाल देते थे कि जाओ, तुम पर भगवान् कृपा करेगे। आज आपने अभिमान का पर्दा हटा कर सीधे कह दिया—'जाओ,

ठीक हो गये', तो मेरी पूर्ण शक्ति ने आपकी (इस) मन-वाणी द्वारा काम करना प्रारम्भ कर दिया और यह तत्क्षण निरोग हो गया. मेरी वाणी सफल एवं सिद्ध हो गई। अब तुम्हारे इन मन, इन्द्रिय आदि संघात के सभी व्यवहारों मे मैं परमात्मा ही रहूँगा। यही निरभिमानता का रहस्य है। वैसे तो सभी व्यवहार मेरे द्वारा ही हो रहा है, परन्तु अज्ञान के कारण यह मनुष्य ऐसा नही मानता।'

साधकों को समझाने के लिये अब एक ज्ञानपरक दृष्टान्त भी दिया जाता है।

एक बहुत ही उच्चकोटि के जीवनमुक्त मस्त सर्वथा निरभिमान महात्मा एक वृक्ष के नीचे पड़े हुए थे। पास ही के राजमार्ग से वहां का सम्राट् प्रातःकाल अपने रथ पर सैर करने निकला। महात्मा की आनन्दमयी मूर्ति का दर्शन करके सम्राट् आगे न बढ़ सका। महात्मा के पास ही रथ रोक दिया और रथ मे उतर कर महात्मा से प्रश्न किया कि आप कौन हैं?

महात्मा ने उत्तर दिया—'सम्राटो का सम्राट् हूँ।'

महात्मा का यह उत्तर सुनकर सम्राट् खिलखिलाकर हँस पड़ा और पूछने लगा कि आप भला चक्रवर्ती सम्राट् कैसे हो सकते हैं? महात्मा ने पूछा कि मेरे उत्तर देने से पहिले तुम बताओ कि तुम सम्राट् कैसे हो सकते हो? सम्राट् ने उत्तर दिया कि मेरे पास बहुत बड़ी विशाल सेना है। महात्मा ने पूछा कि ये सेना किसलिये रखते हो? सम्राट् ने उत्तर दिया कि शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये। महात्मा बोले कि मेरा तो संसार मे कोई शत्रु ही नही है. फिर मै सेना क्यो रक्खूं?

सम्राट् ने कहा कि हमारे सिर पर राजमुकुट (ताज) है, आप तो बिल्कुल नंगधडंग हैं। महात्मा ने उत्तर दिया कि

तुम्हारे सिर पर केवल एक ही राजमुकुट है और हमारे सिर पर तो चार मुकुट है जिन्हें तुम्हारी स्थूल दृष्टि देख ही नही सकती। सम्राट् ने पूछा कि वे चार मुकुट कौन से है? महात्मा ने उत्तर दिया--

'सर बरहना नेस्तम दारम कुलाहे चार तर्क।
तर्क दुनिया, तर्क उकबा, तर्क मौला, तर्क तर्क ॥'

--'मेरा सिर नंगा नही है, वरन् उस पर चार त्याग रूपी ताज मौजूद है।

'पहला मुकुट--मैंने इस शरीर एवं संसार के सुख, भोग, आशा एवं अभिमान त्याग दिये है। दूसरा मुकुट--पारलौकिक, लोक-लोकान्तर, सभी अष्ट सिद्धियाँ, नौ निधियाँ, यश, मान, बड़ाई, कीर्ति आदि की अभिलाषा एवं अभिमान का भी त्यागकर दिया है। तीसरा ताज—अज्ञान के कारण जिस सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को अपने आत्मा से पृथक् मानकर उसकी प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के साधन एवं प्रयत्न करता था, फिर भी दूर एवं अलग मानने के कारण वह प्राप्त नही होता था, अब वही परमात्मा स्वयं आप ही है। इसलिये उसकी प्राप्ति की कामना एवं अभिमान को भी त्याग दिया है। चौथा ताज—इन तीनो प्रकार के त्यागों में जो त्याग का सूक्ष्म अभिमान होता है, उसका भी परित्याग कर दिया।'

यह निरभिमानता की पराकाष्ठा है। यह सभी की स्वाभाविक स्थिति है। इस स्थिति का त्याग करना ही नाना प्रकार के दुःख, बन्धन एवं मृत्यु को आमन्त्रित करना अर्थात् नाना प्रकार की कामनाये एवं अभिमान करना है। इनसे कृत्रिम मैं का सम्बन्ध जोड़ना भ्रम है।

काम का दूसरा अर्थ राजस प्रेम युक्त स्त्री-पुरुष के द्वारा भोगानन्द है। कामना की ही तरह यह काम समस्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरधारी प्राणियो की उत्पत्ति मे हेतु है। मैथुनानन्द की प्रवृत्ति स्वाभाविक एवं व्यापक रूप से देखने मे आ रही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के दशम अध्याय विभूति योग के श्लोक २८ मे कहा है—'प्रजनाश्चास्मि कन्दर्प.' अर्थात् नाना प्रकार की शरीरधारी प्रजा की उत्पत्ति में हेतु काम मैं हूँ। इससे सिद्ध होता है कि साक्षात् परमात्मा ही काम के रूप में प्रकट होता है। इस के साथ द्वेप एवं संघर्ष करने के वजाय यदि पवित्र प्रेम एव ईश्वर की भावना की जाय तो यह परमात्मा के साक्षात्कार का भी साधन वन सकता है। यदि द्वेष एव दमन की नीति अपनाई जाय तो इससे पार पाना असम्भव है। जो महानुभाव लेख एव भाषणादि द्वारा इस काम के विरुद्ध किसी भी स्त्री या पुरुप के माध्यम से नाना प्रकार की आलोचना, खण्डन, द्वेप, भर्त्सना, त्याग-प्रदर्शन आदि करते हैं, समझ लेना चाहिये कि उनके रोम-रोम मे काम विद्यमान् है और वे स्वयं उससे वहुत विक्षिप्त है। इस विषय मे रूस एवं अमेरिका के मनोवैज्ञानिको ने वडी सुन्दर खोज की है। उन्होने इस वात को सत्य एव प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि जो व्यक्ति, जिस दोष या बुराई से जितना ही अधिक त्रस्त, व्यस्त, ग्रस्त, विक्षिप्त, अशांत और भयभीत होता है, वह भाषण या लेखो द्वारा उतना ही अधिक उस दोष या बुराई की आलोचना, खण्डन, दोपारोपण, भर्त्सना आदि करता है। दूसरो के सम्मुख प्रदर्शन करके विश्वास दिलाना चाहता है कि वह उन दोषो से सर्वथा मुक्त है, उसमें वह दोप कदापि नही है और वह वड़ा ही संयमी, निर्दोप एवं महान है। इसके लिये प्रत्यक्ष उदाहरण विद्यमान् है—'जैसा

आहार वैसी डकार'—अर्थात् जिसके अन्दर मूली भरी हुई है, उसी के अन्दर से दुर्गन्धयुक्त डकार निकलती है।

जो महानुभाव समता एवं निरभिमानता में स्थित जीवन-मुक्त हैं उनकी प्रवृत्ति किसी की भी आलोचना, खण्डन-मण्डन आदि में होती ही नही है। उनके सारे वचन एवं व्यवहार राग-द्वेष से रहित, समता, शान्ति एवं आनन्दयुक्त होते हैं। लक्ष्मी-विष्णु, पार्वती-शिव, ब्रह्मा-ब्रह्माणी, अन्य सभी देवगण एवं उनकी देवियों मे काम का प्रयोग केवल परस्पर के आनन्द एवं शान्ति के उद्देश्य से है। यदि कोई भी योगी वृत्ति-निरोध के द्वारा समाधि-लाभ करना चाहता हो तो काम उसमे सहायक हो सकता है, जैसे कि उपर्युक्त देवताओं के सम्बन्ध में है। यदि इस काम मे केवल रजोगुण की भावना न रखकर सतोगुण की भावना की जाय तो प्रवृत्ति मार्ग वाले साधको को भी इससे सहायता मिल सकती है।

महान् वस्तु की कामना करने वाले को महान् कामी कहते हैं और सबसे महान् वस्तु परमात्मा है अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति की कामना करने वाले को महाकामी कहते है। काम का दूसरा नाम मनोज है अर्थात् जिसका जन्म मन से होता है। जब मन के द्वारा किसी भी प्रकार के काम सम्बन्धी विषय का चिन्तन होता है, तभी कामाकार वृत्ति उदय होती है और मनुष्य काम के वेग से कामातुर हो जाता है। विषय का चिन्तन होने से प्रथम या चिन्तन होते ही मन को उस ओर से हटाकर किसी अन्य ओर लगा देने का अभ्यास बराबर करते रहने से मन मे एक प्रकार की नियन्त्रण शक्ति (Controlling Power) उत्पन्न होती है जिसके द्वारा हर प्रकार के विकार के ऊपर

नियन्त्रण किया जा सकता है। इस विषय मे एक घटना उल्लेखनीय है।

विभाजन से पहले सन् १६४६ में एक स्वस्थ एवं सर्वविधि वैभव से सम्पन्न नवयुवक मुझे कोयटा (बिलोचिस्तान) में मिला। वह प्राय. प्रतिदिन मेरे सत्संग में आया करता था। एक दिन एकान्त मे वह मेरे पास आया और कुछ सत्संग की बाते प्रारम्भ की। उसकी बातचीत से ज्ञात हुआ कि बीस वर्ष की आयु में हो उसका विवाह एक अठारह वर्षीय परम सुन्दरी विदुषी, सुशील, पतिव्रता कन्या से हो चुका है, परन्तु अभी तक कोई सन्तान नहीं हुई। कारण पूछने पर उसने बताया कि अभी तक हम दोनों का राजस प्रेम नही हुआ।

यह सुनकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और तुरन्त ही मैंने कहा कि तुम्हारे अन्दर किसी-न-किसी प्रकार की नपुंसकता आदि त्रुटि अवश्य होगी। वह इस बात को सुनकर बड़े जोर से खिलखिलाकर हँस पड़ा और बोला कि यह बात सुनकर आपको ही नही, प्रत्येक को आश्चर्य होता है और सब लोग मुझ पर ही दोषारोपण करते हैं, किन्तु वास्तविक तथ्य को कोई नही जानता। हम दोनो पति-पत्नी प्राय: एक ही कमरे में, एक ही बिस्तर पर सोते हैं। न तो उसके हृदय मे कोई भोग-संकल्प उदय होता है और न मेरे मन मे ही। इसका कारण कोई बीमारी या कमजोरी नहीं है, अपितु जिधर हम दोनो का मन लगा हुआ है, उस ओर से हटकर वह विषय का चिन्तन ही नही करता और इसलिये उधर प्रवृत्ति ही नही होती।

मैंने पूछा—'आपका मन किस ओर लगा हुआ है?' तो उसने उत्तर दिया कि इस भोग के आनन्द से अनन्त गुने आनन्द मे लगा हुआ है। हमारी क्रियाओ, विचारो, स्वभावो में सतोगुण

की विशेष प्रधानता हो चुकी है, अतः मन प्रायः एकाग्र और अन्तर्मुख ही रहता है, विषय-भोग की ओर प्रवृत्त ही नही होता। यही स्थिति उस देवी पत्नी की भी है। यह मेरे जन्म-जात बाल्यावस्था के ही संस्कार है। इसमे मेरा कोई दुराग्रह नही है, स्वाभाविक है। यह सब मेरे इष्ट आराध्य देव भगवान् शंकर की कृपा है कि जब भी कभी मन मे किसी प्रकार का कोई विकार आता है तो उस विकार में भी भगवान् शंकर के ही दर्शन होते है।

## क्रोध

समाज, संसार, परिवार आदि में अनुशासन स्थापित करने मे सहायक होने के दृष्टिकोण से यह स्वर्ग का द्वार भी हो सकता है, पर दूसरी ओर बडे-से-बड़े लड़ाई-झगडे, संघर्ष और रक्तपात का कारण बन जाने से नरक का भी द्वार है।

क्रोध के ऊपर क्रोध करने वाले को महाक्रोधी कहते है। जिस प्रकार शत्रु पर क्रोध करके उसे मिटा देने का प्रयत्न किया जाता है, इसी प्रकार क्रोध पर क्रोध करके जो इसे मिटाने का प्रयत्न करता है, उसे महाक्रोधी कहते है। इस सम्बन्ध मे बड़े-बडे उच्चकोटि के सन्तों द्वारा अनुभूत प्रयोग प्राप्त हुए है। उनमे से साधक के अन्तःकरण को निर्विकार, शुद्ध बनाने के लिये क्रोध-निवृत्ति के कुछ प्रयोग बतलाये जाते है। यद्यपि क्रोध के द्वारा जनसाधारण का तो अनर्थ एव हानि होती ही है, साधको, जिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ की साधना मे भी यह बडा ही बाधक है। परेशानी, विक्षेप एवं हानि पहुँचाने वाला कोई भी दोष जब तक स्वयं को ही खटकने और चुभने न लगे, तब तक उसका निवृत्त होना बड़ा कठिन है। जब अपना दोष स्वय को ही खटकने लगे

ओर उसकी निवृत्ति का तीव्र संकल्प बन जाय तो उससे मुक्ति सहज सम्भव है।

किसी भी व्यक्ति या साधक को जहाँ, जिस समय क्रोध आता हुआ दिखाई पड़े तो तत्क्षण मौनपूर्वक उस स्थान से कुछ समय के लिये हट जाय। यह क्रोध-निवृत्ति की अमोघ रामबाण औषध है। इस विषय मे कुछ घटनाओ का उल्लेख किया जाता है।

एक बार इन्दौर मे मुझे कुछ सज्जनो ने सत्संग के लिये बुलाया। सत्सग प्रारम्भ हुए लगभग एक सप्ताह बीत चुका था। एक दिन एक सज्जन आये और मुझसे अपने युवा लड़के की शिकायत करने लगे कि महाराज! मेरा घर इस समय नरक बना है। कभी-कभी मुझे इतना दुःख और विक्षेप होता है कि किसी-न-किसी प्रकार अपना जीवन समाप्त कर लेने को मन करता है। कारण पूछने पर उसने बताया कि मेरा पुत्र इतना क्रोधी और दुप्ट प्रकृति का है कि बिना गाली के बात ही नही करता और कभी-कभी तो मारने को दौड़ता है तो लोग बीच-बचाव करते हैं। जब से उसकी शादी हुई है और बहू घर मे आई है, तभी से इसका स्वभाव इतना क्रोधी और प्रकृति महा दुप्ट हो गई है। उसके चेहरे को देखते ही लगता है कि कोई जिन्न या भूत चिपटा हुआ है। महाराज! आप कोई उपाय बतायें। मैंने उसको इस पर विचार करने का आश्वासन दिया।

दूसरे दिन उसका पुत्र आया। लडके ने अपने पिता की शिकायत शुरू कर दी कि पिता मुझे इतना परेशान करता है, अकारण हर बात मे मुझे गाली देता है और टोकता रहता है। कभी-कभी मेरा मन इतना दु.खी एवं विक्षिप्त हो जाता है कि घर छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाऊँ अथवा जीवन ही समाप्त कर दूँ।

इन दोनों पिता-पुत्रों की बातें सुनकर मुझे इसका कारण समझने और निवारण करने में कोई कठिनाई एवं विलम्ब नही हुआ। जैसे लोहे से लोहा काटा जाता है, उसी प्रकार भ्रमजन्य संस्कारों को दूसरे प्रकार के भ्रम से मिटाया जा सकता है। यह एक प्रकार से वेदान्त का सूत्र (फार्मूला) है। मैने उन लोगों से कहा कि तुम्हारे घर मे किसी भूत या जिन्न का प्रवेश हो गया है, लड़के की शादी के समय किसी ने कर दिया है। यह बात सुन कर दोनो खुशी से उछल पड़े,— 'हाँ, यही सच वात है।' उनको यह विश्वास हो गया कि अब पिशाच हमारे घर से निकल जायेगा।

मैने उन लोगों से कहा कि आप भोज-पत्र, अनार की कलम, लाल चन्दन और धूनी देने के लिये कुछ सामान ले आये और मै इनसे दो यन्त्र (ताजीब) बनाकर उनके अन्दर प्रेत को कील (बाँध) दूंगा। जब कभी भी आप दोनो मे किसी की भी ओर से लड़ाई-झगडे का प्रसंग प्रारम्भ हो तो तत्क्षण दोनों अपने-अपने ताबीजों को दाँत के नीचे जोर से दबा लेना। यदि दाँत ढीले रह गये तो उसमे से निकलकर भूत तुम दोनो को मार डालेगा। यह सभी बाते उन दोनो की बुद्धि मे पूर्णतया जँच गईं और उन्हें पूर्णरूपेण विश्वास हो गया कि अब हमारे घर मे शान्ति हो जायेगी।

योजना के अनुसार दोनो ने सारा सामान लाकर मुझे दे दिया और मैंने धूनी देकर वे दोनो यन्त्र उनके हवाले कर दिये। पहिले दिन ही उन दोनो मे गाली-गलौज, लड़ाई-झगडे, मार-पीट का कारण उपस्थित होते ही मेरे आदेशानुसार दोनो ने अपने-अपने यन्त्रो को जोर से दाँतो के नीचे दवाया। परिणाम-स्वरूप दोनों के मौन रह जाने से घर का वातावरण नितान्त शान्त

रहा। शान्त मन एवं बुद्धि में ही वह विवेक उत्पन्न हुआ कि जिससे दोनो को अपने-अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा और स्वयं अपनी ही त्रुटियाँ दिखाई पड़ने लगी। तब दोनो ने एक-दूसरे से क्षमा माँगी और गले मिले। यह घटना प्रथम प्रयोग की व्याख्या है जो क्रोध-निवृत्ति मे साधको को बहुत ही सहायक हो सकती है।

× × ×

एक मनोवैज्ञानिक के पास एक बीमार लाया गया। वह एक दफ्तर मे नौकर था। दफ्तर मे उसका मालिक कभी उससे बुरे शब्द बोलता तो कभी अपमानित कर देता। मालिक के विरुद्ध वह कुछ भी नही कर पाता था, परन्तु हृदय मे क्रोध तो आता ही था। अतः वह घर जाकर पत्नी को पीटता, घर की वस्तुओ को तोड़ डालता, तब कही उसके ध्यान में आता कि यह क्या पागलपन है? क्रोध बढता ही चला गया और उसके मन मे ऐसा निश्चय होने लगा कि जो कुछ होगा, देखा जायेगा। क्यो न एक दिन जूता उतार कर मालिक की पूजा ही कर दी जाय! मालिक से बात करते समय जब उसके हाथ जूतो की तरफ जाने लगे तो वह बहुत घबराया कि यदि मैंने जूता मार दिया तो बडी भारी मुसीबत मे फँस जाऊँगा। वह जूता घर ही छोडकर दफ्तर जाने लगा क्योकि किसी भी दिन मालिक में जूता मार देने का खतरा था। परन्तु जूता घर छोड़कर आने से क्या हुआ, प्रतिशोध की भावना तो बनी ही थी। स्याही की दावात उठाकर मारने का विचार आने लगा। तब उसे घबराहट हुई। उसने मित्रो से कहा कि मै बड़ी उलझन, परेशानी मे पड गया है। बस, कुछ भी मिल जाय, मैं मालिक को पीटना चाहता हू।

उसके मित्र उसे एक मनोवैज्ञानिक के पास ले गये। मनोवैज्ञानिक ने बताया कि और कुछ मत करो। मालिक की एक तस्वीर घर मे बना लो और नित्य-नियम से दस जूते उस तस्वीर पर मारो। इसमे भूल-चूक न हो। जिस तरह पुजारी पूजा करता है और माला फेरने वाला माला फेरता है, उसी प्रकार धार्मिक रूप से, पूर्ण एकाग्रता के साथ, पहले जूते मारो और फिर दफ्तर जाओ। दफ्तर से लौटकर आते ही फिर उसको जूते मारो और तब कोई अन्य कार्य करो।

वह आदमी हँसा और कहने लगा कि इससे क्या होगा? पर यह उपचार सुनकर उसके चेहरे पर जो भाव आया, वह शान्ति का भाव था। उस मनोवैज्ञानिक ने कहा—'कोई बात नही, कल से तुम यह कार्य आरम्भ तो कर दो।'

रात मे कई बार नीद खुली कि जल्दी से सुबह हो। सुबह हुई और उसने गिनकर दस जूते बड़े धार्मिक रूप से मारे। जूते मारकर वह बड़ा हैरान हुआ और दस जूते खाकर सामने पडे हुए असहाय मालिक पर उसे बडी दया आई। दफ्तर गया, तो उस दिन उसका व्यवहार बडा भिन्न रहा। पन्द्रह दिन तक वह रोज जूते मारता रहा और इन दिनो मे वह कुछ का कुछ हो गया। मालिक कहने लगे कि तुम एकदम बदल गये हो। तुम कितने शान्त हो गये हो और कितनी कुशलता से काम करने लगे हो। कुछ बताओ तो सही कि क्या बात हो गई? उसने कहा—'मालिक, यह न पूछे। नौकरी जाने का खतरा है!'

इस आदमी को क्या हुआ? इसके अन्दर जो तोडने-फोडने की शक्ति काम कर रही थी, वह भावना किसी भी रूप मे निकल सकती थी। घर मे पत्नियाँ जानती है कि पति से झगडा होता

है तो बच्चे अकारण पीटे जाते है। यहाँ का क्रोध वहाँ निकलना शुरू होना है। प्रतिक्रिया से क्रोध की वृद्धि होती है, इसलिये शान्ति-स्थापना के लिये प्रतिक्रिया से बचना चाहिये अर्थात् उसे व्यवहार मे नही लाना चाहिये।

× × ×

एक सन्त के पास एक सत्संगी मिलने आया। वह थोड़ा क्रुद्ध था, अपनी पत्नी से लड़कर आ रहा था। उसने सन्त के द्वार पर जोर से जूते पटके, जोर से धक्का देकर द्वार खोला और सन्त के चरण स्पर्श किये। सन्त ने कहा – 'नही, अभी मैं चरण-स्पर्श का उत्तर नही दूंगा। पहले आप जाइये, दरवाजे एवं जूते से क्षमा-प्रार्थना कीजिये।'

सत्संगी ने कहा—'आप पागल हो गये हैं? जूते और दरवाजे से क्षमा! क्या उनका भी कोई व्यक्तित्व है?'

उस सन्त ने कहा—'क्रोध करते समय तो तुमने कभी नही सोचा कि इनका व्यक्तित्व है या नहीं? तुमने जूते ऐसे पटके मानो उनमे जान हो और द्वार ऐसे खोला जैसे वह तुम्हारा शत्रु हो। जब तुमने क्रोध करते समय उनका व्यक्तित्व मान लिया तो पहिले क्षमा माँग कर आओ, तब मैं तुमसे बात करूंगा, अन्यथा मैं बात करने को भी राजी नही हूं।'

वह सत्संगी दूर से मिलने आये थे। इतनी छोटी-सी बात पर भेंट न हो सके, यह दुःखद था। अत. विवश होकर उन्हें जूते से कहना पड़ा– 'क्षमा कर दो, भूल हो गई।' द्वार से भी कहा—'क्षमा कर दो, गल्ती हो गई। मैने गुस्से मे आपको इस भांति खोला।'

उस सत्संगी ने लिखा है कि जिस क्षण मैं क्षमा माँग रहा था तो मुझे हंसी आई कि मैं क्या पागलपन कर रहा हूं, परन्तु

जब मैं क्षमा माँग चुका तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि मुझे इतनी शान्ति मिली कि जिसकी कल्पना भी न थी। वह सन्त के पास जाकर बैठ गया। सन्त हँसने लगे और बोले—'अब ठीक है, बातें हो सकती है। तुमने थोड़ा प्रेम प्रगट किया तो अब सम्बन्धित हो सकते हो क्योकि अब तुम प्रफुल्लित और आनन्द से भरे हुए हो।'

## लोभ

यदि मनुष्य में लोभ न हो तो कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, नौकरी आदि किसी भी प्रकार से धनोपार्जन की प्रवृत्ति ही नही हो सकती। इस दृष्टिकोण से यह लोभ स्वर्ग का द्वार कहा जा सकता है। दूसरी ओर नाना प्रकार के भ्रष्टाचार, घूसखोरी, रिश्वत, मिलावट आदि मे भी यही लोभ कारण है जो कि नरक का द्वार है! जो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त शक्ति, अनन्त अमृत-प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा एवं सतत् प्रयत्न करके उसे प्राप्त कर लेता है, उसे महालोभी कहते है।

अग्नि का विरोधी जल है। प्रचण्ड अग्नि पर यदि मूसलाधार वृष्टि हो जाय तो तत्क्षण अग्नि शान्त हो जाती है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति अथवा साधक मे लोभ की मात्रा इतनी अधिक हो कि उसे विक्षेप या दुःख प्रतीत होने लगे और वह उससे मुक्त होना चाहता हो तो लोभ की विरोधी भावना एवं वृत्ति को अपनाने एवं बढ़ाने से उस की वृत्ति धीरे-धीरे कम होकर शान्त हो जायेगी। यदि विचार करके देखें तो समस्त ससार मे मनुष्यो द्वारा जितने भी महान् से महान् अनर्थ एवं पाप होते है, उनके मूल मे लोभ की ही प्रधानता होती है। इसीलिये एक सन्त ने कहा है—'पाप का बाप लोभ है।' लोभी मनुष्य की विवेक एवं विचार-शक्ति अज्ञान एव स्वार्थ से आवृत्त

हो जाती है और वह उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य का विचार नही कर पाता। इस भयंकर दोप से मुक्त होने की जिज्ञासा किसी मनुष्य मे तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि यह स्वय उसी को हानिकारक प्रतीत होने और खटकने लग जाय। इसकी निवृत्ति का संकल्प दृढ़ हो तो सर्वप्रथम विचार का आश्रय लेकर उदारता को अपनावे, क्योकि लोभ की विरोधी भावना उदारता है।

एक वार महात्मा ईसा मसीह से किसी वहुत वड़े अरवोंपति धनवान् ने यह प्रश्न किया कि हमारा कल्याण कैसे हो? ईसा ने उत्तर दिया कि यदि सुई के छिद्र से सैकड़ो ऊँट निकलने जैसी असम्भव वात भी सम्भव हो जाय तो कोई आश्चर्य नही, पर तुम्हारा कल्याण होना असम्भव है। जिसने तुमको वाँध रखा है अर्थात् तुम्हारे पतन का कारण है, उसे तुम नही त्याग सकते तो तुम्हारे कल्याण की आशा ही कैसे की जा सकती है? वह है—'लोभ।' लोभ के विरोधी भाव उदारता को अपनाओ अर्थात् अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति गरीवो को वाँट दो तो कुछ आशा हो सकती है। पर तुम ऐसा कर नही सकोगे, इसलिये कल्याण होना असम्भव है।

अमेरिका का एक अरवपति एन्ड्रू कार्नेगी मरा। मरते समय उसके पास दस अरव रुपये थे, परन्तु वह वहुत उदास था। उसके मित्र ने उससे कहा—'एण्ड्रू, तुम्हे मरते समय उदास नहीं होना चाहिये। तुमने जीवन मे जो चाहा था, पा लिया। तुम पृथ्वी के सबसे वड़े धनवान् व्यक्ति हो और दस अरव रुपये छोड़ कर जा रहे हो।'

कार्नेगी ने कहा—'मित्र, मत करो ये वातें! मरते समय मेरे हृदय को मत दुखाओ। केवल दस अरव ही होने से मन

बहुत दुखता है, क्योंकि मेरा निश्चय सौ अरब छोड़ने का था, पर मौत आ गई। मैं एक गरीब आदमी ही मर रहा हूँ क्योंकि इच्छा सौ की थी और कमा कुल दस ही पाया! नव्वे अरब रुपये मेरे पास नहीं है जो होने चाहिए थे।'

ध्यान रहे कि यदि उसे सौ अरब भी मिल जाते तो भी कोई अन्तर न पड़ता क्योंकि संख्या की इतिश्री तो हो न जाती, वह सौ से भी और आगे बढ जाती। धन, पद, यश की दौड़ मे कोई भी व्यक्ति पार नही पा सकता अर्थात् इसकी कोई सीमा नही, क्योकि जिसके अज्ञान से इनकी होड़ मे अधिकाधिक आगे बढ़ने की आवश्यकता पड़ती है, वह अनन्त और असीम है।

एक वृद्ध संन्यासी अपने युवा-संन्यासी शिष्य के साथ घने जंगल को पार कर रहे थे। अन्धेरी रात थी और घनघोर सन्नाटा छाया हुआ था। सन्यासी ने अपने शिष्य से पूछा कि बेटा, रास्ते मे कोई भय तो नही है? रास्ता बडा बीहड़ है, अन्धेरा गहन है। युवा संन्यासी बड़ा हैरान हुआ क्योकि संन्यासी को तो भय का सवाल ही नही उठना चाहिये। संन्यासी को भय कहाँ? चाहे रात चाँदनी हो या घोर अन्धेरी, निर्जन वन हो या रंगरेलियो से पूर्ण महल हो, उस बूढ़े को आज तक कही भय नही हुआ था। शिष्य सोचने लगा कि आज क्या गड़बड़ है, गुरुजी को आज ही डर क्यो लगता है?

वे थोडा और आगे बढे। रात का अन्धकार और गहरा होने लगा। वृद्ध संन्यासी ने पूछा—'हम दूसरे गांव मे कितनी देर मे पहुँच जायेगे, वह कितनी दूर होगा?' वे एक कुएँ के पास पानी पीने रुके। गुरु ने अपने कन्धे पर डाली हुई झोली युवक शिष्य को दी और कहा—'सम्भालकर रखना', और वृद्ध पानी पीने चला गया। युवा संन्यासी ने झोली मे हाथ डालकर देखा

तो उसमे सोने की ईंट थी। वह समझ गया कि भय क्यों था? उसने सोने की ईंट उठाकर जंगल मे फेंक दी और उतने ही वजन का एक पत्थर का टुकड़ा झोली मे रख दिया। वृद्ध संन्यासी जल्दी से पानी पीकर आया, झोली सम्भाली, वजन देखा और आगे चल पडा।

थोडी दूर चलने के पश्चात् गुरु ने कहा--'रात अधिक हो गई है, कही भटक तो नही गये है?' युवा संन्यासी ने कहा—'अब आप निर्भय हो जायें, भय को मैं पीछे ही फेंक आया हूँ।' वृद्ध घबरा गया। उसने झोली मे हाथ डालकर देखा तो वहाँ पत्थर का टुकडा था। एक क्षण तो वह ठगा-सा रह गया और तब हँसकर कहने लगा—'मैं भी कैसा पागल हू! इतनी देर से पत्थर के टुकडे को लादे हुए था और भयभीत हो रहा था, क्योंकि मुझे यह ख्याल था कि यह सोने की ईंट है। सोने की ईंट के भ्रम मे मैं पत्थर को सम्भाले हुए था।' उसने पत्थर को झोली से निकालकर फेक दिया, झोली एक तरफ रख दी और युवक से बोला—'अब आज रात यही सो जायें, कहाँ परेशान होगे?' —और वे वही सो गये।

सो+ना=अर्थात् (सोना) स्वयं की विस्मृति को ही सोना कहते हैं। जब तक इस प्रकार का सोना साथ रहेगा तब तक भय से छूटना असम्भव है।

कल्याण के जिज्ञासुओ को चाहिये कि वह काम, क्रोध, ईर्ष्या, राग, द्वेष, इच्छा, चिन्ता आदि जिससे भी त्रस्त हो और उससे मुक्ति चाहता हो तो अन्तःकरण मे उदय हुए उसी दोष मे अपने इष्ट, आराध्य देव परमात्मा का इस प्रकार ध्यान करे—'प्रभो! सच्चिदानन्दपूर्ण ब्रह्म होते हुए भी आप इस विकार के रूप मे क्यो उदय हो रहे हैं? क्या यही आपका स्वरूप है?

नाना प्रकार के दोष. दुर्गुण आदि ही आपके स्वरूप हैं ? यदि नही, तो अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप मे ही दर्शन दे।' शोक, मोह, चिन्ता, भय, बन्धन आदि हर प्रकार के विकारोदय में इसी प्रकार भगवान् का ध्यान करे तो बड़ी सरलता, सुगमता एवं शीघ्रतापूर्वक दु.खदाई बन्धन एवं अशान्ति के सभी कारण भगवद् रूप मे ही विलीन होकर निवृत्त हो जायेगे।

किसी भी प्रकार के दोष, दुर्गुण एवं विकार के दमन या उससे संघर्ष करने से उसकी निवृत्ति नही होती, अपितु कुछ समय के लिए दब जाता है। शारीरिक रोगो की भाँति ही वह दब कर सूक्ष्म रूप मे पड़ा रहता है और समय आने पर फिर उभर आता है। इसलिये इन विकारों का विरोध न करके समन्वयात्मक विचार से इन को इनके उपादान कारण परमात्मा मे ही विलीन करता रहे। यही इन विकारों की समाप्ति का साधन है।

## तीन गुण

१—तमोगुण—यदि मनुष्य के अन्दर से तमोगुण सर्वथा समाप्त हो जाय तो इसके शरीर के भार, सप्त धातु, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि सब का सगठन ही समाप्त हो जायेगा और यह शरीर परमाणु के रूप मे बिखर जायेगा। संसार की प्रत्येक स्थूल वस्तु एवं शरीर मे जो भार एव पिण्डाकार गठन है, वह तमोगुण सम्भूत ही है। आलस्य, निद्रा, सुख, शान्ति, स्वास्थ्य, विश्राम आदि सुखदाई साधन तमोगुण के द्वारा ही प्राप्त होते है क्योकि आलस्य एवं निद्रा तमोगुण के ही कार्य है। यदि संसार मे हर समय दिन-ही-दिन रहे, अन्धकारमय रात्रि न हो, तो इतनी परेशानी और दु.ख बढ जाय कि लोगो का जीना ही दूभर हो जाय। यह अन्धकार एवं रात्रि भी तमोगुण

का ही कार्य है। इसलिये संसार एवं जीवन के लिये जितने अन्य गुण उपयोगी है, उतना ही तमोगुण भी है।

२—रजोगुण—मनुष्य के जीवन एवं संसार के अन्य सभी प्रकार के कर्म, नाना प्रकार की चेष्टाएँ, प्राणों का गमनागमन और पंच तत्त्वों का पंचीकरण आदि समस्त प्रवृत्तियां रजोगुण से ही होती है। यदि रजोगुण समाप्त हो जाय तो सारा संसार पत्थरवत् निश्चेष्ट, निष्क्रिय, जड हो जायगा। समस्त चेष्टायें एवं प्रवृत्तियां रजोगुण के कार्य हैं। सैक्स सम्बन्धी प्रवृत्ति भी रजोगुण का कार्य है जिसके द्वारा सन्तानोत्पत्ति होती है।

३—सतोगुण—समस्त ज्ञान, बौद्धिक विचार, विवेक, प्रकाश, शान्ति, आनन्द, चेतना आदि जिनकी छत्र-छाया में निखिल चेष्टायें, व्यवहार एव कर्म होते है और जो सभी विद्याओं, क्रियाओ, कर्मों के मार्गदर्शक एवं प्रकाशक है,—ये सब सतोगुण से ही उद्भूत होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान सतोगुण का ही अंश है।

इन सभी विचारो से स्पष्ट है कि यावन्मात्र स्थावर, जंगम, चराचर, स्थूल सूक्ष्म, कारण. कार्य सहित विश्व ब्रह्माण्ड है, सभी त्रिगुणात्मक है। तीनो गुणो से ओत-प्रोत होने से इनसे पृथक् होना असम्भव है। केवल इनका सदुपयोग एवं दुरुपयोग ही सुख का या दुःख का कारण हो सकता है।

## पञ्च-विषय

इसी प्रकार से पच विषय भी पंच तन्मात्रा के रूप मे पंच तत्त्वो के ही स्वाभाविक कार्य है। जब तक यह पंचभौतिक शरीर एवं संसार रहेगा तब तक हर प्रकार का व्यवहार होगा और इन सभी व्यवहारो मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का अनिवार्य समावेश रहेगा। जब तक यह पच भौतिक शरीर विद्यमान है, इन विषयो से कभी अलग या मुक्त नही

रहा जा सकता। इन सबका अधिष्ठान या अभिन्न निमित्तोपादान मूल कारण रूप जो चैतन्य देव सर्वात्मा है, वही असंग परम तत्त्व पंच भूतातीत, पंचविषयातीत, सर्वदोषातीत, सर्वगुणातीत एवं स्वतः सिद्ध है। उसके लिये कोई भी साधन नही करना है, वह ज्यो का त्यों अब भी है। इस प्रकार का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है और यही ज्ञान सात्विक है।



# मनुष्यकृत दुःख

मनुष्यमात्र के भय के केवल दो ही कारण हैं—प्रथम मृत्यु का भय तथा दूसरे नाना प्रकार के दुःखो का भय। मृत्यु एवं दुःख के अतिरिक्त भय का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। समस्त संसार के शरीरधारी प्राणी, विशेषतः मनुष्य, इन्ही दोनो कारणो से भयभीत रहते हैं और इन्ही से छूटने के लिये नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों एवं साधनो द्वारा आजन्म प्रयत्न करते रहते है, किन्तु छूट नही पाते। कारण कि वे इन दोनो के कारणो को छोड़ना नहीं चाहते। अब सर्वप्रथम नाना प्रकार क दुःखो पर विचार किया जाता है।

निष्पक्ष, शान्त एव सूक्ष्म वुद्धि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि समार मे तीन चौथाई दुःख मनुष्य का स्वयं पैदा किया हुआ है और शेप एक चौथाई भाग अतिवृष्टि, महामारी, दुर्भिक्ष, भूकम्प आदि दैवी प्रकोपो से होता है। यदि मानव-समाज निजकृत तीन चौथाई दुःखो को अपनी सद्भावना, उदारता, त्याग एव पुरुषार्थ के द्वारा समाप्त कर दे, जिसमें कि वह पूर्णरूप से समर्थ है, तो उपरोक्त दैवी प्रकोपों से होने वाले एक चौथाई दुःख भी अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे।

ससार मे नाना प्रकार के अधिकांश दुःख तो केवल उत्पन्न ही इसलिये होते है कि यह मानव अपनी मानवता का त्याग कर देता है और नाना प्रकार के व्यक्तिगत स्वार्थ एवं पक्षपात के द्वारा अमानुषिक, आसुरी, राक्षसी एवं शैतानी आचरण या

व्यवहार करता है। तीन चौथाई दुःख तो अमीरी या गरीबी, सम्पन्नता या निर्धनता, व्यक्तिगत सम्पत्ति या वैभव, चोरी, डकैती, व्यभिचार, नशीली एवं अभक्ष्य वस्तुओं के सेवन, नाना प्रकार के लडाई-झगडे, संघर्ष. रक्तपात, फूट, मुकदमेबाजी, असंयमजन्य नाना प्रकार के रोग इत्यादि स्वकृत आधि-व्याधियों के कारण ही मानव को भोगना पड रहा है। क्या यह सारी प्रवृत्तियाँ मनुष्यकृत नही हैं ?

मानव-समाज की जो शक्ति, सामर्थ्य, समय, धन, सम्पत्ति. मनुष्य की उन्नति, प्रगति, विकास, प्रकाश, अभ्युदय एवं सुख-शान्ति मे लगनी चाहिये थी, वह अज्ञान, स्वार्थ एवं पक्षपात के वशीभूत होकर उसी के पतन एवं विनाश में लग रही है। दैवी प्रकोप भी मानव-समाज की ऐसी प्रवृत्ति एवं भावना को देखकर ही हुआ करते है। यदि मानव-समाज में सद्भावना, उदारता एवं विश्व-प्रेम भर जाय तो दैवी प्रकोप स्वयं शान्त हो जायेंगे।

विगत सन् ३८ मे होने वाले विश्व-युद्ध में जितने धन एवं जन का विनाश हुआ है, उसके सम्बन्ध मे अर्थशास्त्र-मर्मज्ञो ने यह अनुमान लगाया है कि जितनी धन-सम्पत्ति इस युद्ध मे नष्ट हुई है, उसी को एक-दूसरे राष्ट्र के विनाश के लिये प्रयोग न करके यदि समस्त विश्व के मानव-समाज एवं राष्ट्रो की उन्नति, प्रगति, सुख-समृद्धि के लिये लगाया जाता तो सारे संसार से भूख, बेकारी, निर्धनता समाप्त हो जाती और यह नर्क रूप संसार ही स्वर्ग मे बदल जाता। उतनी धनराशि संसार के समस्त मनुष्यो मे वितरण की जाय तो प्रत्येक मनुष्य के हिस्से मे दो-दो लाख रुपये आते और सारे संसार से गरीबी का नामो-निशान मिट जाता। पर इसके विपरीत जो धन, शक्ति, सामर्थ्य एवं समय

मानव-समाज के हित मे सुख-शान्ति के लिये लगाये जाने चाहियें थे, उन्ही को वह स्वार्थ-पक्षपात-वशात् एक-दूसरे के विनाश एवं निर्धनता, भूख, वेकारी वढाने मे लगा रहा है।

ऐसे-ऐसे भयंकर और विनाशकारी युद्ध सदैव से संसार में होते चले आ रहे है जिनमे सैकड़ो वर्षो की संचित धन, सम्पत्ति, नाना प्रकार की उपयोगी सामग्री एवं जनसंख्या कुछ दिनों या महीनो मे ही स्वाहा हो जाती है। यह मनुष्य के अज्ञान, स्वार्थ-परता, संकीर्णता का विनाशकारी भयंकर दु खदायी परिणाम है। यदि मनुष्य थोडे से भी विवेक, उदारता एवं मानवता से काम ले तो त्रस्त एव पीड़ित करके संसार को नर्क वनाने वाली आसुरी प्रवृत्तियाँ मानव-समाज से निकल जाये और यही संसार जीन एवं रहने के योग्य स्वर्ग वन जाय। इस विषय मे एक घटना उल्लेखनीय है।

मैंने एक नगर मे देखा कि दो जमीदारो के खेतो की मेड पर एक शीशम का वृक्ष था। उन दोनो जमीदारो ने उस वृक्ष के लिये झगडा शुरू कर दिया। एक कहता था कि यह मेरा है और दूसरा कहता था कि मेरा है। होना तो यह चाहिये था कि वे दोनो उस वृक्ष को काटकर वरावर-वरावर वाँट लेते अथवा छाया के लिये खडा रहने देते, किन्तु इसके विपरीत झगडे मे दोनों ओर से लाठियाँ चली जिसमे दो-तीन आदमियो की तो मृत्यु हो गई, बहुत से लोगो के सिर, मुँह, हाथ, पैर टूट-फूटे और फौज-दारी के केस चले। उन केसो मे दोनो तरफ के अनाप-शनाप रुपये व्यय हुए, वर्षों का समय अलग वर्वाद हुआ और अन्ततः किसी को फांसी तो किसी को कारागृह का दण्ड अलग भोगना पड़ा।

इसके पश्चात् वर्षों तक सिविल (दीवानी) केस चला। इसमे

भी दोनो ओर के हजारों रुपये नष्ट हुए। हाईकोर्ट तक केस चलने पर एक के हक मे डिग्री हुई और शीशम का वृक्ष उसको मिल गया और तब वह वृक्ष पचास रुपये मे बिका। कहावत है—'खोदा पहाड़ तो निकली चूही और वह भी मरी हुई!' यह है मनुष्य की अज्ञानाच्छादित स्वार्थ एवं पक्षपात-विकृत बुद्धि का ज्वलंत उदाहरण! यही दशा समस्त संसार के अधिकांश मनुष्यों, बड़े-बडे राष्ट्रो तथा नाना प्रकार के सम्प्रदायवादियो की है।

अब मृत्यु पर विचार किया जाता है। यदि विवेक एवं सत्यतापूर्वक देखा जाय तो मृत्यु का कारण जन्म है। यदि जन्म ही न हुआ होता तो मृत्यु किसको मारता? महाभारत के युद्ध में जब परिवार सहित सौ पुत्र मारे गये तो धृतराष्ट्र शोक-सागर में डूब गये। उसको सान्त्वना देने के लिये संजय, विदुर एवं श्रीकृष्ण ने जाकर बहुत कुछ समझाने का प्रयत्न किया और कहा कि मान लो, यह युद्ध न भी हुआ होता तो क्या ये सभी कभी न मरते? आज तक संसार में सदा कौन जीवित रहा है? यहाँ तक कि जिनके पैर की ठोकर से मुर्दे भी जीवित हो उठते थे, वे भी नही रहे। मृत्यु ने उनको भी ग्रस लिया। यह संसार है ही क्षणभंगुर, अनित्य, परिवर्तनशील! इस प्रकार विवेक, वैराग्य आदि उपदेशो के द्वारा धृतराष्ट्र को समझाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु उसकी बुद्धि पर किंचित् मात्र भी प्रभाव नही पड़ा क्योंकि अज्ञान एव मोह के वशीभूत होने के कारण इन लोगो में उसकी श्रद्धा ही नही थी।

जिस किसी उपदेष्टा या गुरु मे जिज्ञासु की श्रद्धा न हो तो उसके उपदेश का कोई प्रभाव नही पडता—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' तत्पश्चात् कृष्ण ने विचारा कि इस धृतराष्ट्र की श्रद्धा

किस मे है ? पता चला कि व्यास जी में है। उसी समय भगवान् ने व्यास जी का स्मरण किया, तत्क्षण व्यास जी आ गये। व्यास जी ने कृष्णचन्द्र की आज्ञा मानकर धृतराष्ट्र के शोक एवं मोह को निवृत्त करने के लिये उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। बहुत-सी बातें समझाने के अनन्तर यह बात कही कि संसार में कोई भी शरीरधारी प्राणी मृत्यु से नहीं बच सकता। एक-न-एक दिन सबको मौत के घाट उतरना ही पड़ता है, सभी का विनाश होना अनिवार्य है।

धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया कि क्या कोई ऐसा भी है जो मरता न हो, जिसका विनाश न हो। व्यास जी ने कहा कि हाँ, ऐसा केवल एक है—जिसने जन्म नहीं लिया, वही नही मरेगा ?

प्रश्न होता है कि जन्म किसने लिया और किसने नही लिया ? सभी को ज्ञात है और प्रत्यक्ष देख रहे है कि सभी का शरीर जन्म लेता है और यही मरता है। सभी का आत्मा न जन्मता है और न मरता है। जैसे नाना प्रकार के घड़े और मकान बनते और बिगड़ते रहते है, किन्तु इनके आधारभूत पृथ्वी एवं आकाश सर्वदा ज्यों-के-त्यों रहते है,—न बनते हैं, न बिगड़ते है। यही ज्ञान है एवं इसी की अनुभूति मृत्यु पर विजय है।

इन सभी बातो पर विचार करने और स्वानुभव से आप लोगो को यही ज्ञात होगा कि समस्त संसार के दुःखो के प्रधान कारण मनुष्यों की अपनी ही स्वार्थपरता एवं पक्षपात है। अगर मनुष्य चाहे तो इन विनाशकारी एवं दुःखदाई दोषो को निवृत्त कर सकता है और सारे संसार को स्वर्ग मे बदल सकता है।



# प्राकृतिक एकता के बाधक

जगत् मे जितने भी प्रकार के रोग है, यदि उनकी चिकित्सा करनी हो तो औषध का प्रयोग करने से प्रथम ही रोग के कारण का निदान कर लेना अत्यावश्यक है। कारण की चिकित्सा किए बिना रोग कभी निवृत्त नही हो सकता। एकता प्राकृतिक ही है तो फिर उसका पालन क्यों नही होता ?—इस महान् रोग के जितने भी कारण है, उनमें प्रधान दो है,—प्रथम नाना प्रकार के काल्पनिक पक्षपात और दूसरा व्यक्तिगत स्वार्थ। इन दोनों कारणो का भी मूल कारण अपने आत्मा का अज्ञान है।

वर्ण, आश्रम, जाति, मजहब, देश, धन, पुत्र, स्त्री, घर, मान, प्रतिष्ठा आदि का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ है। इन्ही सबंधो को स्थूल वासना भी कहते है। सूक्ष्म व कारण वासनाओ का विचार आगे किया जायेगा, जो स्थूल वासना से भी प्रबल मानी गई है। प्रथम स्थूल का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

भारत मे विषमता का महान् कारण प्रायः जाति-भेद है। कुछ हिन्दुओ का तो यहाँ तक कहना है कि यह जाति-भेद स्वाभाविक यानी ईश्वरकृत है,—मनुष्यकृत नही। जन्म से ही जाति की उत्पत्ति होती है। इसकी पुष्टि मे वेद और अन्य शास्त्रो का प्रमाण भी उपस्थित किया जाता है। इसकी पुष्टि मे प्रायः दो प्रमाण दिये जाते है, एक वेद का और दूसरा गीता का।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृत. ।
उरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥'

गीता, अध्याय ४, श्लोक १३ मे भी आया है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुण कर्म विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ॥'

अब आइये, जरा देखे कि यह जाति-प्रथा मनुष्यकृत है या ईश्वरकृत यानी स्वाभाविक !

प्रथम वेद मन्त्र के अनुसार नाना प्रकार के ऊँच-नीच वर्णों का विचार किया जाता है।

## वर्ण

वर्णों की पुष्टि मे जो ऊपर वेद का प्रमाण दिया गया है, प्रथम ता यह प्रमाण ही अधूरा है, क्योकि २० करोड हिन्दुओ को छोडकर शेष जो सारे ससार के अन्य मतावलम्बी हैं, वे वेद को प्रमाण ही नही मानते। फिर ईश्वरकृत वेद स्वत प्रमाण कैसे हो सकता है? थोडे समय के लिये मान भी लिया जाय तो साथ ही यह प्रश्न होगा कि ईश्वर ने सारे जगत् की सृष्टि की या चार वर्णयुक्त केवल हिन्दुओ की ही सृष्टि की ?

यदि यह कहो कि ईश्वर ने ही सारे जगत् की रचना की है, तो फिर प्रश्न होगा कि सारे ब्राह्मण तो ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से हुए, वैश्य जंघा से हुए, सारे शूद्र पैर से हुए,—इनके अतिरिक्त शेष सत्तर करोड बौद्ध, ४५ करोड ईसाई, ३० करोड मुसलमान,—ये सारे ईश्वर के किस अंग से हुए ? ये लोग क्या ईश्वर की पूँछ से हुए है ?

बहुत-से सज्जन कहने लग जायेंगे कि ये सभी लोग तो अभी

लगभग दो हजार वर्ष से ही हुए है, सृष्टि के आरम्भ में तो ईश्वर ने इन्ही चारों वर्णों सहित मनुष्यों की रचना की थी। पश्चात् इन्हीं चार वर्णों में से निकल-निकल कर पृथक्-पृथक् अन्य जातियाँ भी बन गईं। ऐसा स्वीकार करने से ईश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं बन सकती, क्योकि अनादि शब्द का अर्थ तो यही हो सकता है कि जिसका आदि अर्थात् प्रारम्भ या उत्पत्ति न हो। फिर इन दोनों,—आदि और अनादि,—शब्दों का मेल ही कैसे हो सकता है ?

इस विषय मे इसी पुस्तक के 'जगत् क्या है ?' शीर्षक लेख मे विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर केवल इतना ही विचार प्रस्तुत किया जायगा कि यह चराचर जगत् धारा-प्रवाह रूप से अनादि चला आ रहा है। यहाँ उत्पत्ति-प्रलय का कोई प्रश्न ही नही है। इसको ब्रह्मा, ईश्वर, गॉड, खुदा ने नही बनाया, किन्तु स्वयं मनुष्य ने ही अनुमान के द्वारा सृष्टिकर्त्ता की कल्पना कर ली है। ईश्वर ने स्वयं मनुष्यो के पास यह सूचना कभी नहीं भेजी कि हे मनुष्यो ! मैने चारो वर्णों मे विभक्त कर के तुम्हारी उत्पत्ति की है।

यदि उपरोक्त मन्त्र के अर्थ की कल्पना करने वाले कोई महानुभाव यह कहने लग जायँ कि ब्राह्मरण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न नही हुए, किन्तु ब्रह्मा के मुख है। क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजा, वैश्य जङ्घा और शूद्र पैर है। तब यहाँ भी वही प्रश्न उपस्थित हो जायगा कि और लोग क्या ब्रह्मा की 'नाक' है ? अत. इस मन्त्र का यह अर्थ न करके आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार करना ही समुचित होगा।

चतुर्मुखी ब्रह्मा, जिसके द्वारा चार वर्णों सहित सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है, वह कही दूर नही है। हमारे अन्दर ही मन,

बुद्धि, चित्त, अहंकार,—अन्तःकरण चतुष्टय ही ब्रह्मा है। बुद्धि ब्राह्मण है, मन क्षत्रिय, चित्त वैश्य और अहंकार शूद्र है। इन्ही को चार वर्ण का रूपक दिया गया है। यही चार वर्ण शरीर मे भी घटते है।

'ब्रह्म' शब्द वृहद् धातु से बनता है जिसका अर्थ सबसे बड़ा होता है अर्थात् मुख को ब्राह्मण इसलिये कहते है क्योकि मुख सब इन्द्रियो से श्रेष्ठ है। संसार मे जितना भी कार्य हो रहा है, उस में प्रधानता मुख की ही है। जितना भी खाद्य पदार्थ है, वह मुख से ही खाया जाता है जिससे बुद्धि से लेकर सारे शरीर का पालन-पोषण होता है। शब्द के द्वारा ही संसार का व्यवहार चलता है। शब्द ही सारे प्रमाणो मे प्रधान है। वह शब्द भी मुख के ही द्वारा उच्चारण होता है। दूसरी बात यह भी है कि समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ जिनसे सारे जगत् का हर प्रकार का ज्ञान होता है, वे ऊपर (शीर्ष-भाग मे) ही है। इसलिये भी सिर की सारी इन्द्रियों को 'ब्राह्मण' कहा गया है।

प्रजा का पालन-पोषण, रक्षा करना आदि राजा के सारे लक्षण 'भुजा' मे घटते है। इसलिये 'बाहु' को क्षत्रिय यानी राजा की उपाधि दी गई है।

खेती, व्यापार, गो-रक्षा,—ये तीनो लक्षण 'पेट' मे घटते है। रक्त, मांस, मज्जा आदि सब धातु पेट से ही खेती से अन्न-वत् उत्पन्न होते हैं और इनको सारे शरीर में विभक्त करना ही व्यापार है। 'गो' नाम इन्द्रियो का है अर्थात् इन्द्रियो का पालन-पोषण यानी 'गो-रक्षा' भी पेट से ही होता है।

सिर, हाथ, पेट के सेवक को 'शूद्र' कहा गया है। ये सारे लक्षण पाद, उपस्थ, गुदा आदि मे घटते है। अतः शरीर के इन अङ्गो को सब का सेवक यानी शूद्र की उपाधि दी गई है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सारी सृष्टि ही ब्रह्मा के मुख से निकली है, केवल ब्राह्मण ही नही। सृष्टि के आदिकाल मे ब्रह्म ने उच्चारण किया—'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयं' अर्थात् 'मैं एक से बहुत हो जाऊँ', यह वेद का वाक्य है। ऐसा कहते ही सारे जगत् का प्रादुर्भाव हो गया।

शब्द का उच्चारण नित्य मुख से ही हुआ करता है, अतएव सारा जगत् ब्रह्मा का मुख है जिसके अन्तर्गत शूद्र भी है। अब यहाँ पर विचारशील व्यक्तियो को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

जो आचार्य सृष्टि की उत्पत्ति इस प्रकार से मानते है, उनके लिये ऐसा विचार किया है, यह मेरा सिद्धान्त नही है। सृष्टि को अनादि मानने से उत्पत्ति का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। उपरोक्त दृष्टान्त इस प्रकार है—

एक समय बृन्दावन मे एक बहुत बड़े वैष्णवाचार्य सुखपाल (पालकी) पर बैठे हुए कही जा रहे थे। पालकी को आठ मनुष्यो ने उठा रखा था और दोनो बगल मे दो व्यक्ति छत्र, चँवर डुलाते हुए जा रहे थे। सबसे आगे-आगे दो व्यक्ति पानी छिड़कते हुए चल रहे थे कि कहीं पृथिवी अशुद्ध न रह जाय।

कुछ दूर जाने के पश्चात् वे जिस सडक से जा रहे थे, उसी सड़क पर एक भंगी झाड़ू लगा रहा था। दूर से ही उससे चिल्लाकर कहा गया कि 'सड़क छोडकर एक ओर हो जाओ! शीघ्र ही हटो! हटो!!' वह बेचारा उस समय तो एक ओर हटकर खड़ा हो गया, किन्तु जैसे ही आचार्य जी की सवारी वहाँ पहुँची, ठीक उसी समय वह भगी फिर सडक पर आकर खडा हो गया और कहने लगा कि आप चाहे मुझे मरवा डाले, परन्तु

मैं तब तक मार्ग नहीं छोड़ूंगा जब तक कि आप मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे देंगे।

आचार्य जी ने कहा--अच्छा पूछ, क्या पूछता है ?

भगी ने कहा कि महाराज ! भगवान् कृष्णचन्द्र जी ने माता यशोदा को जब अपना मुँह फाड़कर दिखलाया था, तो क्या दिखलाई पडा था।

आचार्य जी ने उत्तर दिया कि सारा ब्रह्मांड यानी सारा जगत् दिखाई पड़ा था ?

भंगी ने पूछा कि क्या उस ब्रह्मांड मे यह वृन्दावन भी था ? आचार्य जी ने कहा कि हाँ, यह भी था।

उसने फिर पूछा कि क्या उस मुख के वृन्दावन मे ये सड़कें भी थीं कि जिन पर आप जल छिड़कवाते हुए जा रहे है ?

उन्होंने उत्तर दिया कि हाँ, ये सड़कें भी थीं।

भगी ने पूछा कि क्या उन सडको को साफ करने वाला भगी यानी मैं भी था ?

अब तो वैष्णवाचार्य जी सटपटाए और पालकी उठाने वाले मनुष्यों से कहा कि चलो ! चलो !! इस पर भगी गरम हुआ और कहने लगा कि मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि जब तक मेरे प्रश्न का उत्तर न दे देंगे, तब तक मैं मार्ग नहीं छोड़ूंगा, चाहे मुझे मार ही डालिये।

आचार्य जी को बाध्य होकर कहना पडा कि हाँ, तू भी था।

तब भंगी कहने लगा कि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का क्या अर्थ हुआ ?

मारे-के-मारे वैष्णव व्याकुल होकर कहने लगे कि अरे ! तू शूद्र [illegible] वेदमन्त्र बोल रहा है ? भंगी ने उत्तर दिया कि क्या [illegible] के मुखारविन्द मे वेदमन्त्र का बोलना पाप है ?

आप लोग इस दृष्टान्त से समझ गए होंगे कि एक ओर तो यही लोग सबको उपदेश देते है कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'—सब भगवद्रूप ही है और दूसरी ओर ये ही कितना पक्षपात एवं राग-द्वेष करते है। इसी को कहते है आंख में धूल झोकना!

अच्छा,— अब गीता के प्रमाण पर विचार कीजिये। भगवान् कहते है,—चार प्रकार की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के विभाग से रची है, परन्तु 'अहंता', 'ममता', 'वासना' से रहित और असंग होने से मैं किसी प्रकार के कर्म से लिप्त नही होता। इसी प्रकार मुझे अर्थात् अपने आत्मा को जो अकर्ता, अभोक्ता, नित्य-मुक्त जानता है, वह भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

विचार इस बात करना है कि भगवान् ने जो चार वर्ण कहे हैं, उनका तात्पर्य हिन्दुओं की चार प्रकार की जातियाँ नही हैं। इसीलिये तो यहाँ सृष्टि शब्द दिया है अर्थात् जेरज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज,—इन चार प्रकार की सृष्टियों के द्वारा सारे जगत् के विभाग ईश्वर अर्थात् समष्टि मन को ही माया विशिष्ट ईश्वर की उपमा दी गई है।

यदि श्रीकृष्ण जी को चार वर्णों का विभागकर्ता अथवा जगत् का सृष्टिकर्ता मान लिया जाए तो प्रश्न यह होगा कि क्या कृष्ण के प्रादुर्भाव से पहिले वर्ण या जगत् नही थे? इसलिये यहाँ जगत् की रचना से तात्पर्य नही है, वरन् सारे नाम-रूपात्मक जगत् के गुण और कर्म के अनुसार चार प्रकार के विभाग से तात्पर्य है।

जेरज से तात्पर्य है जिसकी उत्पत्ति जेर से हो,—जैसे मनुष्य, पशु आदि। अण्डज—जिसकी उत्पत्ति अण्डे से हो,—जैसे नाना प्रकार के पक्षी, मछली, सर्प, बिच्छू तथा और भी सारा कीटाणु-वर्ग। इसी प्रकार से उद्भिज्ज अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पृथ्वी से

हो, जैसे अन्न, फल, फूल, वृक्ष, वनस्पति आदि। स्वेदज से जुंआ, खटमल आदि न लिया जायगा क्योंकि प्रत्यक्ष देखा गया है कि ये सब अण्डे से उत्पन्न होते हैं। अतः इनको छोड़कर सोना, चांदी, पारा, तांवा, तेल, कोयला, हीरा, नमक इत्यादि खनिज लेना उचित होगा, क्योंकि संसार के अन्तर्गत जितनी भी सृष्टियां है. उनमें यह खनिजवर्ग भी एक विशेष सृष्टि है जो इन चार प्रकार की सृष्टि से पृथक् है। अतः इनको पांचवें प्रकार मे गिनेंगे।

इस प्रकार इस श्लोक का तात्पर्य मनुष्य के चार वर्णों से नही है। मनुष्यो के स्वाभाविक गुण व कर्म के अनुसार इनको चार प्रकार की श्रेणियों मे विभक्त करके अठारहवें अध्याय में इसको स्पष्ट ही कर दिया है। इसलिए वर्ण का तात्पर्य जाति से नही, किन्तु प्रकार से है। जाति से तो सारे मनुष्य है, परन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से सारे मनुष्यो की जाति चेतन है।

विचारशील व्यक्तियो ने व्यवहार चलाने के लिये समय के अनुरूप, गुण-कर्म के अनुसार, चार प्रकार की श्रेणियां बना ली हैं। यह स्वाभाविक नियम नही है। प्राकृतिक ईश्वरीय वस्तु स्वाभाविक होती है। वह कर्मजन्य एवं साधन-साध्य नहीं होती,—जैसे नेत्र, नासिका, हाथ, पैर, लोम (वाल) आदि जन्म से ही शरीर के साथ रहते हैं, जन्म लेने के पश्चात् वस्त्रादिको की भांति बनाकर धारण नही किये जाते। यदि जाति जन्म से मानी जाए तो फिर एक डाक्टर के पुत्र को भी डाक्टर होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखने मे नहीं आता।

मनुष्यों की इन चार प्रकार की श्रेणियो का परिवर्तन भी होता रहता है,—जैसे एक शूद्र अपनी योग्यता, गुण या कर्म के अनुसार ब्राह्मण भी बन सकता है। ब्राह्मण धर्म-कर्महीन या

चरित्र-भ्रष्ट होने से शूद्र भी बन सकता है,--जैसे रावण। इसी प्रकार एक छोटा-सा ऑफिसर अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करता हुआ एक बडा ऑफिसर बन जाता है और एक बड़ा ऑफिसर अपनी अयोग्यता से गिरकर निचली श्रेणी में चला जाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी विशेष बात यह है कि यदि वर्ण-व्यवस्था प्राकृतिक (ईश्वरीय) होती तो जिस प्रकार पशु या पक्षियों मे, जाति से एक होने पर भी आकृति, स्वरूप या गुण-कर्म मे विशेष अन्तर है,—जैसे पशुओं में हाथी, गाय, बकरी, ऊँट, गदहा, सूअर और पक्षियों मे उल्लू, चमगीदड़, कौआ, कबूतर, तोता, चील, गिद्ध। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि में भी इनके स्वरूप व आकृति में कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन होना चाहिये था। भोजन, बोली या रहन-सहन इत्यादि मे भी कोई भेद या विशेषता होनी चाहिये थी, किन्तु यह सब नही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ये सब भेद मनुष्यों के बनाए हुए हैं जिनके परिणाम केवल नाना प्रकार के पक्षपात, राग-द्वेष, लड़ाई, झगडे, फूट, दुःख या अशान्ति के सिवाय और किसी प्रकार के लाभ के नही है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इन व्यर्थ और बनावटी बातों मे न पडकर, जितना भी हो सके, अपने मनुष्यत्व का विकास एवं प्रकाश करे जिससे कि अपना और सारे विश्व का जीवन सुखी तथा शान्त हो और विश्वप्रेम की वृद्धि हो।

एक तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ महात्मा एक आश्रम बनाकर रहते थे। जो कोई महात्मा या गृहस्थी उनके आश्रम मे जाता, उसे वे बडे प्रेम से ठहराते थे। बड़े सत्कारपूर्वक भोजन कराकर

रात्रि को अपने कमरे के साथ जो लगा हुआ कमरा था, उसमें ठहराते थे। दोनो कमरो की खिड़की एक थी। जब रात्रि को सोने लगते तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध इत्यादि मजहबो, ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि सारे वर्णों, गृहस्थी, संन्यासी इत्यादि सारे आश्रमो, उदासी, संन्यासी, नाथ, वैरागी इत्यादि नाना प्रकार के सम्प्रदायो और भारत, अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस आदि समस्त राष्ट्रो,—तात्पर्य यह कि शारीरिक व मानसिक अनात्माभिमान के कारण जितनी भी ऐसी उपाधियाँ होती है जिन पर आक्षेप या जिनकी निंदा करने से इस मनुष्य को विक्षेप और कष्ट होता है,—उन सभी को एक-एक करके बडी घृणित गालियाँ देते थे।

इन गालियो को सुनते-सुनते जिस उपाधि मे जिस का पक्ष-पात या अभिमान होता था, उसकी निन्दा सुनते ही वह आगन्तुक क्रोध करके लड पड़ता था। महात्मा उससे क्षमा माँग लेते और कहने लगते कि क्या करूँ महाराज! मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

इस प्रकार पचास वर्ष व्यतीत हो गए, परन्तु कोई भी साधु या गृहस्थी उनके आश्रम पर ऐसा न पहुँचा जो सर्वथा निरभि-मान या पक्षपात रहित केवल शुद्ध मनुष्य हो। अन्त में एक महात्मा एक दिन पहुँचे। उनके साथ भी यही नित्य-नियम प्रारम्भ हुआ। वे हर प्रकार की गाली दे चुके और फिर भी वे महात्मा चुप ही रहे, तो उन्हें विक्षिप्त करने के लिये उन्होने अन्तिम एटम बम्ब फेंका और कहने लगे कि इस संसार मे कुछ ऐसे भी विटल पन्थी (निरभिमान) दुष्ट, नीच घूम रहे है जिनका न कोई वर्ण है, न आश्रम है, न कोई जाति है, न कोई सम्प्रदाय है, न कोई देश है और न धर्म-कर्म ही है,—मानो मनुष्य ही नही है। बडे निरभिमान, निष्पक्ष, ब्रह्मनिष्ठ बने हुए पशुओ की

भाँति घूम रहे है, मानो इनकी दृष्टि में संसार है ही नहीं ! ऐसे ही पागलो ने तो संसार को भ्रष्ट किया है !

इतना सुनते ही वह आगन्तुक महात्मा खिल-खिलाकर हँस पडे। फिर तो क्या कहना था ! आश्रम वाले महात्मा उनके चरणों में जाकर लोट-पोट हो गये और बोले—'धन्य हो महाराज ! आज पचास साल के पश्चात् सच्चे, शुद्ध, पवित्र मनुष्य के दर्शन हुए है। यहाँ तो हजारो ही साधु तथा गृहस्थी आये होगे। जिसको भी देखा, अज्ञान एवं मन की कठ-पुतली ही देखा।

अतः सारी कल्पित उपाधियो को छोड़कर प्राकृतिक मानवता का पालन अवश्य करना चाहिये। अब आगे आश्रम का विचार करेगे।

## आश्रम

आश्रम शब्द का अर्थ होता है रहने का स्थान। किसी गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिये ये चार पड़ाव है। शास्त्रों में चार आश्रम माने गये है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ और संन्यास,— ये चार विश्राम-स्थल है अर्थात् मोक्ष या अपने स्वरूपभूत ब्रह्म पद में स्थित होने के लिये क्रमशः चार पड़ाव है। अब इनमे से प्रत्येक के स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

ब्रह्मचर्य—इसका शब्दार्थ है ब्रह्म में विचरना अर्थात् ब्रह्म-विद्या का श्रवण करना। यह मोक्ष का प्रथम पड़ाव है। यहीं से कल्याण का पथ प्रारम्भ होता है और यही ज्ञान की प्रथम भूमिका 'शुभेच्छा' है। अब इस पड़ाव के बाद गृहस्थ का नम्बर आता है।

गृहस्थ—स्त्री, बाल-बच्चों के साथ घर मे रहने का नाम

गृहस्थ है अथवा शरीर या संसाररूपी गृह में निवास करने को भी गृहस्थ कहते है। तात्पर्य यह कि जहाँ एक शरीर में ही वह स्वयं को बद्ध या सीमित मानता था, वहाँ अब सारे विश्व के प्राणिमात्र के शरीगे में आत्मरूप से व्यापक मानने लगता है अर्थात् ब्रह्मविद्या के मनन करने या संसार के सत्-असत् स्वरूप के विवेक को अथवा शरीर की परिच्छिन्न दृष्टि को हटा कर आत्मा की सर्वदेशीय व्यापक स्थिति मे स्थित होने को गृहस्थ कहते हैं।

वानप्रस्थ—वान+प्रस्थ=वानप्रस्थ। वन में रहने का नाम वानप्रस्थ है। वन उस स्थान को कहते हैं जहां किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति, भोग-विलास के साधन, पाँच विषय व्यावहारिक रूप मे न हो। ऐसे ही स्थानों के सेवन का नाम वानप्रस्थ है अर्थात् विषय-वासना से उपरत होकर, भगवत भजन करते हुए वन मे जीवन-यापन करने का नाम वानप्रस्थ है। एक, पूर्ण ब्रह्म मे मन के स्थित करने को ही निदिध्यासन यानी वानप्रस्थ अवस्था कहते है।

सन्यास—संन्यास का शब्दार्थ है 'त्याग' अर्थात् अनात्म-अभिमान सहित 'द्वैत' या अविद्या का त्याग। इसमें उपरोक्त तीनो आश्रमो अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनों को क्रमशः पार करता हुआ अन्तिम (चौथे) पडाव संन्यास में साधक आत्मानुभव की परिपक्व धारणा या असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है और नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक जगत् को अपना स्वरूप अर्थात् ब्रह्मरूप अनुभव करने लगता है। यही है जगत का त्याग अर्थात् वास्तविक संन्यास! नाना प्रकार की साम्प्रदायिक वेश-भूषा का नाम संन्यास या चतुर्थ आश्रम नहीं है। ये सब तो साम्प्रदायिक, काल्पनिक या बनावटी चिह्न हैं।

जिस प्रकार आजकल चतुर्थ आश्रम के अन्तर्गत सैकड़ों, हजारों सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे हैं, ये सब तो जीवन-पर्यन्त कल्याण, सुख या शान्ति के बजाय उलटे नाना प्रकार के पक्ष-पात, राग-द्वेष, देहाध्यास, अनात्माभिमान, विक्षेप आदि की अधिकाधिक वृद्धि ही करते रहते हैं।

आज तक जिन-जिन महापुरुषों को ईश्वर अर्थात् मोक्ष के वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति हुई है, वह नाना प्रकार के पतन करने वाले देहाभिमानो, सम्प्रदायों. वर्णों आश्रमों के पक्षपातों को त्यागने से ही हुई है। वास्तविक मिलाप सजातीय का ही होता है, विजातीय का कभी भी परस्पर मेल नहीं हो सकता। इसलिये यदि हम लोग परमात्मा से मिलना चाहते हैं तो जिस प्रकार परमेश्वर प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय समाज, देश, ऊँच-नीच इत्यादि अविद्या के काल्पनिक मिथ्या कार्यों तथा अनात्माभिमान से अतीत, नित्य शुद्ध, चेतन स्वरूप, पूर्ण है, इसी प्रकार हमें भी प्रत्येक अनात्माभिमान का परि-त्याग करके अपने आपको केवल शुद्ध, चेतन स्वरूप आत्मा ही मानना पडेगा।

जो वर्ण से प्राणिमात्र, आश्रम से सारा जगत्, सम्प्रदाय से विश्वप्रेम और जाति से मनुष्यमात्र को मानता हुआ संसार में एकता की भावना से विचरता है, वही ईश्वर या विश्व का सच्चा भक्त, आत्मज्ञानी, योगी या सच्चा मनुष्य कहला सकता है। इतरो को तो शास्त्रकारों ने 'नर-पशु' की ही उपाधि प्रदान की है।

## देश

राष्ट्राभिमान का पक्षपात भी बड़ा भयंकर और हानिकारक है। आजकल एक राष्ट्र वाले दूसरे राष्ट्र को नाना प्रकार के

छल, बल, शक्ति, विज्ञान इत्यादि के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर देने पर तुले हुए हैं अथवा समय-समय पर एक-दूसरे राष्ट्र के साथ संघर्ष या रक्तपात होता ही रहता है जिससे सैकड़ों, हजारो वर्षों की संचित शक्ति तथा समृद्धि का सत्यानाश हो जाता है। फिर वह राष्ट्र सैकड़ो वर्षों तक पनपने नही पाता।

सन् ३९ से लेकर ४५ तक के विश्वयुद्ध मे जितनी हानि हुई, उसका क्या कुछ अन्त है? उस युद्ध में जितना धन नष्ट हुआ, उसे यदि सारे संसार के ३ अरब मनुष्यों में बराबर विभक्त किया जाता तो हर एक के भाग में एक-एक करोड़ रुपया आता। इसी प्रकार अन्य वस्तुओ का भी अनुमान लगा लेना चाहिये। नष्ट हुई सारी सामग्री यदि विश्व की उन्नति या भलाई में लगाई जाती तो मैं समझता हूँ कि भूख, बेकारी सर्वथा समाप्त होकर सारा जगत् स्वर्ग के रूप में बदल जाता।

इसका नाम देशभक्ति नही है। यह तो देश-द्रोह से भी अति भयंकर बात है। इसलिये केवल अपना 'देश-पक्ष' व्यक्तिगत स्वार्थ या अज्ञान का ही परिणाम है। वास्तविक रूप से मनुष्य को चाहिये कि समस्त जगत् को अपना राष्ट्र समझे और द्वैत-भावना को निकाल कर व्यापक समता की भावना को लाने का सत्प्रयास करे। तभी मानवमात्र का कल्याण सम्भव है।

## परिवार

कुटुम्ब की ममता, राग, मोह, आसक्ति आदि से सब लोग घिरे रहते है। शास्त्रो मे तो दुःख या अशांति का एकमात्र कारण इन्ही राग, द्वेष, आसक्ति इत्यादि को माना है।

यह मनुष्य परिवार के मोह मे ऐसा बंध जाता है जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही बनाए हुए कोश मे स्वयं ही जकड़ जाता है। फिर उस कोश से निकलना असम्भव हो जाता है। यहाँ तक

कि अपनी ही रचना रेशम का वह खोल जिसमें कीड़ा बंद होता है, उस कीडे के विनाश का कारण बन जाता है। इसी प्रकार यह मनुष्य भी अपनी ही रची हुई सृष्टि, शरीर एवं परिवार में आसक्त होकर जीवनपर्यन्त इन्ही के लिये नाना प्रकार के अनर्थ करता हुआ मृत्यु को तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु इनके मोह, आसक्ति का त्याग नही कर पाता।

कुछ कीड़े साहस और वीरता से काम लेते है तथा खोल को काटकर बाहर उड जाते है। इसी प्रकार कुछ माई के लाल पुत्र, स्त्री इत्यादि परिवार के बीच मे रहते हुए भी ममता एवं आसक्ति से रहित होकर, पद्म-पत्र के समान निर्लेप और शान्त रहते है ।

कहने का भाव यह है कि कुटुम्ब की आसक्ति अपने और दूसरों के अधःपतन का ही कारण होती है। इसका तात्पर्य यह नही कि घर-परिवार को छोड़, बाबा जी बनकर दर-दर भीख मांगता फिरे। ऐसा करने से तो हानि के सिवाय कुछ लाभ नहीं। हाँ, इनके बन्धन या दुःख से मुक्त होने के लिये व्यक्तिगत परिवार की ममता, राग को समष्टि (सारे विश्व) परिवार के साथ जोड़ दे। राग-द्वेष, मोह आदि को प्रेम के रूप में बदल दे।

मोह और प्रेम मे केवल इतना ही अन्तर है कि जब तक हमारा प्रेम किसी-न-किसी स्वार्थ को लिये हुए, थोड़े से व्यक्तियो में ही हो तो वह मोह या राग कहलायेगा और जब निःस्वार्थभाव से विश्व के प्राणिमात्र को अपना परिवार मान ले, तो यही राग या मोह परम शुद्ध, पवित्र प्रेम कहा जायेगा। तब यही मोक्ष या शान्ति का कारण बन जाता है।

परिवार के अन्तर्गत सबसे अधिक आसक्ति परस्पर स्त्री,

पुत्र, वन्धु, वान्धव मे ही होती है। आसक्ति के इन प्रधान सावनो को मोक्ष या शान्ति का साधन कैसे वना सकते है ?

## स्त्री

स्त्री कहते हैं पत्नी को, जिसका अर्थ होता है बेड़ी। वेड़ी दो प्रकार की होती हैं, एक जो यात्रियों को नदी से पार करती है और दूसरी वह जो कैदियो के पैर में डाली जाती है। खड्ग के द्वारा चाहे तो अपना विनाश कर लें और चाहें तो शत्रु को मार कर विजय प्राप्त कर लें। इसी प्रकार से स्त्री भी है। यह भी दोनो प्रकार का काम करती है। जो लोग स्त्री को विषय-वासनाओ की पूर्ति के लिये भोग्य मानकर इसमे आसक्त होते और केवल विपय-भोग की पूर्ति करते हुए कुत्ते-सूअरों की भाँति दर्जनो वच्चे ही पैदा करते है,—उन लोगो के लिये स्त्री कैदियो वाली वेडी का काम करती है, अपना ही विनाश करने के लिये खड्ग का काम करती है।

जो महानुभाव पत्नी को अपनी जीवन-सङ्गिनी अर्थात् संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिये सहायक या साधन मानते है, विपयासक्ति को त्याग कर कामरूपी विक्षेप की निवृत्ति के लिये महीने मे केवल एक या दो वार औषध रूप से सन्तानोत्पत्ति के निमित्त ही उसका सेवन करत है,—उन लोगो के लिये स्त्री पार लगाने वाली वेड़ी अथवा धर्म-रक्षा के निमित्त खड्ग रूप वन सकती है। वे परस्पर के सहयोग से कल्याण प्राप्त कर परम पद के अधिकारी वन सकते हैं।

शारीरिक सम्वन्ध के अतिरिक्त भी पति-पत्नी परस्पर में यदि यह समझें कि आत्मा एक होने से हमारा नित्य का सम्वन्ध है तो इसी सम्बन्ध और आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही परम कल्याण व परम शान्तिरूपी 'मोक्ष' है। इस आत्मा के

प्रत्यक्ष अनुभव होने में पति-पत्नि का सम्बन्ध और परस्पर में अनन्य प्रेम ही परम साधन है, क्योंकि आत्मा परम प्रेम का आस्पद अर्थात् प्रेम रूप है।

यह एक अटल नियम है कि जिस वस्तु मे अत्यन्त प्रेम होता है, उसके द्वारा चित्त की वृत्तियो का निरोध बड़ी शीघ्रतापूर्वक सुगम हो जाता है और चित्त की वृत्ति का निरोध होना ही 'आत्म-साक्षात्कार' यानी 'ईश्वर-दर्शन' मे मुख्य कारण है।

विशेष प्रेम उस वस्तु मे हुआ करता है जिसमे आनन्द का अनुभव अधिक हो। आनन्द का अधिक अनुभव उस वस्तु मे होता है जो आनन्दस्वरूप आत्मा के अत्यन्त निकट हो। आनन्द-स्वरूप आत्मा के अत्यन्त निकट वही वस्तु हुआ करती है जिसमे प्रेम और आनन्द अधिक हो, क्योंकि प्रेम या आनन्द आत्मा का अपना स्वरूप है।

ससार के जितने भी सम्बन्ध अथवा आनन्द है, उनमे सबसे घनिष्ट सम्बन्ध पति-पत्नी का है। चराचर जगत् का प्रादुर्भाव भी इन्ही दोनो शक्तियों से होता है, जिसको दूसरे शब्दो में 'पुरुष-प्रकृति', 'ज्ञान शक्ति व क्रिया शक्ति', 'निमित्त व उपादान कारण' भी कहते है। साइन्स की भाषा मे इसी को 'एलैक्ट्रन व प्रोटान' या 'निगेटिव व पॉजेटिव' भी कहते है। इन्ही दोनो शक्तियों से चराचर जगत् का प्रादुर्भाव होता है, इन्ही मे स्थित रहता है तथा अन्त में इन्ही मे समा जाता है। सारे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण या आधारभूत अधिष्ठान् यही दोनों शक्तियाँ है जो स्वरूप से अभिन्न है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध व्यावहारिक नही अपितु आध्यात्मिक है। इसीलिये स्त्री को 'धर्म-पत्नी' कहा जाता है। धर्म शब्द भी 'धृञ्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है धारण करना। चेतनरूप

आत्मा को ही धर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि धर्म-पत्नी अर्थात् आत्मा को पार करने की बेड़ी।

पति=रक्षतीति=पति अर्थात् जो धर्म यानी आत्मा की रक्षा करे, उसे पति कहते है। जिस प्रकार बेड़ी को मल्लाह और मल्लाह को बेडी, एक ही काल मे एक-दूसरे को नदी से पार करते हैं, इसी प्रकार से पति-पत्नी एक ही काल में एक-दूसरे के रक्षक या उद्धारक हो सकते हैं। किस प्रकार उद्धारक हो सकते हैं? अब इस सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत किया जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रश्न को बहुत ही सुन्दर रीति से सुलझाया है—'यथा अभिमत ध्यानाद् वा।' तात्पर्य यह कि जो वस्तु अत्यन्त प्रिय हो, उसी वस्तु का ध्यान करो, क्योकि जिसमे जिसका अत्यन्त प्रेम होता है, उसी का ध्यान बिना किसी कष्ट या परिश्रम के हो सकता है। चारों ओर से वृत्ति हटकर उसी एक मे जुड़ जाती है। जिस वस्तु में वृत्ति का निरोध हो जाता है, उसी वस्तु मे जो व्यापक चेतन आत्मा विद्यमान् है, उसका साक्षात्कार बडी शीघ्रता एवं सुगमतापूर्वक हो जाता है।

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान तो अवश्य है, परन्तु शीशे व जल मे अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान् रहता है। इसी प्रकार ये पांच विषय,—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध है। इनमे सूर्य रूपी आनन्द स्वरूप आत्मा का प्राकट्य अधिक है।

प्राणिमात्र का अभीष्ट केवल आनन्द ही है। यहाँ तक कि अन्य वस्तुओ का तो कहना ही क्या,—ईश्वर, मोक्ष, परम-शान्ति, स्वर्ग अथवा ससार की अन्य जिस किसी भी वस्तु को हम चाहते या प्रेम करते हैं,—तो हम ऐसा इन पदार्थों के लिये नही, एकमात्र आनन्द के लिये ही करते हैं। जहाँ आनन्द में किंचित् भी अन्तर पड़ा कि फिर वही प्राणप्यारी वस्तु घृणित हो जाया

करती है। ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बतलाते है—

—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

अर्थात् प्रत्येक वस्तु जो किसी को प्रिय है, वह उस वस्तु के लिये प्रिय नही है, किन्तु आनन्द स्वरूप आत्मा के लिये ही सारी वस्तुएँ प्रिय लगती है। हम लोग जो प्यार शीशे के साथ करते है, वह शीशे के लिये नही होता, वरन् अपने ही लिए होता है, क्योंकि उसमें अपना मुँह या स्वरूप देखते हैं। जब उसी शीशे का 'रोगन' उतर जाता है या वह फूट जाता है तो फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार सारे संसार के मोक्ष व पंच-विषय आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष करने के यन्त्र हैं। संसार के किसी भी पदार्थ मे जो भी आनन्द-सत्ता है, वह अपना आत्मा ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र इत्यादि जितने भी संसार के पदार्थ पाँच विषयों के अन्तर्गत है,—वे सारे-के-सारे इस मनुष्य के कल्याण के साधन है, न कि बन्धन, दुःख, अशान्ति व जन्म-मृत्यु के!

हमारे अज्ञान या दुरुपयोग के कारण ही संसार के पदार्थ दुःख व बन्धन के साधन बनते है। संखिया विष तो है, किन्तु सदुपयोग किया जाये तो यही विष अमृत का काम देता है और बड़े-बडे भयंकर रोगों से मुक्त कर देता है। घृत और दूध यद्यपि अमृत है तथापि यदि इन्ही का दुरुपयोग किया जाये तो बडे-बडे रोगों या मृत्यु तक का कारण बन जाया करते है। अतः कल्याण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि संसार की जिस वस्तु मे

अत्यन्त राग या आसक्ति हो, ईश्वर का रूप मानकर उसी का ध्यान करे।

ईश्वर स्वरूप अपना आत्मा सब में ओत-प्रोत है। इसीलिये राग वाली वस्तु के द्वारा शीघ्रता तथा सुगमतापूर्वक वृत्ति का निरोध हो जाने पर, उसी वस्तु के अन्तर्गत और विद्यमान् जो चेतन आत्मा है, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है और फिर उसी आत्मा के साथ सबका अभेद रूप मे अनुभव हो जाता है,—जैसे एक स्वर्ण के भूषण मे भूषण के आत्मा स्वर्ण का प्रत्यक्ष हो जाने पर संसार मे जितने भी भूषण हैं, उन सबके आत्मा स्वर्ण का अनुभव हो जाता है।

सारा जगत् ब्रह्मरूप है तो फिर संसार के विषय अथवा कोई भी पदार्थ विषवत् माया के कार्य, बन्धन तथा दुःख के कारण कैसे हो सकते हैं ?—कदापि नही। यह सब ऐसे अज्ञानियो की कल्पनाएं हैं जिन्हे जगत् के वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा का बोध नही है।

धार्मिक शास्त्र यह बतलाते है कि स्त्री को चाहिये कि पति को साक्षात् ईश्वर, कल्याणकर्ता, परम पवित्र माने और उसी को केवल पुरुष समझे,—सारे जगत् के शेष पुरुषो को स्त्री माने। हर प्रकार से अपने पति की आज्ञा का ही पालन करती हुई पतिव्रत धर्म का पालन करे। ऐसा करने से ही स्त्री का कल्याण हो सकता है। स्त्री को अन्य किसी प्रकार के साधन की कोई आवश्यकता नही है। यदि इस प्रकार के पतिव्रत धर्म पालन करने से स्त्री का परम कल्याण हो सकता है तो पुरुष का कल्याण भी अन्य किसी प्रकार का साधन किये बिना केवल पत्नीव्रत-धर्म पालन करने से ही अवश्यमेव हो सकता है।

अपनी परम प्यारी पत्नी को साक्षात् लक्ष्मी या आद्या शक्ति,

पूर्ण शक्ति, महा शक्ति, ब्राह्मी शक्ति, जगज्जननी मातेश्वरी, पूर्ण ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति मानता हुआ, 'मेरे कल्याण के लिये वही पूर्ण परमेश्वर पत्नी का रूप धारण करके आया है',—इस प्रकार का ध्यान या निश्चय करने से पत्नी मे जो पूर्ण ब्रह्म आत्मा विद्यमान् है, उसका अवश्यमेव साक्षात्कार हो जाएगा। आत्मा का साक्षात् होना ही मानव का कल्याण है।

## पुत्र

'पुं नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः' अर्थात् जो अपने माता-पिता को 'पुं' नाम वाले नरक से तारे यानी मुक्त करे, उसी को पुत्र कहते है, मल-मूत्र के पिण्ड को पुत्र नही कहते। ऋषि-प्रणीत शास्त्रों में ऐसा लेख आया है कि जो मनुष्य पुत्रहीन निस्सतान ही ससार से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह घोर नरक मे जाता है अर्थात् उसकी सद्गति नही होती।

यदि यही बात सत्य है तो फिर सर्वप्रथम उन साधुओ को नर्क में जाना चाहिये जिन्होने विवाह द्वारा सन्तानोत्पत्ति नही की और सूअर, कुत्ते आदि एक-एक समय मे दर्जनो बच्चे पैदा करते है, इसलिये इन्हे कल्याण का प्रमाण-पत्र सर्वप्रथम मिलना चाहिए।

ऐसी बाते सुनकर बहुत-से मनुष्य, जिनकी स्त्रियो से पुत्र का जन्म नही हुआ, बहुत ही शोकातुर और दुःखी देखने मे आते है। उन्हें इस बात का बोध नही है कि पुत्र का तात्पर्य क्या है? यदि पुत्र का अर्थ यही लिया जाय जो कि प्रायः धार्मिक पण्डित लोग किया करते है, तब तो फिर कल्याण के साधन ज्ञान, भक्ति, योग इत्यादि सब व्यर्थ है। फिर तो किसी भी साधन की कोई आवश्यकता ही नही, क्योंकि ९९ प्रतिशत मनुष्य पुत्र वाले ही

होते हैं। उन सब का तो बिना किसी साधन व कष्ट के उद्धार हो ही जावेगा ?

इस प्रकार वेद का सिद्धान्त--'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—व्यर्थ ही हो जायगा। इसलिए पुत्र का यह तात्पर्य कदापि नही है कि बिना पुत्र के पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण, इत्यादि कौन करेगा और बिना श्राद्ध के पितरो का कल्याण कैसे होगा ? यदि ऐसा माना जाए तो फिर तो सारे संसार के ३ अरब मनुष्यो में से ७० करोड़ बौद्ध, ४५ करोड़ ईसाई, ३० करोड मुसलमान आदि सभी नरक मे ही जायेंगे। अधिक-से-अधिक केवल १० करोड़ हिन्दुओं का ही कल्याण होना चाहिये क्योंकि इनके अतिरिक्त और कोई श्राद्ध आदि से कल्याण नही मानते।

कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक आदि अन्य मतावलम्बियों के जितने धार्मिक ग्रन्थ है, जिन्हे वे लोग ईश्वरीय वाणी मानते है, वे सब भी व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिये ये सब कल्याण के साधन नही हो सकते। हाँ, स्वार्थसिद्धि के साधन तो अवश्य ही हो सकते है। अतः अब मैं पुत्र, श्राद्ध, तर्पण इत्यादि का वास्तविक तात्पर्य बतलाता हूं।

पुत्र अर्थात् जो नरक या दुःख से मुक्त करे। इन पुत्रों से तो माता-पिता उलटे नरक के भागी बनते हैं, क्योंकि पुत्र उत्पन्न करने और उसे चरित्रहीन, दुष्ट, सुयोग्य अथवा चरित्रवान् बनाने मे माता-पिता ही प्रधान कारण होते है।

माता-पिता यदि चाहे तो पुत्र को देवता या राक्षस बना सकते है। पुत्र के द्वारा जितना भी अनर्थ या पाप होगा, उसके भागी माता-पिता भी अवश्यमेव हो सकते है। इसलिये पुत्र का वास्तविक अर्थ यह है कि जीवरूपी पिता, बुद्धि रूपी पत्नी के द्वारा, विवेक रूपी पुत्र उत्पन्न करता है। वह पुत्र (विवेक) श्राद्ध

यानी श्रद्धापूर्वक पिण्डदान करता है,—और पिण्ड कहते है इस शरीर को। तीनो शरीरों में जो परिच्छिन्न या अनात्माभिमान है, इसको ब्राह्मण यानी ब्रह्मनिष्ठ गुरु को दान कर देना ही पिण्डदान है। इस प्रकार उस पुत्र 'विवेक' के माता-पिता अर्थात् बुद्धि और जीव का कल्याण अवश्य हो जाता है।

मुझे बाध्य होकर कहना पड़ता है कि वेदों एवं शास्त्रों में ऋषि-मुनियो ने हम लोगो के लिए उन्नति, सुख, शान्ति एवं कल्याण के जो मार्ग तथा साधन बतलाये थे, हम लोगों ने अन-भिज्ञता अथवा स्वार्थ के कारण उनके अर्थ का अनर्थ कर लिया है। व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये अन्ध-परम्परा एवं रूढ़ि-वाद के द्वारा हमने धर्म-कर्म और ईश्वर को व्यापार की वस्तु बना लिया है। परिणाम स्वरूप देश अथवा मानव-समाज को हानि के अतिरिक्त इनसे किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं।

यदि मनुष्य किसी भी कार्य को करने के प्रथम निम्नलिखित कसौटी के द्वारा परिणाम का विचार कर लिया करे तो धर्म और उसके अनुयायियों से देश तथा समाज को इतनी हानि न पहुँचे। अभिप्राय यह है कि अन्ध-परम्परा से बहुत-से ऐसे कर्म होते है जिनके ऊपर धर्म का रंग चढा दिया जाता है और हम लोग परिणाम बिना उन्ही को करते जा रहे है।

यदि कोई भी धर्माचार्य किसी भी पुस्तक का प्रमाण देकर आप से किसी भी प्रकार का विधि-निषेधात्मक कोई धार्मिक कार्य या नियमादि करने या न करने को कहे, तो उसे करने से प्रथम तत्क्षण यह प्रश्न करो कि इस काम को क्यों करूँ और क्यों न करूँ ?

यदि वह किसी प्रकार की कोई हानि या लाभ बतलावे तो फिर प्रश्न करो कि क्या यह हानि अथवा लाभ वर्तमान जन्म

मे ही अनुभव मे आ सकता है या नही ? यदि अनुभव में आता है तो और वहुत-से मनुष्य जो उसे करते आ रहे हैं अथवा अन्य मतावलम्बियो की भाँति नही भी करते,—उन्हे उससे अभी तक क्या-क्या हानि या लाभ हुए है ? यदि नही हुए तो आपके धर्म-ग्रन्थ का प्रमाण या कथन सर्वथा अनुचित एवं विरुद्ध ही नहीं, व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि का कारण भी है। इस प्रकार किसी भी परिणामशून्य साधन के चक्कर मे नही पड़ना चाहिये।

## मान-प्रतिष्ठा

यह भी एक ऐसी वासना है कि जिसके लिये मनुष्य सर्वस्व वलिदान कर देता है,—यहाँ तक कि इसके लिए लोग प्राणों को भी विसर्जन कर दिया करते हैं। सारे दुर्गुणो को त्याग देना अथवा जीत लेना सुगम है, परन्तु मान-प्रतिष्ठा का त्यागना, असम्भव तो नही, अत्यन्त कठिन अवश्य है। अतः अव उस मान-प्रतिष्ठा का विचार दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है,—एक आधिभौतिक और दूसरा आध्यात्मिक अर्थात् शारीरिक तथा आत्मिक। प्रथम शारीरिक प्रतिष्ठा पर विचार किया जाता है।

मनुष्य शरीर को ही आत्मा मानकर यश, कीर्ति, राज्य, वैभव, ऋद्धि, सिद्धि आदि की प्राप्ति की और विद्वान्, योगी, ज्ञानी, भक्त, तपस्वी, अनुभवी इत्यादि वनने की तथा—'मेरे वरावर ससार में दूसरा और कोई किसी भी वात मे न हो, एक मैं ही सव वातो मे वढ़-चढकर हो जाऊँ', —ऐसी प्रतिष्ठा आदि की इच्छायें मनुष्यो को क्यो हुआ करती है ?—इसलिये कि सव का अपना आत्मा ही सव से अधिक महान् प्रतिष्ठित है।

इस आत्मा से वढकर और कोई माननीय नही है, इसलिए यदि इन सारी उपाधियों को विशेष और अद्वितीय रूप में आनन्दमयी वनाना है तो इन्हें केवल उपाधि रूप से प्राप्त न करे,

वरन् उपासना करके आत्मा अर्थात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्मरूप से प्राप्त करे। तभी ब्रह्मरूप होने से यह उपाधियाँ नित्य सुख-शान्ति का कारण बनती है और फिर इनका वियोग कभी नही होता, क्योकि आत्मा का सम्बन्ध नित्य है। इसीलिए ऋषि याज्ञवल्क्य जी ने बृहदारण्यक उपनिषद् २, ४, ६ में कथन किया है—

ब्रह्म त परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद,
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद,
लोकास्त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद,
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद,
भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद,
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद,
इदं ब्रह्म, इदं क्षत्र, इमे लोका, इमे देवा,
इमानि भूतानि, इद सर्वं यदयमात्मा ॥

अर्थ--ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत आदि सब जगत् के अन्तर्गत उपाधिरूप है। जिन्होने इन सबको आत्मा से पृथक् (भिन्न) समझा, वे निश्चित् ही धोखा खायेगे। उनका कल्याण कदापि न होगा, क्योंकि जितने भी स्थूल से लेकर सूक्ष्म स्तम्ब पर्यन्त भूतवर्ग है, वे सब उस एक अद्वैत आत्मा से ही ओत-प्रोत है। वेद डंके की चोट कह रहा है—'इदं सर्व यद्, अयं आत्मा'— यह जो कुछ दिखाई देता है, सब आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त नाम-रूप कुछ भी नही है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि दृश्यमान् नाम-रूपात्मक वस्तुओ को स्थान-भ्रष्ट कर दिया जाय तो वे दु:ख का कारण

वन जाती है और यदि उचित स्थान पर लगा दी जाएँ तो वे ही सुख का साधन बन जाती है।

उदाहरणार्थ—तांगे के आगे घोड़े को जोड़ा जावे तो सुखपूर्वक गन्तव्य स्थान पर पहुँचा जाएगा परन्तु यदि घोड़े के आगे तांगा जोड़ दिया गया तो महान् दुःख का साधन बन जायगा। सिर की पगड़ी पैर मे और पैर की जूती सिर पर बांध ली जावे, कोट-कमीज आदि पैर मे और धोती-पाजामा आदि हाथ मे पहन लिया जावे तो यह विपरीत क्रम दुःख या हँसी का ही साधन बनेगा। यदि इन्हीं वस्तुओ का अपने-अपने समुचित स्थान पर सन्निवेश किया जाय तो ये ही सुन्दरता एवं सुख का साधन बन जायेंगी।

उदर की जठराग्नि अपने उचित स्थान को त्याग कर यदि त्वचा मे प्रवेश कर जावे तो वह ज्वर का रूप धारण कर लेती है और महान् दुःख एवं मृत्यु का कारण बन जाती है। वही जठराग्नि यदि अपने वास्तविक उचित स्थान पर आ जाती है तो पाचन-क्रिया के द्वारा स्वास्थ्य प्रदान कर सुख पहुँचाने लगती है।

इसी प्रकार संसार की इन सारी उपाधियो को यदि इनके वास्तविक स्थान अद्वैत आत्मा मे सजा दें तो ये समस्त पदार्थ महान् सुख-शान्ति एवं परम कल्याण के साधन बन सकते है और इन्ही को स्थान-भ्रष्ट अर्थात् शरीर मे आरोपित करने से यही नाना प्रकार के दुःख एवं जन्म-मृत्यु की कारण बन सकती हैं, क्योंकि शरीर के नाशवान् होने से उसको प्राप्त वस्तुएँ भी अवश्यमेव नष्ट हो जावेंगी।

तात्पर्य यह है कि इन सब पदार्थों का उचित स्थान अद्वैत, पूर्ण ब्रह्म ही है। जो मनुष्य संसार के सारे पदार्थों को सच्चिदा-

नन्द ब्रह्म रूप से (जो कि अपना स्वयं आत्मा ही है) आदर-बुद्धि से उपासना या उपभोग करता है, वह परमानन्द को प्राप्त होकर जन्म-मृत्यु से विमुक्त हो जाता है। तब इन सब पदार्थों का नित्य-सम्बन्ध हो जाता है. क्योंकि इनकी पूर्ण ब्रह्म से कोई पृथक् सत्ता नही है। श्रुति भी यही कहती है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचन्'—अर्थात् यह समस्त जगत् ब्रह्म-रूप है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

संसार के नाशवान् पदार्थ दुःखप्रद तभी प्रतीत होते है जब हम उनको परमात्मा से पृथक् एवं माया का कार्य समझते है। ऊपर किये हुए विचार के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टिकोण से केवल एक ज्ञान-स्वरूप त्रिकालाबाध्य सत्-चित्-आनन्द स्वरूप अपने आत्मा की ही प्रतिष्ठा है जो नाना प्रकार के सांसारिक विषयों के रूप में मूर्तिमान् हो रहा है।

देहाभिमान त्यागकर सर्वरूप अद्वैत आत्मा में ही प्रतिष्ठित होना चाहिये। यही 'अद्वैत-दर्शन' का चरम अभिप्राय है।



# वेद एवं यज्ञ

## वेद

वेद शब्द विद्-ज्ञाने धातु से बनता है जिसका अर्थ 'ज्ञान' है। यदि किसी भी वेद-भक्त से यह प्रश्न किया जाय कि वेद किसे कहते हैं? तो वह यही कहेगा कि 'वेद नाम की पुस्तक अर्थात् कागज व स्याही को!' प्रथम तो ऐसे लोग ही बहुत कम मिलेंगे जो वेद का अर्थ 'ज्ञान' करते हो और ऐसा अर्थ करने वाले कुछ सज्जन मिल भी जाये तो क्या ज्ञान को व्यवहार मे लाने वाले मिलने सहज सम्भव है? जो महानुभाव वेद को केवल पुस्तक यानी कागज-स्याही ही मानते हैं, उन से तो बात करने की कोई आवश्यकता ही नही। वे लोग तो बस, वेद भगवान् की सवारी निकालते फिरे! हाँ, जो विद्वान् व बुद्धिमान् लोग वेद का तात्पर्य 'ज्ञान' मानते है, उन्ही से कुछ विचार-विनिमय करना है।

जब वेद का अर्थ 'ज्ञान' लिया जायेगा तो प्रश्न होगा कि कौन-सा 'ज्ञान',--व्यष्टि या समष्टि, यथार्थ या अयथार्थ? विचार करने पर समष्टि व यथार्थ 'ज्ञान' ही लेना पडेगा, तभी तो वेद ईश्वरीय व अपौरुषेय सिद्ध हो सकेगा अन्यथा बिना सिर-पैर की अनर्गल बात के अतिरिक्त वेद भगवान् का और कोई महत्व ही नही होगा।

संसार भर की इंगलिश, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत,

हिन्दी, रूसी, चीनी इत्यादि समस्त भाषाओं मे लिखी गई पुस्तकों में अनुभवी विद्वानों ने आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक रूप मे जितने भी अनुभूत ज्ञान प्रकाशित किये है, वास्तव मे वे सभी वेद है। वह वेद दो भागों में विभक्त हैं—ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू है। इन दोनों (ज्ञानशक्ति व क्रिया-शक्ति) के बिना कोई, किसी भी प्रकार की सफलता व सिद्धि उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता, जिस प्रकार कि कोई भी सवारी, मनुष्य या पक्षी दो पहियों, दो पैरो या दो पंखों के बिना नहीं चल या उड़ सकता। किसी भी कार्य को करने के लिये प्रथम ज्ञान अनिवार्य है। फिर उसी के प्रकाश में कर्म प्रारम्भ किया जाता है। कर्म के आदि, मध्य और अन्त मे भी 'ज्ञान' अवश्य विद्यमान् रहता है।

यह भी जानना आवश्यक है कि विद्वानों ने जिस सिद्धान्त को ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड के रूप मे विभक्त किया है, उसमें से ज्ञानकाण्ड के द्वारा तो सबके कारण रूप आत्मा का ज्ञान होता है और दूसरे कर्मकाण्ड के द्वारा समस्त कार्यरूप जगत् में नाना प्रकार के क्रियात्मक प्रयोग, अनुसन्धान, व्यवहार या साधन होते हैं जिसको आधिभौतिक ज्ञान कहते है और जिसका यथार्थ उप-योग वैज्ञानिक लोग कर रहे हैं। इसी कर्मकाण्ड का प्रधान विषय या अङ्ग 'यज्ञ' है। वेद मे कई प्रकार के यज्ञो का प्रकरण आता है, जैसे—नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, अजामेध इत्यादि। जिस प्रकार आजकल के वैज्ञानिकों व विद्वानों ने अपनी भाषा में मिलों, फैक्ट्रियो, यन्त्रों, इंजनों और इनके बनाने वालों, प्रयोग करने वालों, संचालकों, कर्मचारियों तथा आचार्य इत्यादिकों के नाम रखे है, इसी प्रकार प्राचीन वैज्ञानिक ऋषियों ने भी इस

यज्ञ-विभाग मे विभिन्न नाम रखे हैं जिनका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

### यज्ञ

किसी भी प्रकार का ज्ञान या विद्या केवल वाणी और पुस्तको की शोभा बढ़ाने के लिये ही नही हुआ करती, बल्कि कर्म या पुरुषार्थ के द्वारा प्रयोग करके उसके अन्दर छिपी हुई सफलता एवं सिद्धि रूपी फल को प्राप्त करने के लिये ही हुआ करती है। यदि प्रयोग की कसौटी पर कसने पर कोई विद्या या ज्ञान पूरा नही उतरता अर्थात् परिणामशून्य है तो वह वन्ध्या के समान है। कोई भी ज्ञान अथवा कर्म केवल ज्ञान या कर्म के लिये ही नही होता अपितु अभीष्ट परिणाम (फल) के लिये होता है।

प्राचीन एवं वर्तमान रूढ़िवादी स्वार्थी लोगों ने धर्म, वेद, ईश्वर एवं देवी-देवताओ के नाम पर इतना भयंकर पाप शुरू कर दिया कि निर्दोष पशुओं की तो बात ही क्या है, मनुष्यों तक की वलि दी जाती रही है। वर्तमान युग मे भी देवी के नाम पर विन्ध्याचल, देवी पाटन, कलकत्ता की काली आदि देवस्थानों मे हजारो निर्दोष पशुओ को मौत के घाट उतार दिया जाता है। यहाँ तक कि अभी इसी सन् सत्तर के क्वार के नवरात्रों में एक व्यक्ति ने अपने दो लडको की वलि चढ़ा दी जिसका विवरण समाचार-पत्रो में आ चुका है। यदि इन हिंसक याज्ञिको से पूछा जाता है कि इन निर्दोष प्राणियो के साथ इतना निर्दय व्यवहार क्यों करते हो? तो ये लोग उत्तर दिया करते हैं—'इन यज्ञ-पशुओं को ह[illegible] से हम स्वर्ग पहुँचाते है।' इस उत्तर को सुनकर इन से [illegible] कहा जाय कि यदि स्वर्ग पहुंचने का यही सीधा रास्ता है तो इसी रास्ते तुम अपने माता-पिता, भाई,

लड़कों, स्त्री इत्यादि को पहुँचाकर अन्ततः स्वयं भी स्वर्ग क्यों नही चले जाते ?

कोई भी वेद या शास्त्र इस प्रकार के कुत्सित एवं घृणित कर्म की आज्ञा नही देता। यह तो केवल स्वार्थी अज्ञानियों की आसुरी प्रवृत्ति मात्र है। इसी सिद्धान्त के अनुसार मैं हिंसात्मक वैदिक यज्ञो का पुराने रूढ़िवाद के अनुसार विचार न करके आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से विचार करूँगा।

यजन करने का नाम यज्ञ है और यज्ञ भौतिक एवं आध्यात्मिक दो प्रकार के होते है—

भौतिक यज्ञ—वैदिक कर्मकाण्ड का ही भौतिक यज्ञ के नाम से विचार किया जाता है जिसका सीधा सम्बन्ध विज्ञान (साइंस) के साथ है। जिन-जिन कर्मों व साधनो के फलस्वरूप आधि-भौतिक सुख व भोग-सामग्री अर्थात् नाना प्रकार के इन्द्रियजन्य, विषयजन्य भौतिक भोग उपलब्ध हों, उन सभी का नाम यज्ञ है। वेद के द्वारा भी इसी बात का समर्थन होता है—'स्वर्गकामो यजेत्' अर्थात् 'स्वर्ग की कामना वाले यज्ञ करे।' तात्पर्य यह है कि जिसे नाना प्रकार के भौतिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा हो, वह यज्ञ करे।

अब यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कौन-सा स्वर्ग ? मृत्यु के पश्चात् जिसका उपभोग होता है, वह स्वर्ग या इसी जीवितावस्था मे ही जिसका भोग कर लिया जाता है, वह स्वर्ग। यदि कोई यह कहे कि—हाँ, मरने के पश्चात् मिलने वाले स्वर्ग से ही वेद का तात्पर्य है तो विचार करने की आवश्यकता है कि जितने भी विषयजन्य सुखो का उपभोग किया जा सकता है, वह सब स्थूल शरीर के द्वारा ही होता है। जब स्थूल शरीर यही नष्ट हो जाता है तो फिर वहाँ जाकर स्वर्ग का उपभोग कौन करता

है? अब यदि आवागमनवादी कहने लग जायें कि मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर ही दिव्य शरीर धारण करके स्वर्ग-सुख को भोगता है तो इस बात का प्रमाण ही क्या है कि मृतक पुरुष मृत्यु के पश्चात् देव शरीर धारण करता और वहाँ जाकर स्वर्ग के विषयों को भोगता है? इस प्रश्न के उत्तर मे इसके सिवाय और क्या प्रमाण हो सकता है कि अमुक-अमुक पुस्तकों मे ऐसा लिखा है। यदि लिखे हुए को ही प्रमाण मानते है तो इस गीता-वाक्य को ही प्रमाण क्यो नही मान लेते—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥'

उपरोक्त श्लोक से पूर्व ४२वें से लेकर ४५वें श्लोक तक दूसरे अध्याय को देखिये। श्री कृष्ण ने केवल पुस्तकाकार वेद और स्वर्ग को बिलकुल वचनो का खेल बतलाया है। एक बहुत बड़े कवि गालिब कहते है—

'हकीकत है हमे मालूम जन्नत की,
पर दिल बहलाने को गालिब ख्याल अच्छा है।'

कोई भी शब्द-प्रमाण तब तक मान्य नही हो सकता जब तक कि उसे युक्ति और अनुभव की कसौटी पर भली प्रकार कस कर न देख लिया जाय।

आइये, आज आपको प्रत्यक्ष प्रमाणो के द्वारा इसी जगत्, इसी जीवन मे और इसी शरीर से दिव्य स्वर्ग का उपभोग करायें! पहिले आपको स्वर्ग शब्द की परिभाषा जाननी आवश्यक है—'स्थूल शरीर, इन्द्रिय तथा मन के द्वारा भौतिक विषयों के उपभोग मे जिस आनन्द का अनुभव हो, उसी सुख को स्वर्ग-सुख कहते हैं। इसका आध्यात्मिक अर्थ बाद में किया जायेगा।

यज्ञ शब्द का अर्थ भी ऊपर बताया जा चुका है--'जिन-जिन कर्मों व साधनो से आधिभौतिक सुख की सामग्री उपलब्ध हो, उन साधनों और कर्मों को ही यज्ञ कहते है।' आइए, इसी दृष्टिकोण से देखें कि हवन से किसी भौतिक सुख की सामग्री का उत्पादन होता है या नही ?

उदाहरणार्थ नाना प्रकार के ऐश्वर्य-सम्पन्न किसी पूँजीपति को लीजिये। उसके पास जितनी भी भोग-सामग्री है, वह सब मनुष्यों ने स्वयं अपने-अपने गुणों, विद्याओं एवं पुरुषार्थ के द्वारा किसी न-किसी कारखाने या कृषि में उत्पादित की है। नाना प्रकार के फल, फूल, मेवे, अन्न, घी, दूध, तेल, साबुन, सुगन्धित द्रव्य, शाक, तरकारी, मसाले इत्यादि दैनिक उपयोग के पदार्थ, नाना प्रकार के ऊनी, सूती, रेशमी इत्यादि वस्त्र, यन्त्र, इजन, मशीन, रंग, रोगन, सीमेन्ट, चूना, लोहा, लकड़ी, पत्थर इत्यादि विविध भवन-निर्माण सामग्री और संगीत, वाद्य, सिनेमा, ड्रामा इत्यादि की सामग्री आदि सभी वस्तुये कहाँ से आती है ? क्या आकाश (स्वर्ग) में नृत्य करने वाले देवताओ ने ऊपर से गिराई है ? देवता भी तो किसी भी प्रकार से मानवीय शक्तियों से पृथक् और कुछ नहीं है—आँख से सूर्य पृथक् नही, जननेन्द्रिय से ब्रह्मा पृथक् नही, रसना से वरुण पृथक् नही, पैर से विष्णु पृथक् नही, प्राणो से वायु पृथक् नही, मन से चन्द्रमा पृथक् नही, बुद्धि से बृहस्पति पृथक् नही और अहंकार से शिव पृथक् नही है। इनमे दैवी शक्तियाँ ही कार्य कर रही है, इनको मनुष्य से अलग मानने की कोई आवश्यकता नही है। विचार करने पर ज्ञात होगा कि मनुष्यो ने ही ज्ञानपूर्वक प्रयोग एवं पुरुषार्थ द्वारा नाना प्रकार की वस्तुओ का निर्माण किया है। इतना ही नहीं,

महान् शक्तिशाली मनुष्य घोर नरक को भी स्वर्ग के रूप में बदल देने में सर्वथा समर्थ है।

रूस मे 'कराकलनक' नाम की हजारो मील लम्बी-चौड़ी रेतीली भूमि व्यर्थ बजर पडी थी। वहाँ केवल छोटी-छोटी घास होती थी। पृथ्वी के नीचे पानी बहुत था, परन्तु वह इतना खारा था कि समुद्र के जल को भी मात करता था। वहाँ छः मास तक इतनी भीषण सर्दी पडती है कि पानी जमकर वर्फ वन जाता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने वहाँ भी अपना चमत्कार कर दिखाया। वड़े-वड़े ट्यूब-वैल लगा दिये। सर्दी के दिनो के लिये बड़े-बड़े सीमेन्टेड तालावो में पानी निकालकर डाला जाता है। शुद्ध मीठा जल वर्फ वनकर ऊपर जम जाता है जिसे हजारों मनुष्य मशीनो के द्वारा तोड़-तोड़ कर वडे-वड़े अन्य सरोवरों मे डालते हैं। तलछट के रूप मे नमक भी नीचे वैठ जाता है। गर्मियों मे यही एकत्रित किया हुआ जल प्रचुर मात्रा मे प्रत्येक कार्य में आता है और लाखो टन नमक, घास, भेड़ो का ऊन इत्यादि भी तैयार होता रहता है। अब उसी भूमि मे वडे-वड़े नगर और कस्वे वस गये हैं और वह स्थान रेल, तार, टेलीफोन, सड़के, विजली, सिनेमा, रेडियो, स्कूल, कॉलिज, कारखानों आदि से सुसज्जित हो चुका है।

इसी प्रकार पश्चिमी पंजाव मे जहाँ विलकुल निरर्थक व निर्जन वन पड़े थे, वही नाना प्रकार के फलो के वाग, वड़े-वड़े सुन्दर नगर और मण्डियाँ वस गई है तथा वह प्रदेश अनेक प्रकार की भोग-सामग्रियो से भरपूर हो गया है। प्राचीन समय मे राजा, [illegible] व पण्डित लोग एकत्रित होकर नदियों के किनारे बड़े-बड़े [illegible] करते एवं निर्दोष पशुओं की वलियाँ दिया करते थे और एक स्वर से प्रार्थना किया करते थे कि 'हे वरुण देव !

हे गंगा-यमुना माता ! आप हम लोगों की बाढ़ से रक्षा करें, हम लोग आपकी शरण है।' पर इतने उपचार करने पर भी प्रत्येक वर्ष गाँव-के-गाँव बह जाया करते थे और वरुण देव किंचित्मात्र भी दया नहीं करते थे। उन्ही नदियों व वरुण देवता पर आधुनिक प्रगतिशील मनुष्यो ने बांध (डैम) बनाकर काबू पा लिया है। पहिले जो जल व्यर्थ जाता और सबकी हानि व दु:ख का कारण बनता था, अब उसी को नहरों के रूप में निकाल दिया है जो नाना प्रकार के बाग व कृषि के काम में लिया जा रहा है। उसी जल से बडे-बड़े विद्युत्-गृह (पावर हाउस) चलते है जिनसे प्रचुर मात्रा मे विद्युत् शक्ति बनकर बड़े-बड़े कल-कारखानो. फैक्ट्रियों, सिनेमा, नाना प्रकार की मशीनरियों और घरेलू उपयोगों मे काम आ रही है।

मानवीय शक्ति के ऊपर पूर्ण विश्वास एवं अखण्ड पुरुषार्थ करने से ही कठिन-से-कठिन समस्यायें भी हल हो चुकी है और होती चली जा रही है। ऊपर कहा जा चुका है कि जिन अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुओ से हजारों-लाखों मनुष्यों का पालन-पोषण हो सकता था या हो सकता है, उनका सदुपयोग न करके उन्हें परिणामशून्य कार्यों मे स्वाहा कर दिया जाता है। यदि किसी भी याज्ञिक से प्रश्न किया जाय कि यज्ञ का क्या परिणाम होगा ? तो इसका कोई भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलेगा। बहुत छलाँग लगायेंगे तो यही कहेगे कि परमाणु या वायु की शुद्धि होती है। क्या वायुमण्डल-शुद्धि का यही परिणाम है कि भारत अन्य राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक झूठ, कपट, चोरी, व्यभि-चार, बेईमानी, धोखा, ब्लैक, रिश्वत, अन्याय, जुल्म, निर्दयता, मूर्खता, दुर्भिक्ष एवं नाना प्रकार के रोगो से पीडित और आक्रांत हो रहा है ?

यदि यह कहें कि मरने के पश्चात् स्वर्ग मिलता है तो अनुभव की कसौटी पर कोई भी बात पूरी नहीं उतरती। कुछ यह भी उत्तर देते हैं कि वृष्टि तो अवश्य ही हवन के द्वारा ही होती है। यदि ऐसा हो तो भारत के अतिरिक्त और किसी भी देश मे वृष्टि नहीं होनी चाहिये क्योंकि अन्य देशों में तो हवन होते ही नहीं। यदि यह कहो कि 'भारत के ही हवनों से सम्पूर्ण संसार मे वृष्टि होती है', तो ऐसा तो देखने में नहीं आता क्योंकि भारत के ही किसी-किसी प्रान्त मे दो-दो, चार-चार, वर्ष तक पानी की बूंद भी नहीं पडती। फलतः दुर्भिक्ष पड़ जाया करता है तथा लाखों मनुष्य, पशु आदि भूख से मर जाते है।

अब प्रत्यक्ष फल देने वाले यज्ञों को देखिये—

## १—आधिभौतिक यज्ञ

यजमान्=मिल व फैक्ट्रियों के मालिक।
अनुसन्धानशाला=इञ्जीनियरिंग कॉलेज, लैबोरेटरीज्।
यज्ञशाला=मिलें, फैक्ट्रियां, कारखाने।
हवन-कुण्ड=एञ्जिन के बॉयलर्स जिनमे कोयला झोंका जाता है।
हवन-सामग्री=कोयला, तेल, पानी इत्यादि।
आचार्य=इञ्जीनियरिंग कालेज के प्रोफेसर, रिसर्च स्कॉलर।
ब्रह्मा=मिलों व फैक्ट्रियों के चीफ इञ्जीनियर।
अध्वर्यु=ड्राइवर या चालक।
होता=फायरमैन जो इञ्जिन में कोयलादि झोंकता है।
प्रस्तोता=कैमिस्ट जो तैयार की गई वस्तुओं का निरीक्षण करता है।
उद्गाता=अर्थकर्ता (एजेन्ट)।

यज्ञ-पात्र=बेलचा, पेचकस इत्यादि नाना प्रकार के यन्त्र और कल-पुरजे जिनकी कारखानों में आवश्यकता पड़ती रहती है।

यह है वेद (ज्ञान) प्रतिपाद्य 'यज्ञ' जिसके प्रारम्भ से ही फल की प्राप्ति होने लगती है। यह यज्ञ नहीं है कि दिल्ली, कानपुर, बनारस इत्यादि नगरों में लाखों रुपये लगाकर 'विश्वकल्याण-यज्ञ' किया जाय और फलस्वरूप अधिक से अधिक पतन भी इन्हीं नगरों का हो। जिस वर्ष देहली में यज्ञ हुआ था, उसी के पश्चात् केवल बंगाल प्रान्त मे ही ४० लाख मनुष्य भूख से मर गये थे। भूख, बेकारी और भ्रष्टाचार भारत मे ही दिन-प्रति-दिन बढ़ते जा रहे हैं।

जिस प्रकार से आजकल मिलों व फैक्ट्रियो के विभिन्न नाम शुगर मिल, क्लाथ मिल, आइरन मिल, फ्लोर मिल इत्यादि है, इसी प्रकार इन वेद-प्रतिपाद्य यज्ञों का भी वैज्ञानिक तात्पर्य है।

'गोमेध यज्ञ'--जिस कारखाने मे ट्रैक्टर इत्यादि नाना प्रकार के कृषि-सम्बन्धी यन्त्रो का निर्माण हो। 'गो' नाम पृथ्वी तथा इन्द्रियों का है। इसका अर्थ हुआ कि जिसके द्वारा पृथ्वी को कमाकर शरीर के पालन-पोषण की खाद्य सामग्री का निर्माण हो।

'नरमेध यज्ञ'--जिस फैक्ट्री मे युद्ध के नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रो का निर्माण हो अथवा देश तथा सारे मानव-मात्र की भलाई के लिए किया गया मनुष्यों का अपना बलिदान।

'अश्वमेध यज्ञ'--जिस फैक्ट्री मे हार्सपावर वाले बायलर या स्टीम, डीजल, इलैक्ट्रिक आदि इंजन तैयार हों; उसे अश्वमेध-यज्ञ कहते है।

'अजामेध-यज्ञ' –प्रकृति पर विजय पाना अथवा प्रकृति का विकास, प्रकाश, अन्तरिक्ष की खोज, समुद्र की खोज, पृथ्वी के गर्भ मे छिपे हुए नाना प्रकार के खनिज पदार्थो, वायु, अग्नि आदि की खोज करना अर्थात् वैज्ञानिको द्वारा खोज करके सभी पंचतत्वो मे गर्भित नाना प्रकार के उन उपयोगी सूक्ष्म तत्वों तथा पदार्थों को प्रगट और प्रत्यक्ष करना जो प्रकृति में सदैव से विद्यमान् हैं, जैसे–सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा, तेल, कोयला, अभ्रक, हीरा-जवाहरात, प्लैटिनम, रेडियम, यूरेनियम, इलैक्ट्रन, न्यूट्रान, प्रोटान, एटम, (अणु), हाइड्रोजन इत्यादि महान् उपयोगी एव शक्तिशाली पदार्थ जिनके द्वारा संसार के अन्दर महानतम कठिन कार्यों और समस्याओं को भी सरलता एवं सुगमतापूर्वक हल करके उन्नति, प्रगति, विकास, प्रकाश एवं अभ्युदय का चरमोत्कर्ष किया जा सकता है।

नाना प्रकार के अनर्थों के कारण स्वार्थ और पक्षपात से रहित होकर, इन खोज किये हुए तत्वों के द्वारा मानव-समाज को सुखी बनाते हुए समस्त दुःखो एवं मृत्यु तक पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

'शतकुण्डी-यज्ञ'—जिसमे १०० हवन-कुण्ड होते है। आइरन मिलो मे लोहा गलाने वाली सैकड़ो भट्टियाँ हुआ करती हैं। इसीलिये शतकुण्डी यज्ञ को आइरन मिल कहा गया है जहाँ पर लोहे की सर्वविधि सम्पूर्ण सामग्री निर्मित होती है।

'राजसूय यज्ञ'– छोटे-छोटे राजाओ या स्टेटो (राज्यो) को संगठित करके, एक विशाल राष्ट्र बनाकर संगठन के द्वारा परस्पर मे एकता व रचनात्मक कार्यों के द्वारा राष्ट्र को सुखी व समृद्धिशाली बनाना ही राजसूय यज्ञ है।

किसी भी प्रकार का ज्ञान व सिद्धान्त प्रयोग व अनुभव के

अभाव में मरुभूमि के जलाभास के सदृश हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि कोई भी कर्म परिणामशून्य हो तो वह केवल बाल-क्रीड़ा का अभिनय मात्र ही हो सकता है। इसलिए संक्षेप में वेद के कर्मकाण्ड यानी आधिभौतिक यज्ञ का विचार किया गया। इतिहासज्ञ व वैज्ञानिक यह प्रश्न कर बैठेंगे कि यदि वेद में विज्ञान का ऐसा चमत्कार है, तो इतिहास इसे कहाँ बतलाता है कि भारत मे कभी ऐसी मिले या फंक्टिरयाँ रही थी? ऐसी बात नही है। भारत मे विज्ञान अवश्य था और उसके ज्ञाता भी विद्यमान् थे। हाँ, आजकल की भाँति इतना अधिक अनुसन्धान और प्रयोग नही था क्योकि उन दिनों सारी विद्याये कण्ठस्थ हुआ करती थी। आधुनिक समय की भाँति उन विद्याओ को सर्वसाधारण जनता के प्रशिक्षणार्थ तब ऐसे विज्ञान-विद्यालय, प्रयोगशालाएँ तथा इंजीनियरिंग कालेज आदि नही थे। आधुनिक काल के पाश्चात्य वैज्ञानिको की भाँति उन दिनों ऐसे निष्पक्ष उदारात्मा कम होते थे। समस्त विद्याये व्यक्तिगत हुआ करती थी और विद्याओ के ज्ञाताओं मे उदारता बहुत कम हुआ करती थी।

रामायण में पुष्पक विमान की चर्चा आती है जो रावण के पास था। कृष्णचन्द्र का 'सुदर्शन चक्र' व लक्ष्मण की खीची हुई 'रेखा' यानी किसी प्रकार का विद्युत् करैन्ट था। जिस समय लंका में राम-रावण का युद्ध हो रहा था, उस समय मेघनाथ ने एक (वैज्ञानिक) यज्ञ आरम्भ कर दिया था। यदि वह पूर्ण हो जाता तो राम का लंका या रावण पर विजयी होना असम्भव था। परन्तु रावण के भाई विभीषण ने इस बात की सूचना राम को दे दी थी, इसलिए उस यज्ञ (फैक्ट्री) का विध्वंस कर

दिया गया। महाभारत के युद्ध मे वायरलैस के द्वारा युद्ध के सारे समाचार संजय धृतराष्ट्र को वतलाता रहा था।

अभी लगभग डेढ़ हजार वर्ष हुए, रावलपिंडी के पास टैक्सला नामक एक स्थान पर, जिसे उन दिनों 'तक्षशिला' कहते थे, एक वहुत वडा विश्वविद्यालय था जिसमे विदेशों से भी लोग विद्याध्ययन करने आया करते थे। वाद मे वह दस मील लम्वी-चौड़ी राजधानी किसी कारण से पृथ्वी मे दव गई। जव अग्रेजों को उस स्थान का पता चला तो खुदवाना आरम्भ किया और वहाँ नाना प्रकार की वस्तुओ के साथ-साथ लोहे का एक वक्स भी निकला। उसे खोला तो उसके भीतर चारो ओर मोटी रुई की तह के भ.तर मखमली रूमाल मे लिपटा हुआ श्वेत वर्ण का १-१ फीट लम्वा-चौड़ा एक शीशा निकला। खुदाई के यूरोपियन अध्यक्ष महोदय को ज्ञात हुआ कि यह कोई साधारण 'शीशा' नही है, इसमें कोई विशेषता है। उसे उसी प्रकार से वन्द करके वैज्ञानिक जाँच के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया गया।

महीनो तक वैज्ञानिक लोग उस पर खोज करते रहे, पर उनको उसका कुछ भी ज्ञान न हुआ। उन लोगों ने उसे अमेरिकन वैज्ञानिको के पास भेज दिया। वे लोग भी महीनो देखते रहे, किन्तु उसका रहस्य न खुला। एक दिन सवसे वडा वैज्ञानिक उसे देख रहा था और गहरे विचारो मे था, उसी समय उसके हाथ से वह शीशा अचानक नीचे गिर पडा और उसके दो टुकड़े हो गये। उस शीशे के एक टुकडे पर पेंसिल से वह जो कुछ चिह्न करता था, वही चिह्न दूसरे टुकड़े पर स्वयं हो जाता था। अचानक उसकी दृष्टि इस तथ्य पर जा पड़ी और वह सारे रहस्य को समझ गया।

प्राचीन समय मे राजाओ के पास ऐसे शीशे होते थे कि

हजारों मील की दूरी पर एक शीशे पर जो कुछ अंकित किया जाता था, वही सब दूरस्थ दूसरे शीशे पर अपने आप नोट हो जाया करता था। तात्पर्य यह कि उन शीशों के द्वारा उन दिनों वायरलैस का काम लिया जाता था। इसी शीशे की सहायता से टेलीविजन का आविष्कार हुआ। टेलीफोन मे भी इसे प्रयोग किया जाने लगा जिसके द्वारा बात करने वाले एक-दूसरे को देख भी सकते है।

इसी प्रकार देहली के लाल किले मे पानी का एक हौज बना हुआ था। उसमे गर्मियों मे पानी बर्फ की भाँति शीतल और सर्दियों में बिल्कुल गर्म रहता था। इसके कारण का पता लगाने के लिये अनेको वैज्ञानिकों ने प्रयत्न किये, परन्तु असफल रहे। अन्त मे उसे तोड़कर देखा गया तो उसके फर्श के नीचे एक दीपक जल रहा था जो हवा लगने से बुझ गया। वैज्ञानिको ने उस दीपक की बहुत जांच-पड़ताल की, किन्तु उसका ठीक-ठीक कुछ पता नही चला।

उपरोक्त सब बाते थी वैज्ञानिक ही, किन्तु अव्यवस्थित एवं अल्प रूप मे थीं। इन्ही कारणो से प्राचीन भारतीय विज्ञान कही भी इतिहास मे नही आया। भारत के वैज्ञानिक-जगत् मे उन्नत न होने का दूसरा विशेष कारण यह भी है कि यहाँ लगभग नौ सौ वर्ष तक यवनो का राज्य रहा। उस समय प्रायः सभी विलासी बन गए थे। वैज्ञानिक अनुसन्धान की ओर उन लोगो का ध्यान ही नही था। भारत मे जितने भी बड़े-बडे पुस्तकालय थे, उन सभी को आग मे फूंकवा दिया गया, कारण कि यवनो के मौलवी आदि धर्माचार्यों ने यह घोषणा कर दी थी कि कुरान शरीफ मे जो ज्ञान है, उसके अतिरिक्त यदि और किसी पुस्तक में कोई ज्ञान है तो वह 'कुफ्र' यानी अन्याय एवं

नास्तिकता है और यदि कुरान के अनुकूल ही किसी पुस्तक में ज्ञान है तो उसकी भी कोई आवश्यकता नही है क्योंकि वह तो कुरान शरीफ मे है ही। हाँ, इन्हीं दिनों जर्मनी लोग बहुत-सा भारतीय साहित्य ले गए थे।

मुसलमानों की नृशंसता की एक घटना अत्यधिक बर्बरता-पूर्ण है जिसमे संसार का सम्पूर्ण अद्वितीय साहित्य स्वाहा हो गया। मिश्र में, जो कि मिश्र जाति के ब्राह्मणों का देश और विद्या का महान् केन्द्र था, एक मील लम्बा-चौड़ा और चार मंजिला एक पुस्तकालय था। सम्पूर्ण विश्व की सभी भाषाओं का साहित्य, विद्यायें और उनके द्वारा रचित सभी विषयों की पुस्तकें इस पुस्तकालय मे संग्रहीत थीं अर्थात् यह विश्व का सब से बड़ा पुस्तकालय था। जब यहाँ यवनों का शासन हुआ तो उन्होने इसमे आग लगा दी। एक महीने तक पुस्तकें जलती रही। जब लगभग आधी पुस्तकें जल चुकी तब जर्मन-वासियों को पता चला और उन्होने मुँह माँगा धन देकर पुस्तकालय खरीद लिया। उस समय तक जितनी भी पुस्तकें जलने से बच रही थीं, उन्हें वे जर्मन ले गये। जर्मन मे विज्ञान, संस्कृत विद्या, वेद आदि की उन्नति का यही कारण है।

जिस समय भारत मे बौद्धों का साम्राज्य था, उन दिनों वैज्ञानिक अनुसन्धान बहुत अधिक था, परन्तु भारतीय धर्मान्धों ने उसे भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ये ही सब कारण हैं कि भारत वैज्ञानिक उन्नति न कर सका।

## गीतोक्त यज्ञ का स्वरूप

इसी यज्ञ को स्पष्ट करने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता के तीसरे अध्याय मे श्लोक ८ से लेकर श्लोक १६ तक इसका बहुत उत्तम रीति से विवेचन किया है। उस श्लोक में तो यहां तक

कह दिया है कि 'कर्म-यज्ञ किये बिना तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकेगी। इसलिये यज्ञ (लोक सेवार्थ कर्म) करो, क्योंकि प्रजापति (प्रजा के शासनकर्त्ता = राजा) ने यज्ञ का नियम (कानून) बनाया है कि इस यज्ञ के द्वारा कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन व कारखानों के उद्योगो से विभिन्न प्रकार की उपभोग्य सामग्री का उत्पादन करो तथा इनसे देवताओं को भी सन्तुष्ट करो।'

आधिभौतिक व आध्यात्मिक ज्ञान देने वाले विद्वत्वर्ग एवं शासकवर्ग दोनों को प्राचीन भाषा मे 'देवता' पुकारा जाता था, जिस प्रकार राजपूताने में आजकल भी राजाओं को अन्नदाता शब्द से सम्बोधित करते है। देवता लोग ही तुम्हें रेल, तार, टेलीफोन, सड़क, पुल, जहाज, स्कूल, कालेज, नहर, बिजली, पानी तथा अन्य अप्राप्य वस्तुओ को विदेशों से मँगाकर दे। इस प्रकार एक-दूसरे की कमी को पूरा और राष्ट्र मे सुख-सुविधा की वृद्धि करते हुए परस्पर सहायक बनो।

यज्ञ के द्वारा उत्पादन की गई सामग्री को विद्वानों व शासक-वर्ग को न देकर केवल स्वयं ही उनका उपभोग करोगे तो देश व सरकार के द्रोही (चोर) बनोगे। कोई भी प्रजा यदि सरकारी कर नहीं देती तो वह दण्ड की भागी बनती ही है। खाद्य पदार्थों से प्रजा उत्पन्न होती है और अन्न इत्यादि भोग्य-सामग्री वर्षा (पर्जन्य) द्वारा ही उत्पन्न होती है। कृषि-यज्ञ (कर्म) शरीर, इन्द्रिय, मन से और मन-शरीरादि चेतन आत्मा से संचालित होते है। वह चेतन ही प्रत्येक कर्म व यज्ञ मे जीवनी-शक्ति (पथ-प्रदर्शक) के रूप में प्रतिष्ठित है।

### आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप

'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञान यज्ञः परन्तप।

सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥'

अर्थात् पूर्वोक्त श्लोको मे द्रव्य-यज्ञ इत्यादि जितने भी कल्याण के साधन बतलाये है, उन सब साधनो मे 'आत्म-ज्ञान' से बढकर और कोई यज्ञ नही है यानी 'ज्ञानयज्ञ' ही सर्वोत्कृष्ट साधन है, क्योकि ज्ञान के द्वारा ही सम्पूर्ण कर्मों के बन्धनों से मुक्ति मिलती है।

इस श्लोक से पूर्व श्रीकृष्ण ने योग, जप, तप, स्वाध्याय, दान, प्राणायाम, शम, दम और अनासक्त होकर इन्द्रियों के द्वारा विषयो का उपभोग करना इत्यादि नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। परन्तु अन्त में निर्णय दिया है कि कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्ति ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार के यज्ञ-साधन से नही हो सकती क्योकि अन्य जितने भी साधन हैं, उनमे उस अज्ञान को निवृत्त करने की सामर्थ्य नही है जिस के कारण यह मनुष्य अपने आत्मा को कर्मों का कर्त्ता भोक्ता और जन्मने-मरने वाला मानता है। इस प्रकार के अज्ञान (भ्रम) तथा तीनो प्रकार (सञ्चित, क्रियमाण, प्रारब्ध) के कर्मों से मुक्ति केवल अपने सच्चिदानन्द स्वरूप, सदा एकरस 'आत्मा' के ज्ञान से ही होती है।

यहा ज्ञान का भी यज्ञ के नाम से ही कथन किया है और आधिभौतिक सुख के जितने भी कर्म तथा साधन हैं, उनका भी यज्ञ नाम से ही कथन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्राणि या मानवमात्र मे जो क्रिया शक्ति व ज्ञान शक्ति हर समय काम कर रही है, इन दोनो का ही कारण रूप से पुरुष-प्रकृति अथवा जड-चेतन या दूसरे शब्दों मे सच्चित्सत्ता के रूप से कथन किया है। इसीलिये तीसरे अध्याय में विष्णु (व्यापक सत्ता) को समस्त यज्ञों मे प्रतिष्ठित एवं ओत-प्रोत माना है।

इन बातों का सारांश यही निकलता है कि किसी भी प्रकार के परिणाम सहित ज्ञान व कर्म पूर्वक पुरुषार्थ ही यज्ञ है। वेदों में यज्ञों का जो प्रकरण आया है, उसका भी बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक रहस्य है जिसका कुछ विचार यहां किया जाता है।

'अश्वमेध-यज्ञ'—'हठयोग' को कहते है जिसमें हठपूर्वक प्राणायाम करके प्राणों का निरोध किया जाता है। 'अश्व' नाम प्राण का है। गमन करने के कारण प्राणो को घोड़े से उपमा दी गई है और मन तथा प्राण का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है कि एक का निरोध करने से दूसरे का भी स्वतः ही निरोध हो जाता है।

यदि एक लंगड़ा और दूसरा अन्धा दोनों भागना चाहें तो अलग-अलग रहकर कदापि न भाग सकेंगे। परस्पर में मिलकर एक-दूसरे की कमी पूरी कर दें, तभी भाग सकते है। अन्धा भाग तो सकता है, परन्तु देख नही सकता और लंगड़ा देख तो सकता है, पर भाग नही सकता। यदि लंगड़ा अन्धे के कन्धे पर बैठ कर उसे मार्ग बताता जाय तो दोनो पलायन कर सकते हैं।

ठीक इसी प्रकार प्राण अन्धा और मन लंगड़ा है। मन में चेतना होते हुए भी वह चल नहीं सकता। इसलिये जब मन व प्राण का परस्पर संयोग होता है, तभी मन चंचल होता है। अतएव किसी भी प्रकार प्राणो का निरोध करने से मन का भी निरोध हो जाता है और मन का निरोध होने से आत्म-साक्षात्कार होने मे बड़ी सहायता मिलती है।

'आत्मा' स्वयं अपने आपको कहते हैं। जो आप स्वयं ही हैं तो साक्षात्कार किसका, कैसा? जिस मन ने पहले बन्धन व अज्ञान माना था, स्वयं को परमात्मा से भिन्न माना था, वही मन

अब अपने आप को मुक्त और ज्ञानी अर्थात् आत्मा से अभिन्न मानने लगा,—यही आत्मा का साक्षात्कार है। यथार्थ में तो आत्मा में कभी भी बन्धन व अज्ञान संभव ही नही हो सकते। यह अकाट्य सिद्धान्त है कि चेतन और सद्‌वस्तु कभी जड़ और असत् नहीं हो सकती, अतः आत्मा किसी भी कारण से कभी भी अनात्म नही हो सकता। फिर भला साक्षात्कार किसका और मोक्ष कैसा? ये सब मन की केवल कल्पना मात्र है।

जिस प्रकार अपना व्यवहार चलाने के लिये मनुष्यों ने स्वयं ही सूर्य मे रात्रि, दिन, अन्धकार, वर्ष, मास, पक्ष, घण्टा, मिनट आदि की कल्पना कर ली है, सूर्य मे इन सबका नितान्त अभाव है, इसी प्रकार आत्मा कर्त्ता-भोक्तापन, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन, मोक्ष एवं सुख-दुःख से सर्वथा अतीत है। तात्पर्य यह है कि प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र (दशम द्वार) में रोककर निर्विकल्प समाधि प्राप्त करना ही 'अश्वमेध' यज्ञ है।

'गोमेध-यज्ञ'—यम, नियम एवं विचार इत्यादि साधनो के द्वारा इन्द्रियो के दमन करने को गोमेध कहते है। अपने-अपने विषयो की आसक्ति से इन्द्रियों की निवृत्ति रूपी संयम ही 'दम' है। सारांश यह है कि इन्द्रियो के द्वारा उचित्त कर्मो का करना और विषयो को भी आसक्ति रहित होकर भोगना अर्थात् इन्द्रियो द्वारा होने वाले प्रत्येक कर्म से कर्त्तापन के अभिमान से रहित रहना 'दमन' कहलाता है। यहाँ इन्द्रियों का 'गो' नाम से कथन किया है, इसलिये इन्द्रियो के उचित प्रयोग व संयम का नाम ही 'गोमेध-यज्ञ' है।

'अजामेध-यज्ञ'—'न जायते इति अजा' अर्थात् जन्म से रहित अनादि को ही 'अजा' (प्रकृति) कहते हैं। दूसरे प्रकार से जो अजेय हो, जिसका उल्लंघन न किया जा सके, उसे अजा

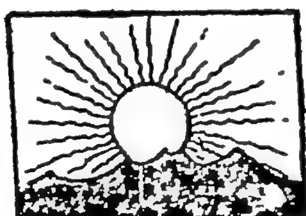
कहते है। जगत् के अन्तर्गत प्रकृति का उल्लंघन कोई नही कर सकता, अतः यहाँ अजा का अर्थ प्रकृति है।

'सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥'

'सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते है अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करता है, फिर इसमें किसी का हठ क्या करेगा? प्रकृति सब नाम-रूपात्मक जगत् प्रपंच की उपादान (कारण) भूत है। जैसे नाना प्रकार के भूषण व घट स्वरूपभूत होने से अपने उपादान स्वर्ण व मृत्तिका का उत्क्रमण नहीं कर सकते अर्थात् कोई भी कार्य अपने कारण का उल्लंघन नही कर सकता। इसी प्रकार किसी के भी शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ प्रकृति का उल्लघन नही कर सकते, क्योंकि प्रकृति ही इन सब संघातो की कारणरूप से स्वरूपभूता है। चिदाभास (जीव) भी प्रकृति का उत्क्रमण नही कर सकता क्योंकि वह भी प्रकृति का ही कार्य है। इस प्रकार प्रकृति व पुरुष के विवेक या ज्ञान को ही 'अजामेध यज्ञ' कहा गया है।

सूक्ष्मतम बुद्धि से विचार किया जाय तो प्रकृति चैतन्य की ही स्वरूपभूत है क्योकि शास्त्रो ने ईश्वर का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द माना है। इस सत् का ही प्रकृति के रूप मे वर्णन किया है अर्थात् चेतन पुरुष का सत्तांश ही प्रकृति है। चेतन अपने अस्तित्व 'सत्' (सत्ता) का उल्लंघन कैसे कर सकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य अपने स्वरूप प्रकाश का उल्लंघन नही कर सकता, इसी प्रकार चेतन भी अपने स्वरूपभूत सत् यानी प्रकृति का अतिक्रमण नही कर सकता। इन्ही कारणो से प्रकृति माता का 'अजा' नाम से कथन किया गया है।

'नरमेध यज्ञ'—नर मनुष्य को कहते है अर्थात् शरीर, मन, इन्द्रियो इत्यादि मे चेतन आत्मा के अनात्म अभिमान को समष्टि चेतन में लय अर्थात् सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म आत्मा मे मिलाकर एक कर दे। जिस प्रकार तरंग व घट के पृथक् अस्तित्व को समुद्र व मृत्तिका मे लय कर के उनको एक रूप निश्चय किया जाता है, इसी प्रकार व्यष्टि मन-इन्द्रियो व शरीर को समष्टि चेतन आत्मा ही निश्चय करे, क्योकि कोई भी कार्य अपने स्वरूप कारण से कभी त्रिकाल मे भी भिन्न नही हो सकता। इस प्रकार चिदाभासरूपी नर के द्वारा ज्ञानाग्नि मे अनात्म व परिच्छिन्न अभिमान को आत्म-निवेदन रूपी स्वाहा करना ही 'नरमेध यज्ञ' कहलाता है।



# देवों को बन्दी बनाने का रहस्य

हिरण्यकश्यप एवं रावण आदि वैज्ञानिक असुरों के द्वारा अन्य देवताओं का बन्दो (कैदी) बना लिया जाना भी एक वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक रहस्य है।

१—वायु देवता का बन्दी होना—आधुनिक काल में बिजली के पंखे, कूलर और दूसरे प्रकार के हवा के यान्त्रिक साधनों द्वारा स्वेच्छया जब, जहां, जितना चाहो,—काम लेना।

२—अग्नि देवता का बन्दी होना—विद्युत्, माचिस एवं अन्य प्रकार के उपकरणों के द्वारा अग्नि को प्रगट करके स्वेच्छानुसार कभी भी, कहीं भी, कैसा भी काम निकालना।

३—वरुण देवता का बन्दी होना—नाना प्रकार के वाटर-वर्क्स, ट्यूबवैल, नदियो पर बाँध, घरों में पानी के नल इत्यादि साधनो के द्वारा जल को अपने नियन्त्रण में करना और उसका स्वेच्छया उपयोग करके सब प्रकार की सुख-सुविधायें जुटा लेना।

४—इन्द्र और उसके वज्र का बन्दी होना—विद्युत् शक्ति इन्द्र का बज्र और नाना प्रकार की क्रिया शक्तियाँ (कर्म) इन्द्र है। इन्हीं दोनों दैवी शक्तियों के द्वारा विभिन्न साधनों से संसार में महान् से महान् एवं कठिन-से-कठिन समस्याओं को सरल बनाकर प्रत्येक कार्य का फल और सिद्धि प्राप्त कर लेना।

देवताओं के बन्दी होने का आध्यात्मिक रहस्य है कि

योगी, ज्ञानी एवं भक्त अपने साधनो के द्वारा इन दैवी शक्तियों को प्रत्यक्ष करके अपने अधीन कर लेते हैं।

१—योगी—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अष्टांग योग साधनों के द्वारा स्थूल पंचतत्वो की सूक्ष्म तन्मात्राओं के रहस्य को प्राप्त करके अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियो तथा वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि को अपने वश मे करके इनसे इच्छानुसार कार्य लेना।

हरिद्वार मे एक सिद्ध योगी ने मुझसे कहा था कि मेरे पाँच नौकर सदा मेरे साथ रहते है और मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। उन्होने मुझे वायु एवं जल के कुछ चमत्कार भी दिखाये। अन्तरिक्ष मे लगभग १०० फीट की ऊँचाई पर स्थित होकर, वायु की तीव्र गति को रोककर, आँधी चलाकर, अग्नि जलाकर एवं उसे शान्त करके, अग्नि मे प्रवेश करके, जल में प्रवेश करके, जल पर चलकर, वर्षा कराकर एवं रोककर, पृथ्वी में प्रवेश करके, अपने शरीर को विशालकाय एवं पर्वताकार बनाकर, शरीर के भार को बढ़ाकर सब अलौकिक एवं अभूतपूर्व चमत्कार उन्होने दिखलाये थे।

२—ज्ञानी—स्थूल एवं सूक्ष्म पंचतत्वों और इनके सभी स्थूल एवं सूक्ष्म कार्यों (सृष्टि) को अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा से अभिन्न जानते, मानते एवं अनुभव करते हुए काकभुशुण्डी एवं महर्षि मार्कण्डेय की भांति पंचतत्वों की महाप्रलय होने पर भी ज्यो-के-त्यो बने रहना ही दैवी शक्तियो पर नियन्त्रण करना है।

३—भक्त—कारण-कार्य सहित सम्पूर्ण संसार मे अपने परम प्रियतम इष्टदेव को ही सर्वरूप में प्रगट प्रत्यक्ष (हाजिर-नाजिर) देखते हुए प्रह्लाद, मीरा, तुलसी, नामदेव, ज्ञानदेव इत्यादिको की

भाँति स्थूल-सूक्ष्म पंचतत्वों अर्थात् दैवी शक्तियों के स्वभाव और गुण पर नियन्त्रण कर लेना अर्थात् इनका कोई प्रभाव न पड़ना, जैसे—प्रह्लाद को अग्नि ने नहीं जलाया, जल ने नहीं डुबाया, हाथी ने नही कुचला, सर्प ने नहीं डंसा, सिंह ने नहीं खाया, क्योंकि इन सभी में उनको भगवत् दर्शन हो रहे थे।

इसी प्रकार मीरा का विष का प्याला अमृत बन गया और सर्प की पिटारी में शालिग्राम ठाकुर के दर्शन हुए।



# नास्तिक कौन ?

संसार मे कोई भी मनुष्य नास्तिक नहीं हो सकता, क्योंकि जिसने किसी भी वस्तु की सत्ता को स्वीकार कर लिया, उसे नास्तिक नही कहा जा सकता। कोई ईश्वर, आत्मा, चेतन आदि की सत्ता को न भी स्वीकार करे, किन्तु जगत् की सत्ता को तो स्वीकार करेगा। यदि जगत् की सत्ता को भी स्वीकार न करे तो अपनी सत्ता मे तो किसी को भी कोई संशय हो ही नही सकता। ससार मे सभी प्रश्न वन अथवा हो सकते हैं, किन्तु यह प्रश्न नही हो सकता कि 'मैं हूँ या नही ?' तात्पर्य यह है कि सभी मनुष्य अपनी सत्ता को स्वाभाविक एवं निर्विवाद स्वीकार करते है। जो किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं मानता, वह भी अपनी सत्ता को तो अवश्य ही मानता है। इस प्रकार संसार में कोई भी नास्तिक नही है।

नाना प्रकार के सम्प्रदाय के लोग नास्तिक उसे कहते हैं, जो उनके धर्म, ईश्वर या धर्मग्रन्थ को नही मानता। बहुत से मनुष्य नास्तिक उसको कहते है जो वेद, ईश्वर एवं धर्म को न माने। ससार मे ऐसा तो कोई भी मनुष्य हो ही नही सकता जो ज्ञान, शासक या प्राकृतिक विधान को न मानता हो। ज्ञान को मनुष्यमात्र मानते है, क्योकि इसके विना न कुछ जानना संभव है और न किसी प्रकार का कोई व्यवहार ही हो सकता है। जिस चालन-सत्ता (कण्ट्रोलिंग पावर) के नियन्त्रण मे आकाश, वायु,

अग्नि, जल, पृथ्वी, पंचतत्व, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र है और रात्रि, दिन, सर्दी, गर्मी, ग्रीष्म, बसन्त, शीत, वर्षा आदि ऋतुये तथा ग्रहों का अपनी-अपनी कक्षा में स्थित होकर सूर्य की परिक्रमा आदि कार्य नियमबद्ध हो रहे है, उसी नियन्त्रण-शक्ति को ईश्वर कहते है। सांसारिक भाषा मे इसी शक्ति को गर्वनमैन्ट, सरकार आदि कहा जाता है।

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर के अन्तर्गत बाल, तरुण, युवा, वृद्ध और मृत्यु अवस्थाओ का बदलना, अन्न, फल, फूल, शाक, सब्जी, पशु, पक्षी इत्यादि का नियमबद्ध उत्पादन और स्वभाव, गुण एवं कर्मों की स्थिति, वायु का गमनागमन, नदी का बहना, अग्नि का जलना, पृथ्वी का घूमना, शरीर के अन्तर्गत नाड़ियो का कार्य करना, पेट की पाचन क्रिया, सोना, जागना, पाँच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा देखना, सुनना आदि जो भी प्राकृतिक स्वाभाविक व्यवहार या विधान देखने मे आता है, इसके बिना भला कौन जीवित रह सकता है? इस प्रकार ज्ञान, शासन-शक्ति एवं शासन-विधान को सभी निर्विवाद मानते हैं, अत. नास्तिक कोई नही हो सकता।

जो लोग एक ही परमात्मा को सर्वत्र व्यापक, पूर्ण, सब का आत्मा और सब का हर्त्ता, कर्त्ता, धर्त्ता, प्रेरक तथा सभी मन्दिर, मसजिद, चर्च एवं भूत प्राणियों मे एक ही मानते है, उनके दृष्टिकोण को लेकर इस बात का विचार करना है कि नास्तिक कौन है?

यदि ईश्वरवादियो से यह प्रश्न किया जाय कि आप लोग अपनी भावना व मान्यता के विरुद्ध किसी से द्वेष क्यों करते है? तो वे यही कहेंगे कि ये लोग नास्तिक हैं, हमारे धर्म व ईश्वर को नही मानते। ठीक है, आप लोग तो मानते है?—बताइये

आप कहाँ-कहाँ मानते है,—केवल मन्दिरों, गिर्जों व मसजिदों में ही या इनके अतिरिक्त और भी कही ? यदि यह कहो कि हाँ, केवल इन स्थानो मे ही मानते है, इनके अतिरिक्त और कहीं नहीं मानते, तो आप भली प्रकार से द्वेष या भय कीजिये। एक समय आएगा कि ऐसे मनगढित ईश्वर, खुदा, गॉड और कपोल-कल्पित झूठे धर्मों का वोरिया-बिस्तर सदा के लिये बन्द होकर वही पर ऐसे सच्चे ईश्वर एवं धर्म का आसन जमा दिया जायेगा जो स्वाभाविक सत्य एवं सभी मनुष्यमात्र का एक ही है।

यदि यह कहो कि अजी, हम तो ईश्वर को सर्वत्र परिपूर्ण मानते है, तो फिर पूछना यह है कि उन शूद्रों, अछूतो, दीन-हीनों, मजदूरो, दुखियो, निर्धनो, निर्दोष पशु-पक्षियो इत्यादि में भी ईश्वर है या नही है जो भूख या अनेक प्रकार के दुःखों व रोगों से तंग आकर आत्महत्या तक कर डालते है ? जिनके रहने के लिये न तो झोंपडी है, न तन ढकने के लिये चिथड़े है और न बीमारी के समय कोई औषध ही है। खाने के लिये रोटी तक का अभाव है। ऐसो की संख्या सौ, दो सौ नही, भारत मे ही पन्द्रह करोड़ से अधिक है।

अपनी इन भयानक समस्याओ से दुःखी होकर जब ये लोग आन्दोलन या उपाय करते है, तब इन्हें लाठी व गोली से शान्त किया जाता है और देशद्रोही, अधर्मी, नास्तिक, गुण्डे, लुटेरे इत्यादि बताकर नाना प्रकार के छल-बल इत्यादि साधनों के द्वारा दमन करने का उपाय किया जाता है। कुछ लोगो को तो नीच, भ्रष्ट, शूद्र, पतित इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता और कही पर इनको परछाईं पड़ना भी पाप या अधर्म माना जाता है। इस सम्बन्ध मे वृन्दावन के एक वैष्णवाचार्य

और सड़क साफ करने वाले भंगी की घटना का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है।

अब आप लोग ही जरा विचार करके देखिये कि यह दोरंगी चाल कैसी और ऐसी दशा मे इन बेचारों में ईश्वर कहाँ रहा? इसी पर एक कवि ने कहा है -

'दोरंगी छोड एक रग हो जा।
सरापा मोम हो या सग हो जा॥

इसी को वदितोव्याघात दोष कहते है अर्थात् जिस बात को मुँह से बोल रहे है, उसका अर्थ स्वयं ही नही समझ और मान रहे क्योंकि स्वार्थ एवं पक्षपात ने सत्य के मार्ग से भ्रष्ट कर रक्खा है।

यदि हम इन लोगों में भी ईश्वर को मानते तो क्या हमें आज किसी से घृणा, भय, द्वेष करने का अवसर आता? एक ओर तो ईश्वर को सर्वव्यापक तथा प्राणिमात्र का आत्मा माना जाता है और दूसरी ओर जब वही ईश्वर एवं आत्माये नाना प्रकार की तंगियों से दुःखी होकर उचित रूप से कोई माँग करें तो बेचारे उस ईश्वर का गोली व लाठी के द्वारा पूजन किया जाता है। इतने पर भी व्यापक परमात्मा के रहने के लिये लाखों-करोडो रुपये लगाकर बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, मसजिद, चर्च इत्यादि देवालय निर्माण किये जाते है और वही ईश्वर वेद, गीता, बाइबिल, कुरान इत्यादि के द्वारा डंके की चोट उपदेश भी दे रहा है—

'सर्व खल्विद ब्रह्म', 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'पुरुष एवेदं सर्व', 'यदभूतं यच्च भाव्यम्', 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत्त वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि

विश्वतोमुखः', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति', 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥', 'आत्मैवेदं सर्वम् ।'

—'मेरे मानने वाले ईश्वरवादियो ! मेरा और मेरे ज्ञान (वेद) का तिरस्कार मत करो ! जो कुछ मैंने उपदेश दिया है, वह केवल पाठ या लच्छेदार व्याख्यान देने मात्र के लिए ही नही, बल्कि ज्ञान व विद्या व्यवहार और आचरण मे लाने के लिये ही हुआ करते है। क्या यही आचरण है ? उस बेचारे ईश्वर के साथ इतनी निर्दयता, कठोरता, नास्तिकता एवं अन्याय ? एक ओर तो यह कहना कि हम ईश्वरवादी है,—अनीश्वरवादियों को समाप्त कर देंगे और दूसरी ओर उसी ईश्वर की जड़ काटना ! यह कौन से वेद व शास्त्र की आस्तिकता है ? किसी वृक्ष की जड़ो मे एक ओर तो पानी डाला जाय और दूसरी ओर उन्हें काटा जाय तो क्या वह वृक्ष हरा-भरा रह कर फल-फूल दे सकता है ? कदापि नही।

भारत के अधःपतन का यही कारण है। हाथी के दाँत खाने के और, और दिखाने के और होते है। इस प्रकार तथाकथित आस्तिक या ईश्वर-भक्त जितना भी धोखा, छल, छिद्र, अन्याय, निर्दयता, अनर्थ और पाप दूसरो के साथ कर रहे हैं, वह सब परमपिता परमेश्वर के साथ ही हो रहा है। इन सब बातो का कारण अज्ञान व स्वार्थ है, जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है। ईश्वरवादी लोग अपनी जान छुडाने के लिये तत्क्षण बोल पड़ते हैं कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता, इसलिये ससार में जो कुछ भी पाप, पुण्य, न्याय, अन्याय, उचित, अनुचित हो रहा है, वह सब ईश्वर की प्रेरणा से ही हो रहा है। यहाँ एक दृष्टात देना बहुत उपयुक्त रहेगा।

एक बार सर्वश्री महामहोपाध्याय पण्डित निरक्षराचार्य जी, अविद्यासागर जी, पण्डित गडरियाचार्य जी, सेठ पकौड़ीमल जी, महाशय प्रज्ञाचंचु जी तथा महाशय ध्वस्तप्रज्ञ प्रभृति ने एकत्रित होकर नास्तिकों का दमन करने यानी बढ़ती हुई नास्तिकता एवं अधर्म को रोकने के लिये एक सम्मेलन (कान्फ्रेंस) करने का निश्चय किया। जब समाचार-पत्रों के द्वारा नास्तिकों को पता चला तो वे भी ठीक समय पर जा पहुँचे। प्रथम दिन राय-बहादुर श्रीमान् सेठ कचौड़ीमल जी के सभापतित्व मे कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् श्रीमान् महाशय प्रज्ञाचंचु जी को व्याख्यान देने का समय दिया गया जिन्होंने अपना भाषण इस प्रकार आरम्भ किया—

'जबकि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तब संसार में जो कुछ भी हुआ, हो रहा है या आगे होगा, वह सब अन्तर्यामी परमपिता परमात्मा की ही प्रेरणा है। इस सिद्धान्त के अनुसार बाध्य होकर यह भी अवश्यमेव मानना पड़ेगा कि औरंगजेब, सिकन्दर, महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, नादिरशाह, अलाउद्दीन खिलजी, हिटलर, स्टालिन और अंग्रेजो ने विश्वभर मे जो कुछ भी अन्याय, अत्याचार व जुल्म किये, वे सब अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा से ही हुए है। अब भी जो साम्य-वादी और साम्प्रदायिक ईश्वर, धर्म व पूँजीवाद का ऑपरेशन करके इन्हें संशोधित, निरोग रूप मे समस्त विश्व मे स्थापित करना चाहते है, ये भी सर्वशक्तिमान् ईश्वर की ही प्रेरणा के अनुसार उस प्रभु की आज्ञा का ही पालन कर रहे हैं।

'इसके अतिरिक्त कसाइयो के द्वारा जो लाखो-करोड़ो गौओं, भैंसो, बकरियों, मुर्गियों, मछलियो इत्यादि का नित्यप्रति वध होता है, वह भी उसी परमदयालु परमपिता की ही इच्छा

से होता है। दूसरी ओर चोर, डाकू, जुआरी, व्यभिचारी, ठग, धोखेबाज, गिरकट आदि के द्वारा भी देश व समाज की जो सेवा होती है, वह भी उसी प्रभु की ही इच्छा एवं प्रेरणा है।

'ईश्वरवादी आस्तिको को चाहिये कि द्वेष के बजाय इन लोगो से प्रेम का व्यवहार करें क्योकि ये लोग ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रहे है। प्रभु-भक्तो को सरकार से अनुरोध करना चाहिये कि वन्दीगृह व मृत्युदण्ड इत्यादि बन्द कर दे। साथ ही अज्ञान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, बन्धन, दुःख, मृत्यु व नाना प्रकार के रोगों को भी तो जगत्-पिता ने ही मनुष्यों की सेवा के लिये बनाया है तथा उसी की प्रेरणा से ये सब अपना-अपना कार्य कर रहे है। अतः भगवद्भक्तों व प्रभु-प्रेमियों को चाहिये कि इन दोषो को निवृत्त करने का कोई यत्न न करें। तभी तो ईश्वर मे वास्तविक विश्वास सिद्ध होगा। श्रीभगवान् की आज्ञा भी यही है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥'

—'ईश्वर सर्वभूतो (प्राणियों) के हृदय-देश में विराजमान् है तथा यन्त्र की भाँति अपनी माया से समस्त प्राणियों को नचा रहा है।'

इस प्रकार महाशय जी का व्याख्यान हो ही रहा था कि वहाँ जितने भी धर्माचार्य नेता उपस्थित थे, सभी को यह बड़ा अनुचित प्रतीत हुआ और उनका भाषण साग्रह बन्द करा दिया गया। फिर अन्य बहुत-से वक्ताओ के भाषणो के पश्चात् कार्य-कारिणी सभा की अन्तरंग बैठक प्रारम्भ हुई। उसमे भी काफी लोग बैठे हुए थे। बढती हुई नास्तिकता एवं अधर्म को रोकने

के लिए योजनाएँ बनानी प्रारम्भ हुईं। एक नेता कहने लगा कि यदि २० लक्ष मुद्रा एकत्र करके राजधानी मे 'नास्तिक-विनाशक' यज्ञ किया जाय तो सभी नास्तिक लोग इसी प्रकार नष्ट हो जायेगे जैसे राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय के 'सर्प-विनाशक यज्ञ' ने सारी पृथ्वी को सर्पों ने रहित कर दिया था। दुर्भाग्यवश एक ही सर्प भस्म होने से शेष रह गया था और उसी से नाना प्रकार के सर्प संसार में फिर हो गए, किन्तु इस यज्ञ में तो एक भी नास्तिक बचेगा ही नहीं!

दूसरे नेता ने अपना विचार प्रकट किया कि यदि पांच लाख रुपये एकत्रित करके वेद-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया जाय तो अवश्यमेव नास्तिकों के समक्ष 'ब्रेक' लग जायगा और सारे नास्तिक 'स्वाहा-स्वाहा' करने लग जायेगे।

तीसरे किसी नेता ने कहा कि यदि प्रत्येक नगर मे 'डुकरिया-पुराण' की कथा प्रारम्भ की जाय तो अवश्यमेव सारे नास्तिक श्री ठाकुर जी का चरणामृत पीने लग जायेगे।

चौथे ने कहा कि मै एक बड़ा सुन्दर नुसखा बतलाता हूं। बड़े-बड़े नगरों मे जहाँ कम्युनिस्टों का जोर है, वहाँ-वहाँ यदि 'काक पंचायत' स्थापित की जाय तो अवश्यमेव बड़े-बड़े सेठो को पैदा हुआ खतरा समाप्त हो जायगा।

ये सब प्लॉन बन ही रहे थे कि एक नास्तिक उठा और उच्च स्वर से कहने लगा—'भाइयो! सावधान, अपने-अपने कान बचाओ! सेठ पकौड़ीमल का कान कौआ काट कर ले गया!'

इतना सुनते ही सब साकारवादी तो अपना-अपना कान पुनः वापिस लाने के लिये कौए के पीछे-पीछे दौड़ पड़े और निराकार-वादी बार-बार हाथ ऊपर उठाकर अपना-अपना कान टटोलने लगे कि है या नही?

उस सभा में कुछ लोग ऐसे भी थे जो इन लोगों की करतूतें देखकर ठहाका मार कर हँसने लगे । इन लोगों ने उनसे कहा--'क्या तुम लोगो ने उनकी बातें सुनीं ?'

हँसने वालों ने कहा—'सुनीं तो अवश्य, किन्तु साथ-ही-साथ समझ भी लीं।'

इन लोगो ने फिर कहा कि समझीं क्या खाक ? न तो तुम लोग अपने-अपने कान ढूंढने के लिये कौए के पीछे ही भागे और न हाथ ऊपर उठाकर उन्हें सम्हाल ही रहे हो !

उन लोगों ने उत्तर दिया कि हम लोगों की बुद्धि अभी हमारे ही पास विद्यमान् है। शरीर के किसी भी भाग मे किंचित् कांटा भी लगता है तो पीड़ा होने से तत्क्षण पता चल जाता है। इतना बड़ा कान कट कर चला जाये और भला पता न लगे कि है या नही ? वे चाहे लाख बकते रहें, हमारे ऊपर उनका असर कैसे पड़ सकता है ?

सभी नेता व धर्माचार्य कुछ सावधान हुए और मन ही मन सोचने लगे कि ये लोग कुछ बुद्धिमान् प्रतीत होते हैं। ये जो कुछ कह रहे हैं, बिलकुल यथार्थ है। गलती पर तो हम लोग ही हैं, हमारे कान तो हमारे पास ही है। इन लोगो ने उन से पूछा कि तुम लोग तो बड़े बुद्धिमान् प्रतीत हो रहे हो, पर हो कौन ? उन्होने उत्तर दिया कि हम अनीश्वरवादी है। फिर तो इन लोगो ने कहा कि ओह ! नास्तिको ! वेद निन्दको !! तुम लोग आचार्य जी की बात की निन्दा कर रहे हो ? तुम लोगों का दर्शन करना भी पाप है ! उन्होने कहा कि कोई बात नही, दर्शन भले ही न कीजिये, किन्तु जो कुछ कह रहे है, उसे तो समझने की कृपा कीजिये। इन्होने कहा कि वाह, समझे तो तब

जब कि बुद्धि हमारे पास हो। वह तो हमने कभी की श्रीठाकुर जी को समर्पित कर दी है !

अब आप लोग स्वयं विचार कर सकते है कि यदि कोई जान-बूझकर बहरा हो जाय तो उसे सुना ही कौन सकता है ? इसे ही कहते है - 'साम्प्रदायिक पक्षपात' व 'व्यक्तिगत स्वार्थ'—जिसके आवेश मे आकर किंचित् व्यक्तिगत लाभ के लिये लोग सारे राष्ट्र, समाज अथवा मानवमात्र का गला घोटने मे कोई संकोच नही करते तथा उन्हें हर प्रकार के सुख से वंचित करने का उपाय करते है।

उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार तीन प्रकार की बुद्धियों वाले आस्तिक अर्थात् समाज, राष्ट्र व सारे विश्व का कल्याण, सुख-शान्ति और उन्नति चाहने वाले जिज्ञासु हुआ करते है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ।

उत्तम आस्तिक वह है जो विश्व के समस्त मनुष्य अथवा प्राणिमात्र को साक्षात् ईश्वर समझता हुआ तथा सबके सुख-दुःख को अपना ही मानता हुआ उसे दूर करने के लिये हर प्रकार की सेवा में तत्पर रहता है। पूजने योग्य ईश्वर ही सब प्राणियो मे 'आत्मा' रूप से विद्यमान् है। उसको तो किसी प्रकार का बन्धन, दुःख, भूख, प्यास, रोग, अशान्ति इत्यादि है ही नही। ये सारे दुःख व रोग इत्यादि शरीर व मन को ही हुआ करते हैं। इसलिये जैसे हमारे शरीर में नाना प्रकार के रोग, भूख इत्यादि से अनेको दु.ख होते है, इसी प्रकार हम मानव मात्र के शरीरो तथा सबकी भूख-प्यास व सुख-दुःख को भी अपना ही मानते हुए,—उन आस्तिको की भाँति केवल धर्माचार्य जी के वचनो को ही नही, वरन् अपने विचार व अनुभव को भी प्रमाण मानते हुए,—प्राणिमात्र का कल्याण करने मे तत्पर हो जायें।

इसमे यदि हमारे प्राणो तक की भी आवश्यकता पड़े तो हँसते-हँसते उसे भी हम देहात्मवादी नास्तिको की भाँति दे दे।

हम लोग तो अविनाशी-आत्मवादी व ईश्वरवादी है। हम ईश्वर व आत्मा को अजर, अमर, नित्यमुक्त, व्यापक व सच्चिदानन्द स्वरूप और शरीर को नाशवान्, मलिन, जड, दुःखरूप, एकदेशीय, जन्मने-मरने वाला मानते है। हम लोग शरीर को तो तृण के समान, पानी का बुलबुला मात्र मानते हैं। हमें भय और चिन्ता किस बात की? हमारे योग-क्षेम के लिये ईश्वर तो है ही। रोदन और चिन्ता तो उन नास्तिको को करनी चाहिये जिनके लिये ईश्वर न तो कोई वस्तु है, न शरीर के अतिरिक्त अमर आत्मा का ही कोई अस्तित्व है तथा यही शरीर और इसी के सुख के भौतिक साधन या पदार्थ ही जिनके सर्वस्व है। उनके शरीर के नाश के साथ ही मानो सब कुछ समाप्त हो जाता है।

विरोचन मतानुयायी देहात्मवादी होते हुए भी सारे विश्व के मनुष्यमात्र को अपना भाई मानते हुए सबकी भलाई के हित समय आने पर जिन लाखो-करोडो ने हँसते हुए अपने प्राणों की बाजी तक लगा दी और जब तक संसार की परिस्थिति सर्वथा मनुष्य के अनुकूल होकर भूख व बेकारी की सर्वथा समाप्ति न हो जायगी, तब तक जो इसी प्रकार अपने प्राणो की बाजी लगाते रहेगे, उन लोगो को अधर्मी, नास्तिक, चरित्रहीन व देश-द्रोही कहना कहाँ का न्याय है? क्या यही घट-घटवासी ईश्वर की भक्ति और असगात्मपरायणता का नमूना है?

शरीर के खान-पान, पालन-पोषण इत्यादि के लिये ईश्वर व आत्मा को वस्त्र की भाँति किसी खूँटी पर टाँग कर अनेक प्रकार के अन्याय, अनर्थ, अत्याचार, धोखे व छल-छिद्र से गरीबो

का रक्त चूस-चूसकर सैकड़ों मनुष्यों के रहने के स्थान, वस्त्र, व सुख साधनो को विशेष-विशेष व्यक्ति अकेले अपने ही उपभोग में ला रहे है, पर जब किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता होती है, तब वे चीटी के बिल खोजने लगते है। क्या इसी का नाम ईश्वर(आत्म)परायणता है ? हमारा यह शरीर नष्ट हुआ तो आगे दूसरा तैयार है, फिर मृत्यु से हमे क्या भय ? भय और चिन्ता तो उन्हें करनी चाहिये जिनके लिये वर्तमान शरीर ही सब कुछ है।

जब इन दुःखियो को और कोई उपाय नही सूझा तो अन्त में बाध्य होकर 'साम्यवाद' का मार्ग निकाला। किसी भी देश में जो साम्यवादी विद्यमान् है, वे क्या कही आकाश से टपके या पृथ्वी फोड़कर बाहर निकले है ? नही, नही ! नाना प्रकार की तंगियों से दु.खी होकर हमारे भाइयो ने ही साम्यवाद की शरण ली है। इन लोगो से घबड़ाने की क्या आवश्यकता है ?

तात्पर्य यह निकला कि उत्तम आस्तिक वह है जो अपने ज्ञान व अनुभव से काम लेता हुआ और सर्वत्र व सब मे अपने ही जैसा सुख-दुःख मानता हुआ, व्यक्तिगत स्वार्थ व पक्षपात को त्यागकर सबके हित मे रत रहे।

अब इस विषय मे उन नास्तिक भौतिक-विज्ञानवादियों के त्याग व बलिदान के नमूने भी देखिये जिनका केवल यही सिद्धान्त है कि—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः ॥'

—'ऋण करके भी घी (भोग-पदार्थ) पी (भोग) लेना चाहिये। जब तक जियें, सुख से ही जीना चाहिये। यह तो केवल भ्रम है कि मरने के बाद ऋण चुकाना पड़ता है। अरे, जब मृत शरीर

को आग भस्मीभूत कर देगी तो फिर कभी उसका पुनरागमन हो ही नही सकता !'

जिनका ध्येय ही उपरोक्त है कि यदि अपने पास धन नही है तो उधार लेकर भी सुख भोग लो, यही परम पुरुषार्थ है, क्योकि मरने के बाद तो कुछ भी शेष नही रहता। ऐसे चार्वाक, विरोचन मतानुयायी देहात्मवादियो की उदारता व साहस को देखिये कि एक-एक वस्तु के आविष्कार और अनुसन्धान में सैकड़ों वैज्ञानिक अपना सारा जीवन ही समाप्त कर देते हैं।

यदि किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता पड़ती है तो ये प्रसन्नतापूर्वक जीवन समाप्त करने में अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं। ऐसे नास्तिकों की बनाई हुई जिन-जिन वस्तुओं का आज सब लोग उपभोग कर रहे है, वे क्या श्री ठाकुर जी की आरती उतारने या 'स्वाहा-स्वाहा' कहने से बनी हैं ? आस्तिकों को यह ज्ञात नही कि एक-एक वस्तु के आविष्कार मे कितना-कितना कष्ट हुआ है तथा कितना समय व धन व्यय हुआ है ? केवल एक एक्स-रे के आविष्कार में ही बीसों देहात्मवादियो को अपने प्राणो की बलि देनी पड़ी, तब जाकर बाहर से ही भीतर के समस्त रोगो को सुगमतापूर्वक नेत्रो से प्रत्यक्ष देख लेना संभव हुआ है।

एक बार किसी वैज्ञानिक अन्वेषण (अनुसन्धान) मे किसी जीवित मनुष्य को फाड़ने की आवश्यकता पडी थी तो कई नास्तिकों ने अपने आपको उपस्थित कर दिया था। इन बातों का ज्ञान या तो वहाँ जाने से अथवा उन लोगों का साहित्य व इतिहास देखने से होता है कि वास्तविक आत्मवादी तो वे ही लोग है तथा जो लोग आस्तिक बने हुए हैं, वे ही असल में विरोचन मतानुयायी देहात्मवादी है। उपरोक्त कार्य करने वालों

को नास्तिक व देहात्मवादी कहना निरी मूर्खता है। इन मूर्खों को यह वेद-प्रमाण भी नही दीख पड़ता—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:'—अर्थात् यह आत्मा (भौतिकानन्द) बलहीन (कायर, डरपोक, शारीरिक कष्ट या मृत्यु से डरने वाले देहात्मवादी अथवा देहाभिमानी) को प्राप्त नही हो सकता। जो केवल युक्तियों, प्रमाणो, अलंकृत लच्छेदार व्याख्यानों, बुद्धि-व्यायाम या बिना प्रयोग के शास्त्रार्थ द्वारा ही प्राप्त करना चाहते है, उन्हें आत्मा न तो कभी प्राप्त हुआ है और न हो सकता है।

बहुत से शास्त्रज्ञ लोग 'आत्मा' शब्द से नित्यमुक्त व नित्य प्राप्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म को लेंगे। परन्तु सोचिये, जो परमात्मा सब प्राणिमात्र का स्वयं अपना आपा होने से नित्य प्राप्त ही है, उसकी प्राप्ति कैसी? उसके लिये साधन कैसा? क्या कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्वत: प्राप्त 'शरीर' की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार का साधन करता है? क्या नाना प्रकार के एञ्जिन अपने स्वरूप (आत्मा) लोहे को प्राप्त करने का कोई यत्न करते है? क्या नाना प्रकार के घट व तरगें अपने आत्मा मृत्तिका व समुद्र को प्राप्त करने का कोई यत्न करते है? 'प्राप्ति' शब्द का प्रयोग केवल उसी स्थान पर हो सकता है जहाँ कोई वस्तु अप्राप्त हो। हम लोगो को कौन-सी वस्तु अप्राप्त है जिसे पाने के लिये वेद कह रहा है कि वीरता व साहस का प्रयोग करके, केवल वाचिक ज्ञान से ही नही, अपितु क्रियात्मक साधनो के द्वारा अपने ऊपर पूर्ण रूप से विश्वास करके प्राप्त करो! यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि कोई मनुष्य किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त या उत्पन्न करता है तो अपनी ही शक्ति (पुरुषार्थ) व बुद्धि के बल पर करता है। क्या किसी दूसरे, ईश्वर या स्वर्ग मे नाचने वाले देवताओ की सहायता से वह कुछ प्राप्त करता है?

यहाँ शास्त्रज्ञ लोग फिर बोल पड़ेगे कि ज्ञान के द्वारा आत्मा की प्राप्ति मानी है। परन्तु ज्ञान के द्वारा कैसे? ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप ही है। क्या कोई भी बुद्धिमान् प्रकाश (लालटैन) लेकर प्रकाश (सूर्य) की खोज करता है? ईश्वर व आत्मा की प्राप्ति मानना ही बुद्धिहीनता है। अतः इसी एकदेशीय (परिच्छिन्न) भौतिक आनन्द तथा इसके साधनों को, जो लाखों मनुष्यो मे किसी एक-आध को ही प्राप्त है, पूर्ण रूप से सबके लिये सर्वदेशीय (सार्वभौम) बनाने के लिये ही वेद भगवान् की ऐसी आज्ञा है। वैज्ञानिक व साम्यवादी लोग इसी प्रयत्न में लगे हुए है। उन्हे सफलता पर सफलता मिलती जा रही हैं। एक दिन ऐसा भी आ जायगा जब सम्पूर्ण विश्व से भूख, बेकारी, नाना प्रकार के रोग, गरीबी, व्यक्तिगत सम्पत्ति, सम्प्रदाय, लड़ाई-झगडे, फूट व संघर्ष करने वाले साम्प्रदायिक व राजनैतिक नेता, जाति व एकदेशीयता इत्यादि जितनी भी सारे संसार को नरक बनाने वाली कपोल-कल्पित रूढ़ियां हैं, सब की सब सदा के लिये समाप्त हो जायेंगी।

यदि व्यावहारिक (क्रियात्मक) वेदान्त से ईश्वरवाद या आत्मवाद की शिक्षा लेनी हो तो इन्हीं नास्तिकों, देहात्मवादी वैज्ञानिकों व साम्यवादियो को पथ-प्रदर्शक बना कर लेनी चाहिये। तभी सम्यक् रूप से अपना व सारे राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। यही उत्तम आस्तिकता है। व्यावहारिक वेदान्त को ही साम्यवाद कहते हैं। जब ईश्वर व वेद साम्यवाद की शिक्षा दे रहे हैं तब उसमे भयभीत होने या द्वेष करने की क्या आवश्यकता है? श्रीकृष्णचन्द्र तो यहाँ तक कह रहे हैं—

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।'

जिनका मन साम्यवाद में स्थित हो गया, उन्होने सब सृष्टि को यही जीत लिया तथा—

'विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनी ।
शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥'

अर्थात् प्राणिमात्र के साथ समता का व्यवहार करो, चाहे वह विद्वान् ब्राह्मण हो या हाथी, कुत्ता, चाण्डाल, गौ इत्यादि कोई पशु ही हो। सबके सुख-दुःख को अपने जैसा देखो।

साम्यवादी केवल मनुष्य के ही साथ समता का बर्ताव करने को कह रहे है। साम्यवाद का तात्पर्य यह नही है कि सभी को राष्ट्रपति की कुर्सी पर बिठा दिया जाय। काम मे विषमता तो हर प्रकार से रहती ही है, क्योंकि विषमता भी प्राकृतिक (स्वाभाविक) है। इसीलिये संसार भर मे न तो एक ही प्रकार का काम है और न सब मनुष्य एक ही काम कर सकते है। ऐसा करने से संसार की कोई भलाई भी नही हो सकती। खान-पान व वस्त्रादि मे भी शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए देशकाल की परिस्थिति के अनुसार विषमता होती ही है। संसार में अनेको प्रकार के काम है। उन्हें करने के लिए अनेको ही प्रकार के कर्त्ताओं की भी आवश्यकता है, क्योकि एक ही व्यक्ति न तो संसार के सारे कामो को जान ही सकता है और न कर ही सकता है। मन्त्री दर्जी का काम नही कर सकता और दर्जी मन्त्री का काम नहीं कर सकता। दोनों ही एक-दूसरे के काम से अनभिज्ञ है, परन्तु करने का निषेध नही है। एक राष्ट्र में सफाई के काम के लिये भंगी की जितनी आवश्यकता है, नियन्त्रण करने के लिये एक मन्त्री की भी उतनी ही आवश्यकता है। अपने-अपने स्थान पर राष्ट्र के लिये दोनो ही उपयोगी हैं। अतः

भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, सफाई इत्यादि दोनों के लिये ही समुचित होने चाहियें क्योंकि दोनों ही मनुष्य हैं, सुख-दुःख दोनों को समान होता है, काम भी दोनों कर रहे है और ईश्वर व आत्मा भी दोनो मे समान ही है। परिस्थिति के अनुसार दोनों को समान शारीरिक सुविधा होनी चाहिये। साम्यवाद का यही तात्पर्य है।

साम्यवादी तथा वैज्ञानिक लोगों का उद्देश्य भी केवल यही है कि सारे संसार से भूख, बेकारी, गरीबी, लड़ाई, रक्तपात, फूट आदि वे सब कुसंस्कार व रूढ़ियां समाप्त हो जायें जिनसे राष्ट्र व समाज को कोई लाभ नहीं है, वरन् जो नाना प्रकार के दुःख व हानि के कारण (साधन) बने हुए है। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन बातों से इसी जीवन में प्रत्यक्ष व सार्वजनिक कोई लाभ नही, वे सभी समाप्त होनी चाहियें।

यहां पर गीता के श्लोक का ऐसा अर्थ देखकर भगवान् कृष्ण के प्रेमी लोग फौरन बोल पड़ेगे कि 'वाह! गीता में भगवान् ने 'समदर्शिनः' कहा है, 'समवर्तिन' नही कहा? क्या आप स्वामी व सेवक को एक ही तराजू से तोलना चाहते है? यह कहाँ का न्याय है?' उत्तर है कि हाँ, आज स्वामी व सेवक को एक ही तराजू से तोला जायेगा! यदि दोनो समतोल निकले तो मूल्य भी बराबर ही लगाया जायेगा। एक दृष्टान्त सुनिये।

एक वैष्णव सन्त के पास दस तोले की चाँदी की बनी हुई एक श्री राम जी की मूर्ति थी और दस ही तोले चाँदी की एक श्री हनुमान जी की मूर्ति थी। वे किसी कारण से उन दोनों मूर्तियों को बेचने के लिये किसी सर्राफ की दूकान पर ले गये। सर्राफ ने दोनों मूर्तियों को तोला और कहा कि दोनों का पचास-

पचास रुपये दाम होता है। तब वैष्णव सन्त ने कहा—'वाह! आपने स्वामी व सेवक का मूल्य बराबर ही कर दिया? यह क्या बात है?'

सर्राफ ने उत्तर दिया—'मुझे तुम्हारे स्वामी व सेवक से कोई मतलब नही, उन्हें तुम अपने पास ही रखो। मुझे तो केवल चाँदी और तोल से मतलब है। इन दोनो का तोल 'सम' है और धातु भी एक ही है, अतः दोनों का समान दाम लगा दिया।'

जब हम शारीरिक दृष्टिकोण से देखते है तो सारे मनुष्यों के शरीर पंचभौतिक ही है और जब आत्मदृष्टि से देखते है तो अनेको बल्बो मे करैन्टवत् सभी का चेतन आत्मा भी एक ही है। समदर्शी बनने के लिए तो ऐरे-गैरे नत्थूखैरे, पचकल्याणी सभी मियाँ मिट्ठू तैयार हो जायेगे, परन्तु व्यवहार व बर्ताव मे समता का आचरण तो करें अर्थात् अपनी ही तरह अनुकूलता, प्रतिकूलता, सुख-दुःख, हानि-लाभ दूसरों मे भी तो अनुभव करे! नानी याद आ जायेगी!

कहने का तात्पर्य यह नही कि हम प्रकृति के नियमों के विरुद्ध समता का व्यवहार करने लग जायें। ऐसा तो कोई कर भी नही सकता। जैसे एक वृक्ष फल, फूल, पत्ते शाखायें, तना इत्यादि से विभिन्न व विषम होते हुए भी वृक्ष रूप से एक ही है, इसी प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बाल, दाँत, सिर, नाखून, पेट, गरदन, छाती, अंग-प्रत्यंग आदि विभिन्न व विषम होते हुए भी शरीर एक ही है और स्वभाव, गुण, कर्म, व्यवहार आदि विभिन्न व विषम होते हुए भी सभी अंगो के साथ एक-सी ही ममता व प्रेम का व्यवहार होता है।

उपरोक्त सम्पूर्ण का सारांश यही है कि अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव (योग्यता) के अनुसार व्यवहार सबके विभिन्न होंगे,

किन्तु शारीरिक योग-क्षेम सभी के समान होगे। 'समदर्शिनः' का तात्पर्य यह है कि अपने ही जैसी भूख, प्यास, सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, हानि-लाभ, मान-अपमान इत्यादि सब प्राणिमात्र मे देखे। इस एक ही व्यक्तिगत शरीर को अपना मानकर हम इसीलिये प्रेम करते है क्योकि इसमें आत्मरूप से हम स्वयं ही है। ऐसी अवस्था मे—'सारे शरीरों मे एक ही चेतन स्वरूप आत्मा है'—इस सिद्धान्त के अनुसार जैसे यह शरीर मेरा है, उसी प्रकार आत्मा की विभिन्नता न होने से समस्त शरीर भी मेरे ही है, अतः जितनी ममता इस व्यक्तिगत शरीर में है, उतनी ही सारे शरीरो मे होनी चाहिये। यही 'समदर्शिनः' का तात्पर्य है।

दूसरा अर्थ यह भी है—सम=ब्रह्म, दर्शिनः=देखने वाले अर्थात् 'सब मे ब्रह्म को देखना।' इसका तात्पर्य यह नही है कि ब्रह्म कोई घटवत् दृश्य पदार्थ है जिसे सब मे देखना है। ब्रह्म (आत्मा) नेत्र व बुद्धि का विषय नही है जिसे देखा या जाना जा सके, वह तो स्वयं ही सबका दृष्टा व ज्ञाता है। नेत्र व बुद्धि स्वयं ही उस चेतन के विषय हैं।

जिस ज्ञान-शक्ति के द्वारा मन और बुद्धि को जान रहे हैं, वही तो ब्रह्म और सबका अपना आपा (आत्मा) है। इसलिये यहां यही तात्पर्य है कि सभी के सुख-दुःखों को अपने ही जैसे अनुभव कीजिए।



# धर्मात्मा कौन ?

महाराजा युधिष्ठिर धर्मावतार, सत्यवादी, मर्यादा-पुरुषोत्तम शान्त-शिरोमणि आदि महान् शुभ गुणों से विभूषित परम सन्त थे। उनकी नीति, मर्यादा, व्यवहार, न्याय, धर्म-परायणता आदि की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। किन्तु इन सब गुणो पर पानी फेर देने वाला जुआ खेलने का दोष उनके जीवन में ऐसा था कि इसी एक दोष के कारण सारे कुटुम्ब-परिवार, राज-पाट, धन-सम्पत्ति आदि की महान् दुर्दशा हुई एवं वे सब अत्यधिक व्याधि, उपाधि, दु.ख, क्लेश, आपत्ति. विपत्ति आदि दुःखों के भाजन बने। यह मानव-समाज के लिये शिक्षा है कि किसी भी दोष मे अत्यधिक आसक्ति होने के कारण दुःखों के तूफान आ जाते है।

यदि युधिष्ठिर का यह दोष उन तक ही सीमित रहता तो कोई बात भी नही थी, किन्तु यही विशाल, भयंकर एवं व्यापक रूप धारण करके तेरह वर्ष के दुःखमय बनवास और तत्पश्चात् महाभारत के युद्ध का कारण वना जिस में अठारह अक्षोहिणी (डिवीजन) सेना, कौरव-पांडवो के समस्त जन-धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदि का सर्वनाश हो गया। इसलिये वाध्य होकर मुझे युधिष्ठिर के भयंकर दोषों के कारण उन्हें अधर्मी, जुआरी कहना पड़ रहा है जिसका उपालम्भ उनके छोटे भाई श्री भीम भी उन्हें वारम्बार देते रहे।

अव मैं युधिष्ठिर एवं द्रौपदी के उन भयंकर दोपों की तरफ

आप लोगो का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो महा-
भारत के भयंकर युद्ध के मुख्य कारण थे। महाभारत के पाठक-
गण क्या इस बात को सिद्ध कर सकते है कि युधिष्ठिर धर्मात्मा
थे? यदि युधिष्ठिर जैसा जुआरी धर्मात्मा हो सकता है तो
अधर्मी कौन होगा? संसार के अन्दर जब कोई जुआ खेलता है,
तो धन-सम्पत्ति आदि को ही दाव पर लगाता है। क्या आज तक
किसी भी जुआरी ने अपनी सारी धन-सम्पत्ति, राज-पाट को दाव
पर लगा कर हार जाने के बाद अपने भाइयो, पत्नी तथा
अपने शरीर तक को भी दाव पर लगाया है? यदि यह सब काण्ड
युधिष्ठिर ने किया तो वह कौन-से वेद-शास्त्र का धर्म है
जिसका उन्होने पालन किया?

युधिष्ठिर के इस अपराध के प्रतिकार हेतु धृतराष्ट्र ने द्रोपदी
से कहा— 'बेटी! तुम मुझ से वर मांग लो।' तब सर्वप्रथम
द्रोपदी ने अपने पतियो को बन्धन से स्वतन्त्र किया। तत्पश्चात्
धृतराष्ट्र ने अपहरण किया हुआ सारा राज्य-पाट, धन-सम्पत्ति
वापिस करके कहा— 'जाओ, प्रसन्नतापूर्वक राज्य करो!' इस
प्रकार से सब कुछ पुन. मिल जाने पर जब पाण्डव अपनी राज-
धानी को लौट रहे थे तो मार्ग मे ही दुर्योधन का दूत दुबारा
पहुँचा, उसके कहने से युधिष्ठिर दुबारा जुआ खेलने के लिये
फिर वापिस पहुँच गये और इस शर्त पर जुआ खेलना स्वीकार
किया कि जो हार जायेगा, उसे बारह वर्ष का वनवास और
तेरहवें वर्ष अज्ञातवास करना पड़ेगा। यदि अज्ञातवास के एक
साल की अवधि में अज्ञातवासी को पहिचान लिया गया तो फिर
से इसी प्रकार बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञात-
वास भोगना पड़ेगा।

एक बार तो गलती हो ही चुकी थी, पर दुबारा ऐसी भयंकर

शर्त को स्वीकार करके युधिष्ठिर ने पुनः जुआ क्यो खेला जिसमें सर्वस्व हारकर बनवास के दुःख और यातनायें भोगनी पड़ी ? उन्हीं के कारण चारो भाइयों और पत्नि द्रोपदी को भी नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़े। यदि निष्पक्ष विचार किया जाय तो यह सब तथा भयंकर नर-संहारक महाभारत का युद्ध भी इन्हीं के कारण हुआ।

महाभारत के युद्ध के कारणो की निष्पक्ष खोज की जाय तो युधिष्ठिर एवं द्रोपदी ही उसके प्रधान कारण थे। द्रोपदी महायुद्ध मे इस प्रकार कारण है कि जब उसका स्वयंवर हो रहा था तो यह शर्त रक्खी गई थी कि घूमत हुए चक्र के अन्तर्गत लटकती हुई मछली को, नीचे उबलते हुए तेल के कड़ाह मे परछाईं ही देखकर, जो तीर द्वारा लक्ष्य-वेध करके कढाही मे गिरा देगा, उसी के गले मे द्रोपदी जयमाला पहनायेगी। पहिले तो धनुष ही ऐसा कठोर था कि उस पर चाप चढ़ाना ही कठिन था। बहुत से योद्धा उस धनुष पर चाप चढाने को उद्यत हुए, परन्तु वे चाप न चढ़ा सके और पछाड़ खाकर नीचे गिर गये। इस दृश्य को देखकर वीरशिरोमणि कर्ण उठे। उन्होने बड़ी ही सरलता एवं सुगमता से धनुष को उठाकर चाप (डोरी) चढ़ा लिया और मछली बेधने को तैयार हो गए। इतने में द्रोपदी ने राजाओ की भरी सभा मे अपमान एव तिरस्कारपूर्वक घोषणा की कि इस सूत्र-पुत्र कर्ण ने लक्ष्य-बेध कर भी दिया तो भी मैं इसके गले मे जयमाला नही डालूँगी अर्थात् इससे विवाह नही करूँगी। इस कठोर एव हृदय-विदारक घोषणा को सुनकर कर्ण ने प्रतिज्ञा की कि समय आने पर मैं इस अपमान का बदला भली प्रकार लूँगा।

दूसरे, जिस समय युधिष्ठिर के यहां 'राजसूय-यज्ञ' हो रहा

था, तो सभी देश-देशान्तर के राजा, सपरिवार धृतराष्ट्र एवं स्वयं दुर्योधन भी यज्ञ मे गए हुए थे। यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन ने मय दानव के द्वारा निर्मित युधिष्ठिर के विशाल महल एवं सभा-भवन की कलाकृति को देखने का प्रस्ताव रखा। वीर अभिमन्यु दुर्योधन आदि महारथियो को साथ लेकर दिखाने के लिये सहर्ष चल पडे।

उस भवन मे ऐसी-ऐसी कलाओ का प्रदर्शन किया गया था कि बन्द दरवाजा खुला हुआ, खुला हुआ दरवाजा बन्द हुआ, जल थल के रूप मे और थल जल के रूप मे दिखाई पड़ता था। इन्ही कारणों से देखते समय दुर्योधन को भ्रम हो गया। बन्द दरवाजे को खुला हुआ समझकर उसने प्रवेश किया तो सिर मे जोर की टक्कर लगी, थल को जल समझकर धोती ऊपर सम्भालने लगे और जल को थल समझकर धड़ाम से पानी में गिर गये। इन दृश्यो को देखकर द्रौपदी ने सहानुभूति प्रगट करने के बजाय हृदय-दाहक वाक्य का प्रयोग किया—'अन्धों के अन्धे ही पैदा होते हैं।' ये वाक्य सुनकर दुर्योधन ने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि समय आने पर इस दुर्व्यवहार का बदला लिया जायेगा।

युधिष्ठिर के जुआ खेलने के परिणामस्वरूप वह समय आ पहुँचा कि युधिष्ठिर खेल मे द्रौपदी को भी हार गए। दुर्योधन ने वीर कर्ण की सम्मति से अपने भाई दु.शासन को आज्ञा दी कि द्रौपदी को जबरदस्ती पकड़ कर सभा मे उपस्थित करो। दु.शासन ने ऐसा ही किया और तत्क्षण अन्त.पुर में जाकर, द्रौपदी का हाथ पकड़ कर बलात् घसीटते हुए उसे सभा मे लाकर खड़ी कर दिया। दुर्योधन ने दूसरी आज्ञा दी कि इसे नंगा करके मेरी गोद मे बैठा दो। यह पतिव्रता स्त्री नही है,

वेश्या है, क्योंकि पतिव्रता का तो केवल एक ही पति होता है और इसके पांच पति हैं, अतः ऐसा करने मे कोई दोष नही है। आज्ञानुसार कार्य प्रारम्भ हो गया और भगवान् कृष्ण की सहायता से द्रौपदी की रक्षा हुई। महाभारत के अनुसार यह विचार तो सर्वविदित है ही, अब इस घटना पर एक दूसरा विशेष विचार उद्धृत किया जाता है।

वर्तमान युग मे भी महान् मूर्ख, अनाड़ी, देहाती, असभ्य, कोल-भील, चमार आदि नीच समाज मे भी ऐसी असभ्यता का व्यवहार कहीं देखने एवं सुनने मे नही आता कि आम सभा के बीच में किसी सामान्य स्त्री को भी नंगी करके किसी की गोद में बैठाया जाता हो। तब भला उस समय के सबसे अधिक प्रतिष्ठित, विद्वन्मूर्धन्य, सभ्य, कुलीन समाज में जिसमें वयोवृद्ध द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, कृपाचार्य, विदुर आदि भी उपस्थित थे, महारानी द्रौपदी को कैसे नग्न किया जा सकता था? यह कुछ बात का बतंगड़ एवं अर्थ का अनर्थ बनाया हुआ लगता है। वास्तव में बात यह थी कि उस समय रानी और राजा-महाराजा राजसी वस्त्र (Royal Dress) या गाउन पहना करते थे। पटरानी होने के कारण द्रोपदी भी गाउन या राजसी वस्त्र पहने हुए थी। गाउन हीरे, जवाहरात, स्वर्ण की जरी आदि से निर्मित और जड़ा हुआ लाखो रुपयो की लागत का वस्त्र हुआ करता था।

इसी राजसी वस्त्र को पहन कर द्रोपदी अन्तःपुर मे दुर्योधन आदि राजाओ की रानियों के साथ बैठी हुई थी कि दुःशासन ने जाकर उसे राजा दुर्योधन की आज्ञा सुना दी और कहा कि युधिष्ठिर के द्वारा जुए में हारे जाने के कारण अब तुम रानी नहीं हो रही हो, अपितु दुर्योधन की दासी बन चुकी हो, इसलिये

महाराजा दुर्योधन की आज्ञा है कि तुम अभी सभा में उपस्थित हो जाओ। द्रौपदी के इस बात को मानने से इनकार करने पर दुःशासन ने हाथ पकडकर उसे सभा में लाकर खड़ी कर दिया। दुर्योधन ने द्रोपदी को देखते ही दुःशासन को आज्ञा दी कि अब यह दासी वन चुकी है, इसलिये इसका गाउन (Royal Dress) खीचकर उतार दो। दुःशासन ने ऐसा ही किया और द्रोपदी का गाउन उतार कर नीचे रख दिया। इसी बात का लोगो ने वतंगड़ अर्थात् राई का पहाड बना डाला है जिसे आप लोग प्राय कहते-सुनते रहते है।

भारतीय समाज मे प्रायः अन्धविश्वास की ही अत्यधिकता है जिसके कारण मनुष्य की निष्पक्ष स्वतन्त्र रूप से विचार करने की बौद्धिक शक्ति कम या समाप्त हो जाती है। इसी कारण वह किसी भी देश, काल, परिस्थिति, धर्म, सम्प्रदाय, वेद, शास्त्र, समाचार-पत्र, धार्मिक एवं राजनैतिक नेताओ के वक्तव्य, लेख तथा प्रसारण आदि मे विवेक-शक्ति के द्वारा सत्य की खोज न करके अन्ध-विश्वास के ऐसे प्रवाह मे वह या अज्ञान के अन्धकूप मे डूब जाता है जिससे जीवन-पर्यन्त निकलना कठिन या असम्भव हो जाता है और मानव-जीवन की उन्नति, प्रगति, प्रकाश, विकास से वंचित रह जाता है।

स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका मे भारतीय जनता की मान्यता के चित्र खीचते हुए कहा था कि हमारी भारतीय जनता प्राय दूसरे के कानो से सुनती, दूसरे की आंखो से देखती, दूसरे की वाणी से बोलती और दूसरे की बुद्धि से सोचती है। यदि निष्पक्ष खोज करके देखा जाय तो प्रायः सभी धार्मिकों एवं साम्प्रदायिकों का आधार अन्धविश्वास ही होता है और विवेक, युक्ति एवं अनुभव के लिये न के बराबर ही स्थान होता है

जिसके कारण परस्पर मे राग, द्वेष, ईर्ष्या, फूट, पक्षपात, लडाई, झगडे, संघर्ष एवं अन्ततः रक्तपात तक होता रहता है। इन सब का कारण अन्धविश्वास और विवेकहीनता ही है।

उदाहरणार्थ किसी दूसरे ने प्रत्यक्ष देखने का प्रमाण भर दिया, स्वयं नही देखा, तो भी दूसरा उसकी बात को सुनकर ही अक्षरश. सत्य मान लेगा, स्वयं तथ्य एवं सत्य को देखने का प्रयत्न ही नही करेगा। स्वयं किसी सत्य को जाने बिना ही दूसरे की झूटी एवं बनावटी बातों को सुनकर मान लेना कानों का कच्चापन है। आँखो से किसी घटना को प्रत्यक्ष देखे बिना ही दूसरे की कल्पना-दृष्ट बातो को सत्य मान लेना आँख का कच्चापन है। निजी सोच-विचार, युक्ति, प्रमाण एवं अनुभव के बिना ही दूसरे की सिखाई हुई बातो को टेपरिकार्डर या लाउड-स्पीकर की तरह बोल देना वाणी का कच्चापन है।

अब बुद्धि के कच्चेपन पर विचार किया जाता है। किसी भी प्रकार के वेद, शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तक आदि का स्वाध्याय करके या किसी धार्मिक अथवा राजनैतिक वक्ता का भाषण सुनकर उस पर स्वय स्वतंत्र विचार न करके, अनुभव के द्वारा सत्य को जाने बिना ही उसे अक्षरशः ज्यों-का-त्यो मान लेना बुद्धि का कच्चापन है। आँख, वाणी, कान, बुद्धि आदि की ये कमजोरियाँ शान्ति, आनन्द, ज्ञान, अमरत्व, शक्ति, स्वतन्त्रता आदि की पूर्णता में बाधक है।

मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक हो सके अन्धविश्वास के वशीभूत न हो और अपने जीवन मे विचार एवं विवेक के द्वारा संशय-विपर्यय से रहित विचारात्मक विश्वास को लाने का प्रयत्न करे। इसी मे मानव-जीवन की सफलता एवं सार्थकता है।



# मैटेरियालिज़्म अर्थात् पूँजीवाद

विचार करके देखा जाय तो 'पूँजीवाद' को ही प्रकृतिवाद, जड़वाद, नास्तिकवाद, अनीश्वरवाद तथा चार्वाक-विरोचन मत भी कह सकते हैं। इस वाद का सिद्धान्त है—

'टका हि धर्मं टका हि कर्मं टका हि परमं पदम् ।
यस्य गृहे टका नास्ति, हा टका टकटकायते ॥'

जिनका धर्म, कर्म, मान, प्रतिष्ठा, ज्ञान, मोक्ष इत्यादि सब केवलमात्र पैसा ही है। जिनके लिये न तो राष्ट्र कोई वस्तु है और न समाज ही। चाहे राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, सारे मनुष्य भूख से मर जायँ, दरिद्रता व बेकारी मुँह फाड़े आ रही हो, पर जिन्हे इन बातों की कोई चिन्ता नही होती। येन-केन-प्रकारेण अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही जिनका लक्ष्य है और जो दूसरों को सान्त्वना देने के लिये इस प्रकार उपदेश दिया करते है – 'संसार स्वप्नवत् मिथ्या है, इसमे कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सभी कुछ नाशवान्, क्षणिक, मृगतृष्णा के जलवत् केवल प्रतीति मात्र ही है। यह शरीर भी पानी के बुलबुलेवत् है, पता नही किस समय फूँक निकल जाय। साथ न कुछ आया था और न कुछ जायेगा।'

'सुमिरन बिन गोते खायेगा !
क्या लेकर तू आया जगत् मे, क्या लेकर पुनि जायेगा ?
मुट्ठी बांधे आया था तू हाथ पसारे जायेगा ॥

यह तन है कागज की पुड़िया बून्द पड़त गल जायेगा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो फिर पीछे पछितायेगा ।।'

'केवल अपना किया हुआ कर्म, धर्म ईश्वर व उसकी भक्ति ही सार होने के कारण साथ देगे।' —आदि-आदि।

उनसे पूछना है कि ये सारी शिक्षाये किसके लिये है? क्या केवल दीन, हीन, दुःखियों, गरीबो और शूद्रो के लिये ही हैं? इन्ही लोगो ने तो पूर्व जन्मों में बहुत ही निषिद्ध व पाप कर्म किए है जिनके फलस्वरूप ये लोग दरिद्री व दुःखी हैं। इसीलिये धर्म व ईश्वर ने भी इन लोगों का साथ छोड़ दिया है। आज का धर्म व ईश्वर तो केवल पूँजीपतियो का ही रक्षक है, गरीबों का नही। इन बेचारो का तो यदि कोई रक्षक है तो वह केवल कर्म (परिश्रम) है।

ईश्वर व धर्म के विश्राम करने के लिये गरीब लोग तो लाखों-करोड़ो रुपये लगाकर विशाल मन्दिरो और सभाओं के रूप मे किले की दीवारें व ढाले खड़ी नही कर सकते। परन्तु ये किले व ढालें पहिले ही रक्षा कर सकती थी, आजकल तो वायुयान एवं बम के सामने ये क्या काम दे सकते है? इसलिये झूठे (कल्पित) ईश्वर व धर्म का भरोसा छोडकर उन्ही नास्तिक वैज्ञानिको की शरण लेनी चाहिये जिनमे ज्ञान व कर्म के रूप मे वास्तविक ईश्वर प्रत्यक्ष काम कर रहा है और जिनसे पूँजी-वाद की रक्षा सम्भव है। यदि ये लोग सच्चे धर्मात्मा व ईश्वर-वादी होते तो पूँजी, भौतिकता या प्रकृति से इतना प्रेम क्यों करते? तब तो वे इस लक्ष्मी के पति मनुष्य नारायण से ही प्रेम करते?

पूँजीपति मनुष्य नही हो सकता, वह मानवता का शत्रु है।

इसीलिए महात्मा लोग कहते है कि लक्ष्मी (पूँजी) की सवारी (वाहन) दो प्रकार की है- एक 'उल्लू', दूसरा 'गरुड़'। जब वह अपने पति (=नारायण=मनुष्य) के साथ होती है तो गरुड़ पर यात्रा करती है और जब अकेली होती है तो उल्लू (पूँजीपति) पर सवारी करती हैं। तात्पर्य यह है कि जो केवल माया (पूँजी) के ही पुजारी हैं, उनकी उदारता एवं सर्वहित की विचार-दृष्टि को नष्ट करके माया उन्हें उल्लू बना देती है। यद्यपि गरुड़ भी उल्लू की भाँति ही एक उडने वाला पक्षी है, किन्तु इन दोनों में यह अन्तर है कि गरुड़ तो दिन मे उड़ने व देखने वाला दिनचर पक्षी है तथा उल्लू रात्रि मे देखने व उड़ने वाला निशाचर पक्षी है।

उल्लू मे दो प्रकार की विशेषतायें भी हैं। एक तो वह सम्पूर्ण पक्षी जाति से पृथक् चमगादड़ों का साथी और दूसरे प्रकाश का शत्रु व अन्धकार का मित्र है। यही दोनों लक्षण माया के पुजारियों (पूँजीवादियों) मे भी घटते हैं। प्रथम तो सारे मनुष्यों से पृथक् होकर वे उन्ही व्यक्तियो से मित्रता करते हैं जो उन्हीं जैसी विचारधारा के होते है और दूसरे वे सर्वहित-दृष्टि-रूप सूर्य (ज्ञान) को त्यागकर व्यक्तिगत स्वार्थ रूपी अन्धकार मे ही विचरते है।

इसलिए पूँजीवादी विचारधारा का अनुयायी वेद, शास्त्र व ईश्वर का कट्टर शत्रु और घोर नास्तिक होता है। बड़े-बड़े मन्दिर, मसजिद व गिरजाघर बनवाना तथा धार्मिक एवं राज-नैतिक संस्थाओं को लाखो रुपये दान देना आस्तिकता का प्रमाण नहीं है। एक ओर तो भगवान् के असली प्राकृतिक मन्दिर को, जिसे ईश्वर ने स्वयं ही बनाकर उसमें अपनी प्रतिष्ठा की है, तिरस्कार पूर्वक उजाड़ देना और दूसरी ओर उसी भगवान् का

रक्त चूस-चूस कर लाखों-करोड़ों रुपये एकत्र कर-करके उन्हें व्यर्थ ही मिट्टी में मिला देना भला कैसी आस्तिकता है जो देश व समाज के लिए नाना प्रकार के संघर्ष एवं रक्तपात का ही कारण बन रही है ? इसी को लक्ष्य करके एक कवि कहता है—

'मन्दिर या मसजिद को तोड़े तो कुछ नही मुजायका है ।
दिल किसी का मत तोड़ यह तो घर खास खुदा का है ॥
मन्दिर मे तो बुत रहते है, मसजिद मे सफन सफाई है ।
दिल दरगाह के अन्दर झलकता बिल्कुल नूर खुदाई है ॥
क्या है वहाँ इन्सान के अन्दर एक रोशनी छाई है ।
कमती बढ़ती नजर न आती एक राई है ॥
जुल्म है जिसके दिल अन्दर वही शैतान रहता है ।
रहम है जिसके दिल अन्दर वही रहमान रहता है ॥
छोड़ जुलमत की न्यामत को बेहतर इससे फाका है ।
वहाँ छुड़ायेगा कौन, तेरा कोई बाबा और काका है ॥

वेद, शास्त्र और ईश्वर कही भी यह आज्ञा नही देते कि धन (पूँजी) के साथ प्रेम करो। यह धन जमा करने के लिये नही, सुगमतापूर्वक व्यवहार चलाने का एक साधन मात्र है जो कुछ ही दिनो के लिये मिला है। ईश्वर और वेद हमे क्या शिक्षा दे रहे है ? व्यक्तिगत राग, ममता और आसक्ति ही सारे बन्धनों, दुःखो एव जन्म-मृत्यु का एकमात्र मूल कारण है, अतः इनके वशीभूत नही होना चाहिए। इनका त्याग ही ईश्वर, मोक्ष व सुख-शान्ति-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। फिर नाना प्रकार की सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक संग्रह करने का यत्न किस आधार पर करते है ? क्या हमारे पूँजीपति भाई इस बात को नही देखते कि तालाब जल का संग्रह करता है तथा नदी हर समय अखण्ड प्रवाह से बहती रहती है, तथापि तालाब सूख कर कीचड़

हो जाता है और नदी सदा उसी प्रकार निर्मल जल प्रवाहित करती रहती है।

पेट यदि चाहे कि हाथ की सब कमाई मेरे ही भीतर जमा रहे, सारे शरीर को न पहुँचने दी जाय। अपने द्वारा संचित वस्तुओ को हाथ-पैर आदि को न देकर अपने भीतर ही संग्रह करे, तो ऐसा करने से क्या पेट की कोई भलाई हो सकती है? कदापि नही। जब तक पाचन-क्रिया के द्वारा समस्त शरीर को खुराक न बांट दे, तब तक पेट भी शक्तिशाली एवं पुष्ट नही बनेगा, क्योकि पेट भी तो समस्त शरीर का ही एक अङ्ग है। सारे शरीर को वितरण कर देने से ही पेट मे भी पाचन-क्रिया की शक्ति आती है।

इसी प्रकार सारे राष्ट्र व विश्व एक शरीर के सदृश्य है, कमाने वाले परिश्रमी लोग हाथ की भाँति है और पूँजीपति लोग पेट की तरह हैं। यदि पेट हाथ की दी हुई वस्तुओं को समस्त शरीर को न देकर केवल अपने अन्दर ही अवरुद्ध रखेगा तो समस्त शरीर तथा साथ ही पेटू साहब भी नष्ट हो जायेंगे। अजीर्ण हो जाने से शरीर व पेट दोनो को नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ेगे। प्रत्यक्ष ही आज सारे विश्व के पूँजीवादी अजीर्ण से अफरे हुए हैं जिसका परिणाम मनुष्यमात्र को भोगना पड़ रहा है और इलाज न हुआ तो आगे भी भोगना पड़ेगा। इसी कारण जब साम्यवादी चिकित्सक 'जुलाब' देना चाहते हैं, तो उसे न लेकर मूर्खतावश वे उन्हे अपना शत्रु समझ लेते हैं और कहने लगते हैं—'जुलाब मत दो, पेट फाड़कर गन्दगी साफ कर दो।'

क्या ऐसी विचारधारा को बुद्धिमानी कह सकते हैं? लक्ष्मी के वाहन उल्लू की भी ऐसी ही विचारधारा हुआ करती है।

अतः श्रीकृष्ण जी के निम्न वाक्य के ऊपर क्रियात्मक रूप से व्यवहार करने से ही अपनी और राष्ट्र की भलाई हो सकती है, अन्यथा भविष्य यह बतला रहा है कि विश्व की कोई भी शक्ति रक्षा नही करेगी--

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।।'

अर्थात् प्राणिमात्र के आत्मा को अपना समझो तथा उनके सुख व दुःख को भी अपने ही की भांति अनुभव करो।

जब किसी मनुष्य का देहान्त होने लगता है तो वह अपनी गुप्त पूंजी या अन्तिम उपदेश अपने परिवार को बता जाता है। उसी प्रकार उपरोक्त भगवदुक्त वाक्य सारे वेदों, शास्त्रो, पुराणो, स्मृतियों, कुरान, बाइबिल इत्यादि का सारभूत अन्तिम ज्ञान 'वेदान्त' है।

वेद ने अपना सारा आधिभौतिक व आध्यात्मिक ज्ञान बतलाते-बतलाते अन्त मे सारे कल्याण के सारभूत 'वेदान्त' का उपदेश किया जिसे मुसलमान लोग 'मार्फत' अर्थात् 'कल्याण का सर्वोत्तम व अन्तिम ज्ञान' तथा आंग्ल भाषा-भाषी ट्रुथ' कहते है। वेदान्त का सिद्धान्त बुद्धि तक ही सीमित नही है वरन् प्रयोग व आचरण मे आने वाला अकाट्य सिद्धान्त है। यदि कोई व्यक्ति इस ज्ञान के अनुसार आचरण या प्रयोग करेगा तो वह सुखी व शान्त हो जायेगा। यदि कोई समाज इसका अनुकरण करेगा तो वह भी सुखी हो जायेगा। यदि कोई राष्ट्र इस सिद्धांत का प्रयोग करेगा तो वह भी सुख व शान्ति के शिखर पर पहुँच जायेगा। यदि सम्पूर्ण विश्व इसके अनुसार आचरण करेगा तो भूख, बेकारी, नाना प्रकार के मनुष्यकृत दुःख, अशान्ति, पक्षपात,

कलह, विद्वेष तथा रक्तपात इत्यादि दीर्घ रोग जो समस्त दुःखों के कारण हैं, ये सब सदा के लिए समाप्त हो जायेंगे। इसके लिये वेदान्त निम्नोक्त प्रयोग बतला रहा है—

१—नाना प्रकार के सीमित पक्षपात, राग व ममता को सर्वदेशीय (विश्वव्यापी) बनाकर सब मे समता व ममता (अपने-पन) का व्यवहार करो।

२ - व्यक्तिगत स्वार्थ को विश्वव्यापी बनाकर अपने शरीर, सारी सम्पत्ति तथा कुटुम्ब-परिवार को ईश्वर अर्थात् सारे विश्व का समझो। सम्पूर्ण विश्व को अपना घर तथा समस्त मनुष्यों (प्राणिमात्र) को अपना परिवार समझो।

३—परिच्छिन्न देहाभिमानी को सर्वात्मा के पूर्ण में बदल दो।

४—स्वार्थ जन्य एकदेशीय प्रेम को, जो मोह का ही रूप है,—विश्व-प्रेम मे बदल दो।

५—मनुष्यमात्र की भलाई, उन्नति व सुख-शान्ति को अपनी ही समझो।

६—प्रत्येक संकीर्णता का त्याग करके सब से उदारता का व्यवहार करो।

७—आलस्य व प्रमाद का त्याग करके साहसी व पुरुषार्थी बनो।

८—केवल दूसरे का ही भरोसा छोड़कर अपने ऊपर विश्वास करो।

९—अपनी प्रत्येक शक्ति का दुरुपयोग न करके सदुपयोग करो।

१०—जो किसी भी बात में अपने से उत्कृष्ट, निपुण है, उनसे द्वेष मत करो, अपितु उनमे आत्मभावना करो।

११--अपने शरीर के दोषों को निकालने तथा दूसरे के गुणो को लेने का यत्न करो।

१२--परमेश्वर (=ईश्वरों का भी ईश्वर), महाप्रभु (प्रभुओ का भी प्रभु), सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा, महान् पवित्र, नित्यमुक्त व आनन्दमय आत्मा (अपने) को त्यागकर अपने से भिन्न किसी दूसरे देवी-देवता, ईश्वर, भूत, प्रेत इत्यादि पर विश्वास मत करो, -- क्योकि वेदान्त का कहना है--'हे मनुष्यरूप सर्वात्मन्! तू इस एक ही शरीर के भीतर सीमित नही है, आकाशवत् सब मे परिपूर्ण है। तू अपने आप को जान! समस्त वेद, शास्त्र, पुराण, कुरान, बाइबिल इत्यादि तेरी महिमा के गीत गा रहे हैं। तू ही समस्त धर्म-ग्रन्थो द्वारा प्रतिपाद्य 'सत्य' है।'

अब आप लोग विचार कीजिये कि इन उपदेशो मे कौन-सा उपदेश असम्भव है ? हाँ, कुछ कठिन तो अवश्य है। ये उपदेश किसी देश-विशेष, जाति विशेष, समाज विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के लिये नही, अपितु मानवमात्र के लिए है।

पूँजीपति भाइयो को चाहिये कि वे अपने देश की रक्षा व भलाई के लिये व्यक्तिगत मानी हुई सम्पत्ति से राग (आसक्ति) को हटा कर उसे 'सच्चे ईश्वर' (मनुष्यमात्र) की सेवा मे लगावे। यही सच्चा धर्म तथा सच्ची आस्तिकता है। अन्यथा पूँजीवाद तो मूर्तिमान् उल्लू का ही स्वरूप है। मैं अपने पूँजीपति भाइयों को दोष नही देता। यदि कोई मनुष्य किसी रोग से ग्रस्त हो जाय तो इसे रोगी का 'अपराध' नही कहा जा सकता। कोई भी रोगी किसी रोग को निमन्त्रण देकर नही बुलाता, किसी-न-किसी कारणवश रोग बलात् आ ही जाता है। जो सज्जन त्याग व सेवा का खूब ढोल पीटते है, उन्ही को यदि करोड़ो की सम्पत्ति का स्वामी बना दिया जाय, तो अवश्यमेव उनके समस्त

सद्‌भाव समाप्त हो जायेंगे और जिस रंग मे पूँजीपति रंगा हुआ है, वे भी उसी रंग मे रंग जायेंगे।

इसका तात्पर्य यह नही हो सकता कि सभी नेता सच्चे त्याग या सच्ची सेवा से रहित ही हुआ करते हैं। सर्वश्री लाल बहादुर शास्त्री, किदवई, सुभाष बाबू व भगतसिंह इत्यादि महानुभावो के त्याग को कौन नहीं जानता ? सर्वत्र सर्वथा ऐसा ही होता तो संसार के आधे से अधिक देशो में आज साम्यवाद का डंका ही क्यो बजता ?

प्रभावशाली, क्रान्तिकारी, सच्चे त्यागी व मानवमात्र के हितैषी नेता प्रायः निर्धन ही होते हैं। यह बहुत ही त्याग व साहस का काम है कि एक पूँजीपति अपनी सारी सम्पत्ति को राष्ट्र की समझता हुआ जनता की सेवा में लगा दे।

सम्पत्ति को एक रोग तथा सम्पत्तिशाली को एक रोगी ही समझिये। इसे प्राप्त करके अहंता, ममता व आसक्ति इत्यादि रोग अवश्यमेव लग जाया करते हैं। उदारता का भाव तभी तक रहा करता है जब तक कि पास ही कुछ नही होता, तथापि मनुष्य के लिये कोई भी बात असम्भव नहीं हो सकती।



# राष्ट्रीयता एवं नैतिकता

किसी भी राष्ट्र की बुनियादी शिक्षा ही राष्ट्र के संगठन, एकता, नैतिकता, राष्ट्रीयता (देशभक्ति), निर्भयता, शूरवीरता, चरित्र, समाज-सेवा, राष्ट्र एवं समाज के उत्थान, प्रकाश, विकास, अभ्युदय, सुख-शान्ति आदि का साधन व कारण बनती है। जिस राष्ट्र की शिक्षा अनैतिकता, फूट, कलह, चरित्र-हीनता, द्वेष, अशिष्टता, असभ्यता से सयुक्त है, वह देश कभी फल-फूल नही सकता। आदर्शरूप मे जापान को लीजिये। द्वितीय विश्व युद्ध मे वहाँ दो एटम बम भी पड़ चुके थे और सारा देश नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। किन्तु जापानियो की देश-भक्ति, संगठन और पुरुषार्थ ने पन्द्रह वर्षों के अन्दर ही अन्दर अपने देश को पहिले की अपेक्षा भी अधिक उन्नत और नाना प्रकार के कला-कौशल, सुख-समृद्धि से भरपूर कर दिया। इसका एकमात्र कारण यही है कि इन जापानियो मे देश-भक्ति एवं सच्चाई अधिक है।

इस सब का एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उनके यहां की प्रारम्भिक शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। जापानी शिक्षा-पद्धति इस प्रकार की है कि जब छोटे-छोटे बच्चे प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक विद्यालयो मे जाते हैं तो सर्वप्रथम उनके हृदयों को सच्चाई, अनुशासन, निर्भयता व देश-भक्ति के भावो से भर दिया जाता है जो जीवन भर के लिये उनके मन, बुद्धि, इन्द्रियो, नाड़ी, रक्त, मांस, हड्डी मे ओत-प्रोत

हो जाते हैं। वह कौन-सी शिक्षा है और कहाँ से प्रारम्भ होती है ?

सर्वप्रथम उन बच्चों से प्रश्न किया जाता है कि तुम्हारे माता-पिता और तुमने कहाँ जन्म लिया है ? बच्चे कहते हैं 'अपने देश जापान में !' दूसरा प्रश्न होता है कि तुम्हारा यह शरीर कहाँ के अन्न-जल, शाक-सब्जी और खाद्य पदार्थों को खा-पीकर बना है ? उत्तर होता है—'जापान के अन्न-जल से ही यह शरीर बना है।' 'वे सभी खाद्य पदार्थ किस भूमि मे पैदा होते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर होता है—'जापान की भूमि में !'

प्रश्न—इस प्रकार यह शरीर किसका हुआ ?

उत्तर—जापान का !

प्रश्न—क्या तुम जापान के लिए अपना शरीर व जीवन दे ?

उत्तर—देना क्या है, वह तो जापान का है ही !

यह तो देशभक्ति की शिक्षा हो गई। सच्चाई एवं संगठन की शिक्षा की उनको इसलिये आवश्यकता नही है कि उनके देश में झूठ और विघटन (फूट) है ही नही, अतः इनके निवारण के लिये शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। उनमे जन्म से ही किसी प्रकार के झूठ, कपट, बेईमानी, असली या नकली इत्यादि भ्रष्टाचार के संस्कार हैं ही नहीं, क्योंकि ये सब बातें वहाँ है ही नहीं। जब किसी प्रकार का झूठ ही नही तो उसकी निवृत्ति के लिए किसी शिक्षा की भी जरूरत नही है।

बाल-शिक्षा के पश्चात् जब यही विद्यार्थी बड़े होकर विश्व-विद्यालयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेशो मे जाते हैं, तो जिस जहाज में जाते हैं, उसमे सफाई, बेयरा आदि छोटे-छोटे कामों को करते हुए यात्रा-व्यय को बचाकर विदेशों मे पहुंचते है।

विदेशों में भी दिन मे किसी घर या बाग इत्यादि में मजदूरी का कार्य शुरू कर देते हैं और रात्रि मे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते है। इस प्रकार बड़े-बड़े इञ्जीनियर, डाक्टर, साइन्टिस्ट, प्रोफैसर आदि नाना प्रकार की विद्याओ में उत्तीर्ण होने के साथ-साथ ही अपनी जेबों को अमेरिकन डालरो से भर कर वे स्वदेश लौटते है।

यदि हमारे यहाँ का विद्यार्थी विदेश मे शिक्षा प्राप्त करने जायेगा तो हजारों रुपये तो जाने से पहले ही खर्च हो जायेंगे और जब वहाँ की शिक्षा प्राप्त करके आयेगा तो वहाँ से कोई-न-कोई लेडी साथ ले आयेगा। अपने देश में आकर वह इस प्रकार अकर्मण्य (पुरुषार्थहीन) बन जायेगा कि प्यास लगने पर अपने हाथ से उठाकर एक गिलास पानी पीने मे भी अपना अपमान समझेगा। तनिक विचारिये कि ऐसे लोग जब कार्य-क्षेत्र मे आते है तो उनसे राष्ट्र का क्या भला हो सकता है ?

भारतीय शिक्षा-पद्धति (एज्यूकेशन डिपार्टमैंट) मे विशेष प्रकार की एक कमी और है जिसके कारण अधिकांश भारतीय विद्यार्थी ऊँची-से-ऊँची कक्षाओ की डिग्री लेकर अर्थात् विश्व-विद्यालय से उत्तीर्ण होकर जब घर आते है तो नौकरी को ही खोज करते है। यदि नौकरी मिल गई तो सारी विद्या और परिश्रम सार्थक हो गया और न मिली तो बेकारी एवं अर्थाभाव के कारण ऐसी विकट समस्याये प्रायः सामने आ जाती हैं कि जिनसे परेशान होकर कितने ही तो अपने जीवन को भी समाप्त कर देते है। अधिकांश में ऐसी अकर्मण्यता व पुरुषार्थहीनता की प्रवृत्ति आ जाती है कि वे किसी भी प्रकार का काम करके योग-क्षेम का साधन नही जुटा पाते और अर्थाभाव के कारण जीवनभर परेशान रहते है।

यदि इन समस्याओं के कारणों की खोज की जाय तो पता चलता है कि भारतीय शिक्षा प्रयोगात्मक (प्रैक्टिकल) शिक्षा-दीक्षा नही है, वह केवल कहने और सुनने तक ही सीमित है। यहाँ की शिक्षा-दीक्षा प्रायः दस्तकारी (टैक्नालाजी) से रहित होती है। भारतीय सरकार एवं जनता को चाहिये कि यहाँ की शिक्षा-दीक्षा से अन्य कमियो के साथ-साथ इस कमी को भी निकालने का विशेष प्रयत्न करे और शिक्षा-पद्धति को सुधारे।

यहाँ हम जापानियो तथा भारतियों के कुछ तुलनात्मक चारित्रिक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है जिनसे पाठक स्वयं ही आवश्यक निष्कर्ष निकालने मे समर्थ हो सकेंगे।

एक बार एक जापानी जहाज जापान से अमेरिका जा रहा था। उस जहाज मे कुछ भारतीय थर्ड क्लास (तीसरे दर्जे) में जा रहे थे। इन लोगो के लिए अपने देश (भारत) के अनुसार भोजन की व्यवस्था न होने के कारण ये लोग भूखे थे। उसी जापानी जहाज मे कुछ जापानी विद्यार्थी भी विद्याध्ययन के लिये अमेरिका जा रहे थे। जब उन विद्यार्थियों को पता चला तो उन्होंने कुछ फल एव सूखे मेवे खरीद कर लाकर इन भारतियों को दिये। वे लोग इसी प्रकार नित्य प्रति मेवे और फल खरीद कर भारतीय विद्यार्थियों को देते रहे।

जब वह जहाज अमेरिका पहुंच गया तो ये भारतीय उन विद्यार्थियो को इन फल और मेवो का मूल्य देने लगे। उन्होने लेने मे इन्कार कर दिया और भारतियो से कहा कि यदि आप हमे कुछ देना ही चाहते हैं तो जो हम आप से मांगें, वही दीजिये। इतना कह कर उन्होंने मांगा कि आप लोग कहीं भी और किसी से भी यह न कहिये कि एक जापानी जहाज पर हम लोगो को खाने-पीने की तकलीफ हुई। जापानी विद्यार्थियो का

उस जहाज से कोई सम्बन्ध नही था. वह एक जापानी व्यापारी का रहा होगा। पर अपने देश की बदनामी न हो, इसीलिए विद्यार्थी होते हुए भी वे इन्हें अपने पास से पैसा खर्च करके खिलाते रहे।

एक भारतीय विद्यार्थी जापान मे इञ्जीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करने गया। उसने टोकियो विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से स्वाध्याय करने के लिए एक इञ्जीनियरिंग की पुस्तक ली। उस पुस्तक में बहुत-सी मशीनरियो की जानकारी थी एव चित्र बने हुए थे। चित्रो के विवरणो को तो उसने पढ लिया परन्तु आलस्य व प्रमाद के कारण उन की प्रतिलिपि न बना सका। उसने पुस्तक से तीन-चार मशीनो के चित्र फाड कर अपने पास रख लिये और पुस्तक पुस्तकालय मे जमा कर दी। तत्पश्चात् वह पुस्तक किसी अन्य विद्यार्थी ने ली तो उसमे उसे तीन-चार चित्र फाडकर निकाले हुए दिखाई पडे। उसने वह पुस्तक पुस्तकालयाध्यक्ष को दिखाई। खोज करने पर पता चला कि इसके पूर्व एक भारतीय विद्यार्थी इस पुस्तक को ले गया था। तब वहाँ एक नियम बना दिया गया कि आज से भारतियो को पुस्तकालय से पुस्तके नही दी जायेगी। क्या यह चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात नही है?

जापान में जब भी किसी प्रकार की कोई कान्फ्रैन्स या सम्मेलन आदि होते है तो उनमें लाखों की संख्या मे जनता एकत्रित होती है और वे लाइन में खड़े होकर भाषण सुनते है। इतनी जनता होते हुए भी वातावरण इतना शान्त होता है कि मानो वहाँ कोई है ही नही। एक बार वहाँ भाषण हो रहा था कि एक भारतीय भी पहुँच गया और लाइन तोड़कर आगे बढने की कोशिश करने लगा जिससे सभा मे कुछ खलबली मच गई।

व्याख्यानदाता ने तुरन्त ये वाक्य कहे—'मालूम होता है कि यहाँ कोई हिन्दुस्तानी आ गया है।' जब खोज की गई तो वास्तव मे वह भारतीय ही निकला। क्या यह भी चुल्लू भर पानी मे डूब मरने की बात नही है ?

हमारे भारतीय विद्यार्थी जब किसी भी प्रकार का आन्दोलन करेंगे, तो सारी ट्रेनो, बसो, सरकारी इमारतों, स्कूली फर्नीचर आदि को तोड़-फोड़कर आग लगा देंगे। जनता पर भी पथराव करेंगे। परीक्षा देते समय स्टिक, छुरे और रिवाल्वर तक साथ रखते हैं। यदि कोई निरीक्षक नकल करने से मना करे या पकड़े तो उसे जान से मार देंगे। इस प्रकार की हजारो घटनायें प्रति वर्ष होती ही रहती हैं। इन लोगो मे सभ्यता, शिष्टता, नैतिकता, सदाचार और देश-भक्ति आदि का नामोनिशान तक नहीं है। इन सभी बातो का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि इन लोगो की घरेलू एवं प्रारम्भिक शिक्षा मे सदाचार, नैतिकता, राष्ट्रीयता इत्यादि की शिक्षा का नितान्त अभाव है।

एक कारण और भी हो सकता है कि संगठन, नैतिकता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, अनुशासन, चरित्र, ईमानदारी, सच्चाई आदि मानव-समाज व राष्ट्र के हितैषी सद्गुणों की ओर हमारी वर्तमान सरकार का किंचित् मात्र भी ध्यान नही है। ध्यान तो तब दें जबकि ये सद्गुण स्वयं उन मे हो। राजनैतिक नेता स्वयं ही प्रलोभन या स्वार्थवश पाँच-पाँच, दस-दस बार दल-बदल करके कभी इस पार्टी मे तो कभी उस पार्टी में चले जाते हैं। उनका न कोई सिद्धान्त है और न उद्देश्य। उन पर केवल लोभ व कुर्सी का ही पागलपन सवार है।

भारत के अधिकांश प्रान्तो मे अपनी-अपनी खींचतान, स्वार्थ-परता, पक्षपात एवं फूट के कारण एक ही वर्ष के अन्दर कई-

कई सरकारें टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। कोई सरकार स्थाई स्थिर नही रहने पाती और न ही वह कोई जनहित का कार्य कर पाती है। अगर कोई सरकार कोई अच्छा कार्य करे भी, तो उसे ईर्ष्या, राग-द्वेष, पक्षपात एवं स्वार्थ के कारण दूसरी राजनैतिक पार्टियां एवं नेता तोडने की कोशिश करते हैं। मध्यावधि चुनाव से बनी हुई सरकार भी स्थिर नहीं रहने पाती। जिस शक्ति और समय को राष्ट्र के विकास-कार्यों में लगाना चाहिए था, उसी का नेतागण अधिकार एवं गद्दी के लिए दुरुपयोग कर रहे है।

राष्ट्रनायक अपनी ही स्वार्थपरता और फूट में उलझे हुए है। उनको यही पता नहीं कि राष्ट्र व समाज किस गड्ढे मे जा रहा है? इन्ही की स्वार्थपरता एवं फूट के कारण एक-एक प्रान्त कई-कई भागों में विभक्त होने से राष्ट्र छिन्न-भिन्न होता चला जा रहा है। इन्ही सब राष्ट्रीय त्रुटियों को देखकर विश्व के किसी भी राष्ट्र को इनके साथ सच्ची व हार्दिक सहानुभूति नहीं है। क्या ऐसे नेता देश का कुछ भला कर सकते है? आप ही सोच लीजिये।

इस समय भारत को श्री सुभाष बाबू, श्री बल्लभ भाई पटेल, क्रान्तिकारी भगतसिंह, राम मनोहर लोहिया, श्री लाल बहादुर शास्त्री एवं किदवई जैसे नेताओं की आवश्यकता है। जिस नेता में त्याग, बलिदान, सेवा-भाव, देशभक्ति और मनुष्य मात्र के साथ भ्रातृत्व प्रेम नहीं है, उस नेता से समाज को किसी भी प्रकार का लाभ नहीं पहुँच सकता। यदि आज इस प्रकार के देशभक्त, त्यागी, चरित्रवान्, उदार, निष्पक्ष, निस्वार्थ नेता होते तो भारत की ऐसी दुर्दशा ही न होती।

ब्रिटिश शासको के साथ महात्मा गांधी के मतभेद का कारण

यह नहीं था कि वे लोग विदेशी एवं विजातीय थे। मतभेद इस बात में था कि अंग्रेज भारत को अपना देश और भारतीय जनता को अपना भाई नहीं मानते थे। महात्मा जी ने उन से कहा कि आप भारत मे तभी रह सकते है जब आप इसे अपना देश एव भारतीय जनता को अपना भाई समझे। भारत में रह कर आप ब्रिटेन के सपने साकार नहीं कर सकते। यदि आप लोग यह कहे कि हम भारत को अपना देश एवं भारतीय जनता को अपना भाई मानते हैं, तो इसका प्रमाण देना होगा कि आपकी यह बात सत्य है या बनावटी ? इसका प्रमाण यही हो सकता है कि आप भारत में छः बाते पूरी करके दिखला दें —

१—सब के लिए भोजन अर्थात् कोई भी भूखा न रहे।

२—सब के लिए वस्त्र अर्थात् कोई भी नंगा न रहे।

३—सबके रहने के लिये अपना घर अर्थात् अनिकेत कोई न रहे।

४—सब के लिये विद्या अर्थात् कोई भी निरक्षर एवं अशिक्षित न रहे।

५—सब के लिये बीमारी मे औषध अर्थात् कोई भी रोगी औषध व उपचार के अभाव मे न मरे।

६—सब के लिये काम अर्थात् कोई बेकार न रहे।

इन छः बातो को ब्रिटिश सरकार पूरा न कर सकी, इसलिए भारत का शासन छोडकर उसे यहां से जाना पड़ा। गाँधी जी ने समझा था कि स्वतन्त्र हो जाने पर शासन-सत्ता भारतियो के हाथ में आ जाने से भारत की ये छः समस्याये हल हो जायेंगी। यह प्रश्न हो सकता है कि २४ साल से भारत स्वतन्त्र है और शासन भी भारतियो के ही हाथो मे है, पर इन छः समस्याओं मे

से अभी तक कौन-सी समस्या, कितने अंश में पूरी हुई ? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पूरी जनता के सामने है ।

हमारी राष्ट्र भक्ति का नमूना भी देखिये। एक प्रान्त में अधिक-से-अधिक दस या बारह मन्त्रियों से सुचारु रूप से काम चल सकता है। एक-एक विभाग का एक-एक मन्त्री पर्याप्त है। पर हर एक प्रान्त में चालीस-चालीस, पचास-पचास, साठ-साठ मन्त्रियों की पलटन है जिनके बेशुमार व्यय का भार यहाँ की गरीब जनता पर पड़ता है। राष्ट्र पहिले ही अन्य राष्ट्रो का अरबो, खरबो का ऋणी बन चुका है और उस पर भी यह शासन-व्यय ! नाना प्रकार के करों के द्वारा जो पैसा जनता से लिया जाता है, उसमे से राष्ट्र के विकास मे कितना लगता है और राज्य-सरकारों पर कितना खर्च होता है ? विचारवान् लोग यह सब भली प्रकार जानते है। राष्ट्र की आमदनी के केवल दो ही मार्ग रह गये है,— एक नाना प्रकार के कर और दूसरा विदेशों से ऋण। आय के अन्य सूत्र सूखते जा रहे है।

करोड़ों, अरबों रुपया खर्च करके अनेको सरकारी फैक्ट्रियाँ तथा प्रोजैक्ट्स बनकर पूरे हो गये है जिनमे बहुत पहले ही काम शुरू हो चुका है, तो भी उन्हें स्टेट बैंक आदि से ऋण लेकर स्टॉफ को वेतन देना पड़ रहा है। कई वर्ष शुरू हुए हो गये, पर इतना भी उत्पादन नही हो सका कि फैक्ट्री व स्टॉफ का खर्चा भी पूरा हो सके,—आमदनी तो दूर रही।

उपरोक्त के कारणों की खोज करने पर पता चलता है कि कर्मचारियो में राष्ट्रीय भावना न होने के कारण वे आठ घन्टे में दो घन्टे का काम भी नहीं करते। बैठे-बिठाये ही वेतन मिल जाता है तो काम करने की आवश्यकता भी क्या है ? यह शासन-विधान की त्रुटि है। दूसरे देशो मे इस प्रकार का राष्ट्र-विरोधी

विधान नहीं है। वहाँ तो घन्टो और उत्पादन के अनुपात से पैसा मिलता है। अगर इसी प्रकार का विधान हमारे भारत मे भी हो जाय तो देश की इतनी हानि न हो। हमारे देश में जितनी भी गिरावट, अनैतिकता, भ्रष्टाचार आदि राष्ट्र-विरोधी तत्व है, उनके कारणो की छानबीन करके देखा जाय तो अन्य कारणों के साथ-साथ प्रमुख कारण हमारे शासक एवं शासन-विधान की त्रुटियाँ ही है ।

ऐसे समय राष्ट्र की रक्षा तभी हो सकती है अर्थात् राष्ट्र को छिन्न-भिन्न एवं दिवालिया होने से तभी बचाया जा सकता है जब कि प्रान्त-भेद मिटाकर सभी राज्य-सरकारें समाप्त कर दी जायें। भारत एक और अखण्ड ही रहे। सारे भारत का संचालन एक केन्द्रीय सरकार द्वारा ही हो। कर्मचारियों को घन्टों और उत्पादन के अनुपात से साप्ताहिक वेतन दिया जाय, जैसा कि अन्य कई देशों मे है। सारे कर समाप्त करके केवल तीन कर रखे जायें— भूमि-कर, सम्पत्ति-कर एवं आय-कर।

प्रत्येक परिवार के लिए एक मकान, एक दुकान, एक किसान के लिये बीस बीघा कृषि-भूमि एवं मकान और एक लाख से अधिक सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिये। इस प्रकार विदेशी ऋण एक वर्ष में ही उतर जायेगा।



# रावण-रहस्य

'सत्यमेव जयते नानृतम् ।'

'सत्य प्रतिष्ठायाम् क्रियाफलाश्रयत्वम् ।'

समस्त वेदो, शास्त्रों, ग्रन्थो, ऋषियो, मुनियो ने और धर्मों या सम्प्रदायों आदि में राजनैतिक एव व्यावहारिक क्षेत्रों मे सबसे अधिक महत्व सत्य को दिया है, भले ही गुप्त एवं अज्ञात रूप से उसकी आलोचना, अवहेलना एवं तिरस्कार करके लोग उसे व्यावहारिक जीवन में न लायें अथवा भरसक विरोध करें। संसार मे जितने भी प्रकार का झूठ, कपट, छल-छिद्र चल रहा है उसका भी आधार सत्य एवं धर्म ही है। प्रमाणतः प्रगट रूप मे कोई भी अधर्म एवं झूठ को समाचार-पत्रो, व्याख्यानो एवं पुस्तकों मे प्रगट नही करता, अपितु अधर्म को भी धर्म के रूप मे, असत्य को भी सत्य के रूप मे ही प्रदर्शित करता है और तभी मानव-समाज उसे स्वीकार करता है।

यदि कोई प्रगट रूप मे यह घोषित कर दे कि हमारा सारा व्यवहार झूठा है, वस्तुएँ मिलावटी नकली हैं तो कोई भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा। मिलावट को खालिस और नकली को असली ही बताकर समाज में प्रचलित किया जाता है, क्योकि सत्य साक्षात् परमात्मा ही है। मानवमात्र को सब आरोपित एवं काल्पनिक शारीरिक तथा सांसारिक आदि-व्याधि, उपाधियो के छूट या नष्ट हो जाने की कोई चिन्ता नही करनी चाहिये।

ये सब तो विनाशी, आगमापायी, आने-जाने वाले, परिवर्तनशील, क्षणभंगुर है ही। पर सत्य तो सबका अपना आपा, आत्मा, ईश्वर, परमात्मा ही है। अन्य सबसे तो सम्बन्ध विच्छेद होने ही हैं, किन्तु सत्य का सम्बन्ध तो नित्य, अविनाशी है। अतः सत्य से सम्बन्ध-विच्छेद कदापि न होने दे।

जब तक सत्य मन, वाणी, पुस्तक आदि में ही सीमित रहता है, तब तक उसके अन्दर छिपे हुए स्वरूपभूत आनन्द एवं ज्ञान का प्राकट्य या प्रत्यक्ष नही होता। इसलिये मनुष्य इस आनन्द एवं ज्ञान का पूर्ण रूप से रसास्वाद नही कर पाता और जीवन मे अधूरापन बना रहता है। यदि हम लोग आनन्द, शान्ति, निर्भयता, ज्ञान, स्वतन्त्रता आदि अपने अभीष्ट को साकार रूप मे फलते-फूलते अनुभव करना चाहते हैं तो सत्य को व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न करें। मनुष्य के जीवन, विचार एवं ज्ञान को आवृत करने के लिये जितने भी दोष है, उनमें नाना प्रकार के पक्षपात एवं स्वार्थ ही प्रधान हैं। इसलिये यदि नेत्रों पर चढ़े साम्प्रदायिक, धार्मिक एवं व्यक्तिगत पक्षपातों के रंगीन चश्मों को उतार कर मनुष्य संसार को देखे तो जो वस्तु जैसी है, ज्यों-की-त्यों वैसी ही नजर आने लगेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार अब मैं रावण के जीवन पर कुछ विचार प्रकट करता हूँ।

यह विचार जो व्यक्त किया जा रहा है, मनगढन्त या शास्त्र-विरुद्ध नही है, अपितु रामायण (शास्त्र), युक्ति एवं अनुभव से संयुक्त है। तथापि इस लेख को नाना प्रकार के प्रमाणो से नही भरा जायेगा, जो प्रमाण चाहे वे रामायण आदि ग्रन्थों मे स्वयं देख लें।

सर्वप्रथम रावण को विद्वत्ता, भक्ति, चरित्र एवं कुलीनता पर [illegible] किया जाता है ताकि आप लोगो को पता चल जाय

कि रावण असुर था या देवता। विद्वत्ता के विषय में सबको ज्ञात ही है कि रावण चारो वेदो का प्रकाण्ड विद्वान् था। रावण-भाष्य अभी तक विद्वत् समाज मे प्रसिद्ध है, किन्तु अब यह ग्रन्थ अप्राप्य है, किसी प्राचीन पुस्तकालय मे उसका कुछ अंश पड़ा हो तो बात दूसरी है।

वह महर्षि पुलस्त्य के कुल मे जन्मा उच्चकोटि का कुलीन ब्राह्मण था। जिस समय भगवान् राम लका पर चढाई करने के लिये समुद्र के तट पर पहुँचे तो भगवान् शंकर की सहायता एवं आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये उन्होने रामेश्वर लिंग की प्राण-प्रतिष्ठा करने का निर्णय किया। तब खोज की गई कि शिव का अनन्य भक्त उच्चकोटि का विद्वान् कुलीन आचार्य कौन है? सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि वर्तमान मे सर्वोच्च कोटि का विद्वान् एवं शिव-भक्त आचार्य रावण है।

भगवान् ने पत्र देकर दूत को रावण के पास भेज दिया। श्री राम का पत्र मिलते ही रावण नि शक, निस्सन्देह राम के पास आने को तैयार हो गया। उसे शत्रुता तथा इन बातो का विचार तक नही आया कि राम इतनी विशाल सेना लेकर लंका पर आक्रमण करके मुझे मारने आये हुए है।

प्राण-प्रतिष्ठा होने से प्रथम यजमान राम ने वैदिक मर्यादा के अनुसार आचार्य रावण का पूजन किया और रावण ने राम को विजयी होने का आशीर्वाद दिया। श्रीराम ने आचार्य रावण को दक्षिणा देने का प्रस्ताव रखा तो रावण ने कहा कि तुम स्वयं ही बनवासी हो, मुझे क्या दे सकते हो? मैं ही तुम्हे विजयी होने का आशीर्वाद देता हूँ। बड़ी प्रसन्नता व उत्साह के साथ प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न करके और श्रीराम से विदा लेकर रावण अपनी राजधानी लंका मे वापिस चले गये।

यदि रावण नाना प्रकार के दूषित कर्मों से भ्रष्ट एवं चरित्र-हीन असुर होता तो भला भगवान् राम प्राण-प्रतिष्ठा के लिए दुष्ट राक्षस का वरण क्यो करते? इन सब बातों का विचार करने से ज्ञात होता है कि अनभिज्ञ एवं सर्वसाधारण लोग सत्य एवं तथ्य का विचार न करके केवल अपने संकीर्ण एवं दूषित विचारो का ही प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि नाना प्रकार के स्वार्थ एवं पक्षपात से आवृत है। वे मानवता, उदारता एवं विवेक से काम नही लेते।

रावण भगवान् शंकर का अनन्य भक्त था। वे सदा प्रगट एवं प्रत्यक्ष उसके साथ रहते थे। यदि रावण अधम, नीच, पापी, पामर, दुष्कर्मी, कुकर्मी होता तो भगवान् शंकर उसको प्रगट एवं प्रत्यक्ष दर्शन क्यो देते? क्या किसी कुकर्मी, अप-राधी को ईश्वर कोटि के देव विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि प्रत्यक्ष होकर दर्शन और वरदान देते तथा वार्तालाप आदि व्यवहार करते हैं?

रावण इतना ऊँचा चरित्रवान् था कि सीता को किसी विशेष कारण से हरण करके जब लंका में ले गया तो अशोक वाटिका (अतिथि गृह) मे स्थान दिया। अशोक वाटिका अ+शोक (=अशोक) अर्थात् शोक रहित बाग (पार्क) था जिसमें प्रवेश एवं निवास से किसी प्रकार का शोक नही रहता था। अशोक वाटिका नाना प्रकार के उत्तमोत्तम पुष्पो, वेलों, घासों, फलों, वृक्षों आदि से सुसज्जित एवं सुशोभित थी, जिस प्रकार कि वर्तमान का आनन्द गार्डन (मैसूर) सुशोभित है जहाँ बड़े-बड़े फिल्मी कलाकार शूटिंग करके चित्र लेते हैं।

सीता की परिचर्या, सेवा आदि के लिये त्रिजटा आदि कई दासियां नियुक्त की गई थी। उस समय लंका मे शृङ्गार की

परम्परा तीन चोटियों की थी, अभी तो लोग दो चोटियों से ही घबरा रहे है। यदि रावण में किसी भी प्रकार की दूषित भावना होती तो वह सीता के साथ बलात्कार कर सकता था, किन्तु उसने वार्तालाप के अतिरिक्त और कुछ नही किया। बातचीत का भी एक आध्यात्मिक रहस्य है। कहावत है कि यदि रावण सीता को बलात् स्पर्श करता तो भस्म हो जाता, इसी भय से सीता को छू नही सकता था। यदि यह बात सत्य है तो जिस समय रावण ने सीता का बलात् अपहरण किया, उसी समय भस्म क्यों नही हुआ ? सीता का हरण करने मे उसके मन मे किसी भी प्रकार का दूषित विचार था ही नही। उसके विचार परम पवित्र थे। वह यह बात जानता था कि विष्णु भगवान् के पार्षद जय के रूप मे मै जिनके साथ रहता था, वही माता लक्ष्मी अब इस रूप मे प्रगट हुई है।

सीता मे उसको मातृ भावना थी। इतना होने पर भी रावण के द्वारा जो सीता का अपहरण हुआ, वह सीता के ही कर्मों का फल था। जिस समय मारीच कचन-मृग के रूप में सीता के सामने से भागा तो सीता का मन राम को छोडकर मृग की तरफ क्यो चलायमान हुआ ? भगवान् राम लक्ष्मण को आज्ञा देकर गये थे कि सावधान रहना और सीता को छोड़कर कही न जाना। इस आज्ञा की अवहेलना करके सीता ने लक्ष्मण को वहाँ से जाने के लिये बाध्य किया।

लक्ष्मण जी जाने को तैयार नही हुए तो सीता ने उनके प्रति महान् कुत्सित कटु वाक्यो का प्रयोग किया। लक्ष्मण सीता को मातृवत् पूज्य मानते थे एवं निष्कलक निर्दोष थे। उनकी पवित्रता का ज्वलन्त उदाहरण यह है कि जिस समय भगवान् राम ने सीता के आभूषणो को लक्ष्मण के सामने रख कर उन्हें

पहिचानने के लिये कहा तो उन्होने उत्तर दिया—'प्रभो ! मैं माता जी के चरणो के ही आभूषण पहिचान सकता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि चरणो को छोड़कर कभी उनके शरीर के अन्य किसी भाग पर पडी ही नही।' ऐसे निर्दोष, शुद्ध, पवित्रात्मा, सन्त-शिरोमणि लक्ष्मण पर भी सीता ने दोषारोपण किया। यही तीन कुकर्म रावण के द्वारा उनका अपहरण होने में हेतु बने।

अब रावण के दस शीश होने पर विचार किया जाता है। रामलीला के समय भी रावण दस सिर वाला बनाया जाता है। सर्वसाधारण को इसका रहस्य ज्ञात नही है। शीश का अर्थ है मस्तिष्क, बुद्धि, दिमाग, ब्रेन। रावण इतना विद्वान् एवं बुद्धिमान् था कि उसमे दस विद्वानो जितना ज्ञान एवं विद्या थी। यदि साकार रूप में १० शीश माने जाये तो रावण की दिनचर्या उठना, बैठना, जागना, सोना आदि ही दूभर हो जाये। निष्पक्ष व्यक्ति ही यथातथ्य विचार कर सकता है। इस पर एक उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय भगवान् राम दण्डक वन मे पहुँचे तो वहाँ के ऋषियो ने इनका बडा स्वागत किया और इन्हे सभी आश्रमो को दिखाने एवं घुमाने ले गये। उन्होने आगे जाकर देखा कि एक जगह मनुष्यो की हड्डियो का ढेर लगा हुआ है। दण्डक वन रावण के राज्य में अपराधियो को दण्ड देने के लिये नियत एक विशेष वन था, इसीलिये इस वन का नाम दण्डक पड़ गया था।

इस वन में अलग से ऋषियो के आश्रम भी थे। श्रीराम जी ने किसी ऋषि से प्रश्न किया कि ये हड्डियाँ किसकी हैं ? उन्होने उत्तर दिया कि ये सभी हड्डियाँ यहाँ के निवासी ऋषियों की हैं। राम ने पूछा कि उनकी हड्डियाँ यहाँ पर कैसे एकत्र हो गयीं ? ऋषि बोले कि रावण के दूत, अनुचर, सैनिक यहाँ

घूमते रहते है। उन्होंने ही मार कर यत्र-तत्र छोड़ दी थीं। बाद में उन्ही लोगों ने इन हड्डियो को एकत्र कर दिया है। सम्भव है लका में किसी प्रयोगशाला में फासफोरस निकालने के लिए ही एकत्रित की गई हों।

भगवान् राम ने प्रश्न किया कि इसी वन में आप लोग भी निवास करते है। इन्ही को क्यों मारा और आप लोगों को क्यों छोड़ दिया ? ऋषियों ने उत्तर दिया कि यह केरल, आन्ध्र, मद्रास आदि दक्षिण भारत की सभी भूमि एवं जंगल रावण के राज्य के अन्तर्गत है। सुरक्षित होने के कारण उसने अपनी राजधानी समुद्र के मध्य स्थित लंका मे बनाई है। ये ऋषि-मुनि उसकी राज्य-सीमा में रहते हुए भी उसका विरोध करते थे एवं आपका पक्ष लेते थे, इसीलिये इन्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया है।

यदि कोई राष्ट्रद्रोही होता है तो उसे मृत्यु या आजन्म कारावास का दण्ड दिया जाता है। इस विधान के अनुसार रावण की पुलिस एव सैनिको ने इनको मृत्यु-दण्ड दिया। कुछ लोग वहाँ रहते हुए सन्त एवं महात्मा होने के कारण बिलकुल तटस्थ रहे। सन्त की दृष्टि में किसी भी प्रकार का राग-द्वेष, शत्रु-मित्र का भाव रहे तो वह सन्त या ऋषि ही नहीं हो सकता। उसकी तो सब में भगवद्, आत्म या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना होती है।

वर्तमान युग में भी जो सज्जन समाज में हर प्रकार के पक्ष-पात से मुक्त, केवल मानवता, सत्यता एवं धर्म को लेकर चलते है, उनको लोग बहुत आदर की दृष्टि से देखते है। वे सभी के हितैषी एवं शुभचिन्तक होने से समाज में सर्वप्रिय एवं विश्वास-

पात्र होते हैं। यदि परस्पर में किसी प्रकार की कोई समस्या उलझ जाती है तो उनके द्वारा न्याय कराया जाता है।

महर्षि नारद जब दैत्यों की सभा मे पहुँचते है तो उनका आदर, सत्कार, मान, सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा होती है और जब देवताओं की सभा में पहुंचते हैं तो वहाँ भी उनका आदर-सत्कार, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा होती है। ये दोनों ही नारद जी को अपना-अपना हितैषी, कल्याणकर्त्ता, पथ-प्रदर्शक, शुभचिन्तक और निष्पक्ष जानते एवं मानते है। उनमें गुण भी ऐसे ही हैं। ये सभी के हितैषी एव कल्याणकामी हैं, किसी का अहित नही चाहते। जो लोग उन्हें परस्पर लड़ाने-झगड़ाने, संघर्ष-वैमनस्य-फूट आदि उत्पन्न करके कलह कराने मे कारण मानते है, वे भ्रम में हैं। किसी भी अनन्य भगवद्भक्त महर्षि में ऐसा दोष कदापि नही हो सकता।

रावण के द्वारा सीता के हरण एवं राम-रावण युद्ध को प्राय. लोग केवल धार्मिक भावना से ही देखते, विचारते हैं, जब कि यह विषय शुद्ध व्यावहारिक एवं राजनैतिक है जिसे लोग विचारते तक नहीं है। क्या कोई भी राजा अपने ही राज्य के अन्दर किसी के द्वारा अपनी सगी बहिन के नाक-कान काटे जाना अर्थात् अपना घोर अपमान सहन कर सकता है? कदापि नही!

पचवटी मे रावण की सेना का शिविर (कैन्टोनमैन्ट) था और इस शिविर के सेनापति शूर्पणखा के भाई खर-दूषण ही थे। वहाँ निवास के लिये महल भी बना था जहाँ शूर्पणखा प्राय. रहती थी। उसी वन में राम-लक्ष्मण गए हुए थे। उस समय स्वयंवर की प्रथा थी ही, इसलिये रावण की बहिन कुमारी शूर्पणखा ने राम व लक्ष्मण की सुन्दरता एवं युवावस्था को देखकर उन्हें पति के रूप मे वरण करने का प्रस्ताव रखा। उस

प्रस्ताव को स्वीकार करना तो एक ओर रहा, उल्टे नाक-कान काटकर उसे अपमानित किया।

रामायण के प्रायः पाठक नाक-कान काटने व शूर्पणखा का सूप-नखा सीधा अर्थ लगा देते है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है। नाक-कान काटे जाने का तात्पर्य अपमानित करना है, जैसा कि आजकल भी प्रायः लोग अपनी व्यावहारिक बोलचाल मे कहा करते है कि तुमने हमारी 'नाक काट डाली' या 'नाक कट गई।' इसका तात्पर्य महान् अपमान करना है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम अथवा सन्त शिरोमणि श्री लक्ष्मण के द्वारा किसी अबला स्त्री के ऊपर हाथ उठाकर उसकी नाक कटना तो बहुत दूर की बात है, हाथ से छुआ जाना या दूषित दृष्टि से देख पाना भी असंभव है। लोग अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। शूर्पणखा का जो अर्थ प्रायः लोग लिया करते है, वह नही है। इसका तात्पर्य नख-शिख-पर्यन्त रूपवती अर्थात् सर्वाङ्ग-सुन्दरी है। कोई भी राजा अपनी बहिन का इस प्रकार अपमान और अपने ही राज्य की सीमा के अन्दर सहोदर भाइयो का मारा जाना कैसे सहन कर सकता है ? इन्ही सब कारणो से बाध्य होकर रावण ने सीता का बलात् अपहरण किया।

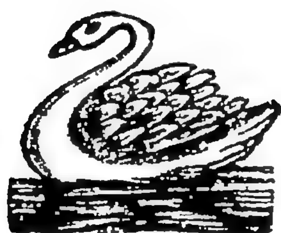
विष्णु, लक्ष्मी, जय-विजय एव वैकुण्ठ के आध्यात्मिक रहस्य के द्वारा यह ज्ञात हो जायेगा कि सीता के अपहरण, लंका मे निवास एवं रावण-सीता के परस्पर वाद-विवाद का आध्यात्मिक रहस्य क्या है ? भक्त, ज्ञानी, योगी का शुद्ध अन्त.करण ही वैकुण्ठ है। इसी वैकुण्ठ मे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा आत्मरूप से निवास करता है और सभी ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ एवं शक्तियाँ भी लक्ष्मी के रूप मे निवास करती है। अथवा शुद्ध अन्तःकरण को निश्चयात्मक या भगवद्-बुद्धि को ही लक्ष्मी कहते हैं।

विवेक एवं वैराग्य इस वैकुण्ठ के पार्षद (अंगरक्षक) हैं। जब जीवन-मुक्ति का विशेषानन्द एवं मस्ती रूपी सनकादि आते हैं, तो विवेक एवं वैराग्य रूपी पार्षद बाधक बनते हैं। इसलिये इनको श्राप दिया गया अर्थात् विवेक एवं वैराग्य का त्याग न करके इनमे अभिमान एवं आसक्ति करते है। ये दोनों अभिमान एवं आसक्ति भी मस्ती एवं आनन्द मे बाधक हैं, इसलिये इन को सनकादिको ने श्राप दे दिया कि तुम असुर अर्थात् सद्गुणों, सद्कर्मों से रहित हो जाओ। फलतः ये दोनों व्यवहार मे नाना प्रकार के छल, कपट, दम्भ, पाखण्ड, ब्लैक, घूसखोरी, मिलावट आदि विकृत ज्ञान के रूप मे और अध्यात्म में विकृत दाम्भिक त्याग, वैराग्य के रूप मे प्रगट हो गये।

भक्त एवं ज्ञानी की बुद्धि रूपी सीता से अभिमानरूपी रावण कहता है कि तू मुझे देख और मुझी से मिल। पर भगवदाकार एवं ब्रह्माकार वृत्तिरूपी सीता अभिमानरूपी रावण को अपना विषय नही बनाती। इसीलिये वह अशोक अर्थात् शोक-मोह से रहित वाटिका मे स्थित रहती है। फिर भी अनन्य भक्ति एवं ज्ञान का सूक्ष्म अभिमानरूपी रावण तो रहता ही है जिसे ईश्वर स्वयं ही समाप्त कर देता है।

जिस प्रकार एक सिक्के के दोनो पहलू मिलकर ही पूरा सिक्का होता है, इसी प्रकार मनुष्य का अग्र एवं पृष्ठ भाग दोनो ही मिलने पर पूर्ण मनुष्य होता है। यदि किसी भी एक भाग को हटा दिया जाय तो सिक्का एवं मनुष्य अधूरे ही रह जायेगे। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के जीवन, सारे संसार, समस्त इतिहासों एवं पुराणो के दो पहलू होते हैं—व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक, साकार एवं निराकार, सगुण एवं निर्गुण, स्थूल एवं सूक्ष्म, शब्दार्थ एवं भावार्थ। इनमे से दोनो को न लेकर

यदि एक ही भाग को ले लिया जायेगा तो उसका अधूरा ही अर्थ एवं फल हाथ लगेगा। इसलिये विचारवान् मनुष्य को चाहिये कि हर वस्तु के सांगोपांग दोनों ही अर्थों एवं भागों को लेते हुए विचार एवं व्यवहार करे ताकि मानव-जीवन का अधूरापन अर्थात् कमी समाप्त हो जाये और पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण सत्ता, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण अमृत, पूर्ण शक्ति का पूर्ण साम्राज्य हो जाय। यही मनुष्यमात्र का अभीष्ट है। इस रावण-रहस्य में मैंने जो कुछ भी स्वतन्त्रतापूर्वक निष्पक्ष होकर विचार व्यक्त किये है, वे परमहंस, अनन्य भक्त, जीवन-मुक्त, ज्ञानी आदि सच्चे सन्तों के ही दृष्टिकोण से उद्‌भूत हैं।



# विज्ञान एवं धर्म की समीक्षा

एक बार विश्व के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइन्सटीन से किसी व्यक्ति ने प्रश्न किया कि एक धार्मिक और वैज्ञानिक में क्या अन्तर है ?

आइन्सटीन ने उत्तर दिया कि अब लगभग पचास वर्षों से बड़े से बड़ा सफल वैज्ञानिक जो कुछ भी सोचता, विचारता एवं अनुसन्धान करके अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करता है, तो वह यह भली प्रकार समझता, जानता एवं मानता है कि जो चमत्कार मस्तिष्क मे स्थित यथार्थ ज्ञान के कारण अब हुआ है, वह पहिले से भी मस्तिष्क मे ही था। यदि नही था तो अब कहाँ से और कैसे प्रगट हुआ ? इसका बिल्कुल सीधा-सादा, सरल एवं सच्चा उत्तर यही है पहिले मस्तिष्क का स्विच ऑफ था जो अब ऑन हो गया।

जब कोई वैज्ञानिक अनुसन्धानशाला मे फार्मूला की जानकारी प्राप्त करने के लिये खोज करता है, उस समय वह शरीर और संसार को भूलकर इनसे ऊपर उठ जाता है। उसमे किसी भी प्रकार का अभिमान शेष नही रह जाता। मन अमन होकर शून्य हो जाता है। तब समझ लेना चाहिये कि मन रूपी स्विच ऑन हो गया है और बुद्धि के शक्ति-केन्द्र का अनन्त ज्ञान-सिन्धु के साथ सीधा सम्बन्ध या योग हो गया है। सामान्य सम्बन्ध तो हर समय ही रहता है। यथार्थ ज्ञान का यही फार्मूला प्रत्येक

वैज्ञानिक की सफलता का प्रधान कारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी सफल वैज्ञानिक मे मिथ्या अभिमान नहीं होता।

इसके विपरीत धार्मिक हर प्रकार के विचार, ज्ञान, विद्या, भक्ति, योग, सेवा, दान, तप, त्याग, परोपकार आदि मे अभिमान के पुल बाँधता है। वह निरभिमानता का प्रदर्शन तो हर बात मे करेगा, किन्तु उसके मन मे अभिमान का तूफान उठ रहा होता है। सर्वथा ऐसी बात नही है कि सभी धार्मिक अभिमानी ही होते है। कोई-कोई माई के लाल सच्चे धार्मिक और अहकार से शून्य भी होते है, किन्तु ऐसे महात्मा बहुत ही कम हैं। तात्पर्य है कि वैज्ञानिक को जो कुछ भी सफलता मिलती है, वह उसे ज्ञान व पुरुषार्थ का फल मानता है। धार्मिक के जीवन व व्यवहार मे प्रायः दम्भ, कपट, छल, स्वार्थ और अभिमान भरा रहता है।

ससार में आज तक के इतिहास की घोषणा है कि पृथ्वी पर जितने भी बड़े-से-बडे लडाई, संघर्ष, रक्तपात, अन्याय, अत्याचार, पापाचार, निर्दयता आदि अमानुषिक घोर पाप हुए है, वे सब धार्मिक लोगो के द्वारा ही हुए हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण पाकिस्तान विद्यमान् ही है। दोनो ओर की कितनी जन-धन की हानि हुई है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। अभी तक क्या हो रहा है? इसे सब जानते ही है। दूसरी ओर सारे विश्व मे मानव-समाज की सुख-सुविधा के जितने भी साधन उपलब्ध या विद्यमान् है, वे सभी वैज्ञानिको की देन है।

चाहे वैज्ञानिक हो या धार्मिक, जब वह विचार व ध्यान के क्षेत्र मे शरीर, संसार, स्वार्थ इच्छा और अभिमान से सर्वथा

ऊपर उठ अर्थात् बिल्कुल शून्य हो जाता है, तभी यथार्थ ज्ञान व पुरुषार्थ साधन के रूप मे उसे सफलता की उपलब्धि होती है।

जिस अज्ञात सत्य या स्रोत से प्रत्येक शक्ति व सिद्धि का मौलिक साधन यथार्थ ज्ञान मस्तिष्क में प्रकट होता है, उसी मूल स्रोत को 'धर्म' कहते हैं। इस प्रकार जो ज्ञान प्रकाशित होता है, उसी को 'विज्ञान' कहते हैं। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क मे वह ज्ञान प्रकट होता है, उसी को धार्मिक, वैज्ञानिक अथवा रिसर्च करने वाला ऋषि भी कह सकते है।



# जन्म, मृत्यु एवं अमरत्व का रहस्य

उपादान कारण के कार्य रूप मे प्रगट होने को 'जन्म' कहते है और उस कार्य के अपने उपादान मे लय हो जाने को 'मृत्यु' कहते है। जन्म मे कोई भी नई वस्तु कही से आ नही जाती और मृत्यु से किसी भी व्यक्ति या वस्तु का विनाश नहीं होता, केवल वर्तमान दशा का रूपान्तर होता रहता है।

यदि किसी व्यक्ति से प्रश्न किया जाय कि जन्म लेने से प्रथम आप कहां थे ? तो उत्तर मिलेगा—'माता के गर्भ में !'

प्रश्न—माता के गर्भ मे आने से प्रथम कहाँ थे ?

उत्तर—रज-वीर्य मे।

प्रश्न—रज-वीर्य से प्रथम कहाँ थे ?

उत्तर—खाने-पीने की वस्तुओ में।

प्रश्न– खाने-पीने की वस्तुओ से प्रथम कहाँ थे ?

उत्तर—पंचमहाभूतों मे !

प्रश्न—पंचमहाभूतो से प्रथम कहाँ थे ?

उत्तर—और कही नही थे, क्योकि व्यापक रूप से यही मेरा अर्थात् 'चेतनदेव' का वास्तविक निवास-स्थान है।

प्रश्न – चेतना से रहित २ मन वजनी मृतक शरीर को पांच मन लकड़ियो के साथ फूंक दिया तो अधिक-से-अधिक वीस किलो राख ही शेप रह जाती है। शेप सभी भार या वजन कहाँ गया ?

उत्तर—अपने-अपने कारण चार तत्वों में विलीन हो गया, केवल पृथ्वी का भाग राख के रूप में शेष पड़ा रह गया अर्थात् जो उपादान जहां से कार्य रूप मे व्यक्त हुआ था, वह फिर उसी में विलीन हो गया है।

इस प्रकार किसी भी वस्तु का विनाश नही होता, केवल रूपान्तर होता रहता है, क्योकि सब की सत्ता सत (अविनाशी) है। जो इस रूपान्तर को जानने या देखने वाली चेतन शक्ति है, वही अविनाशी है। इस प्रकार का ज्ञान ही जन्म-मृत्यु का वास्तविक विवेक है और यह विवेक होना ही जन्म-मृत्यु से मुक्त होना अर्थात् अमरत्व की प्राप्ति है।

